आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा

ĀYURVEDA SAMMATA GARBHAKĀLĪNA STRĪ-ROGA EVAṀ CIKITSĀ

(अथर्ववेद, बृहत्त्रयी एवं काश्यपसंहिता के विशेष आलोक में)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की

विद्यावारिधि (Doctor Of Philosophy) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

Thesis Submitted to the Jawaharlal Nehru University

In partial fulfilment of the Requirement for the Award of the Degree of

Doctor of Philosophy

शोधनिर्देशक

प्रो० सुधीर कुमार

शोधार्थिनी

खुशबू कुमारी

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली-110067

2021 ई०

RECOMMENDATION FORM FOR EVALUATION BY THE EXAMINER/S

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation/thesis titled आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा ★ (अथर्ववेद, बृहत्त्रयी एवं काश्यपसंहिता के विशेष आलोक में) submitted by Mr/Ms. KHUSHBOO KUMARI in partial fulfillment of the requirements for award of degree of M.Phil/M.Tech/Ph.D of Jawaharlal Nehru University, New Delhi, has not been previously submitted in part or in full for any other degree of this university or any other university/institution.

We recommend this thesis/dissertation be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of M.Phil/M.Tech./Ph.D.

Signature of Supervisor

Date: 05/08/2021

Dr. Sudhir Kumar Arya
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Signature of Dean/Chairperson

Date: 6/8/2021

Dean
School of Sanskrit & Indic Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

★ ĀYURVEDA SAMMATA GARBHAKĀLĪNA STRĪ-ROGA EVAṂ CIKITSĀ

School of Sanskrit and Indic Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi - 110067

Date…….

CERTIFICATE

This thesis entitled **"आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा (अथर्ववेद, बृहत्त्रयी एवं काश्यपसंहिता के विशेष आलोक में)"** Submitted by **Miss. Khushboo Kumari** to **School of Sanskrit and Indic Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067** for award of degree of **Doctor of Philosophy (Ph.D)** is an original work and has not been submitted so far in part or in full, for any other degree or diploma of any university or institution.

This may be placed the examiner for evaluation of award of the degree of Doctor of Philosophy.

PROF. SANTOSH KUMAR SHUKLA	**PROF. SUDHIR KUMAR**
(DEAN)	**(SUPERVISOR)**

School of Sanskrit and Indic Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi - 110067

Date …….

DECLARATION

I declare that the thesis entitled **"आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा (अथर्ववेद, बृहत्त्रयी एवं काश्यपसंहिता के विशेष आलोक में)"** submitted by me for the award of degree of **"DOCTOR OF PHILOSOPHY" (Ph.D)** is an original research work and has not been submitted so far in part or in full, for any other degree or diploma in any other institute or university.

KHUSHBOO KUMARI

Research Scholar

School of Sanskrit and Indic Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi-110067

मंगलाचरण

ॐ शंखं चक्रं जलौकां दधदमृतघटं चारुदोर्भिश्चतुर्भिः।

सूक्ष्मस्वच्छातिहृद्यांशुक परिविलसन्मौलिमम्भोजनेत्रम्॥

कालाम्भोदोज्ज्वलाङ्गं कटितटविलसच्चारूपीताम्बराढ्यम्।

वन्दे धन्वन्तरिं तं निखिलगदवनप्रौढ़दावाग्निलीलम्॥

आभार कथन

आयुर्वेदशास्त्र के ऋषिवर श्री धन्वन्तरि को सर्वप्रथम हृदय में ध्यान करते हुए अपने साध्य को पाने में सफल रही, अतः मैं आचार्यवर को प्रणाम करती हूँ। तत्पश्चात् जीवनप्रदाता, करूणाशील पूजनीय पिता श्री चन्द्रदेव महाराज, भ्राता श्री कन्हैया कुमार एवं चुन्नू कुँवर के चरणों में कोटि-कोटि नमन करती हूँ। पिता के आशीर्वाद, स्नेह, प्रेरणा एवं विश्वास के फलस्वरूप, आज मैं इस योग्य बन पायी हूँ कि उनके लिए दो शब्द लिखने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरे पितृतुल्य श्री शम्भु कुँवर जी एवं मातृतुल्य श्रीमती शिवाञ्जलि देवी जी को भी सादर नमन करते हुए आभार व्यक्त करती हूँ। इनके अथक विश्वास, स्नेह के कारण मैं अपना शोधकार्य सफलतापूर्वक सम्पूर्ण कर सकी।

इस अनुसंधान के प्रणयन में मैं सर्वाधिक ऋणी मेरे परम श्रद्धेय आचार्यवर सुधीर कुमार आर्य जी की हूँ, जिनके विशेष परामर्श, प्रोत्साहन तथा पितृतुल्य स्नेह के परिणामस्वरूप यह शोधकार्य सम्पन्न हो पाया है। उन्होंने एक पथप्रदर्शक की तरह सर्वदा मेरा मार्गदर्शन किया तथा समय-समय पर महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान की। उनकी भाषिक निपुणता, सत्य की पारदर्शिता तक पहुँचने की प्रेरणा, शोधपूर्ण दृष्टि एवं सकारात्मक विचार सदैव मेरे लिए अनुकरणीय हैं।

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष आचार्य संतोष कुमार शुक्ल जी की मैं कृतज्ञ हूँ तथा संस्थान के सभी सम्मानित गुरुजनों आचार्य गिरीश नाथ झा, आचार्य रामनाथ झा, आचार्य रजनीश कुमार मिश्र, आचार्य उपेन्द्र राव 'चौडूरि', आचार्य ब्रजेश कुमार पाण्डेय, सहायकाचार्य गोपाललाल मीणा, सहायकाचार्य टी. महेन्द्र, सहायकाचार्य हरिराम मिश्र, सहायकाचार्य विजेन्द्र कुमार, सहायकाचार्य प्रमोद कुमार शर्मा एवं सहायकाचार्य ज्योति जी का मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे शोधरूपी दृष्टि प्रदान करके शोधकार्य में विशिष्ट मार्गदर्शन प्रदान किया।

भारतीय ज्ञान परम्परा के वटवृक्ष ज्ञानकल्प गुरुवर कपिल कपूर तथा आचार्या शशिप्रभा कुमार जी का कोटिशः धन्यवाद। उनकी प्रेरणा सदैव मेरे लिए ज्ञानपिपासु के प्रवाह को गतिमान कर रही है। मेरे शोधप्रबन्ध में सर्वाधिक सहयोग विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली का (विशेष आभार), जिसके द्वारा प्रदत्त शोधवृत्ति (एन० एफ० ओ०) से यह शोधकार्य सम्पूर्ण हो पाया है।

तदन्तर संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के पुस्तकालय, भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर पुस्तकालय (जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय), महामहोपाध्याय पद्मश्री डॉ० मण्डन मिश्र पुस्तकालय (श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय), केन्द्रीय पुस्तकालय (केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) एवं केन्द्रीय पुस्तकालय (दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) के कर्मचारियों को भी सादर आभारव्यक्त करती हूँ। इनकी सहयोग से मेरा शोधकार्य सुलभता से सम्पन्न हो पाया।

इस शोधकार्य को परिष्कृत बनाने में सहायकाचार्य प्रदीप शास्त्री, (म०गाँ०अ०हि० वि०, वर्धा,) ने विचार-विमर्श के क्रम में अपने मूल्यवान सुझावों, अभिमतों और टिप्पणियों से निष्कर्ष तक पहुँचने में जो विशेष योगदान दिया, उनके प्रति मैं अपना सादर आभार प्रकट करती हूँ। इन्होंने प्रूफ रीडिंग में सहयोग प्रदान किया। मेरे मित्र सतीश कुमार जी की आभारी हूँ, इन्होंने शोधकार्य में समयान्तराल पर आयुर्वेद विषयक बिन्दुओं को सरलतया समझाने में मेरी सहायता की।

ज्येष्ठ भ्राताओं से जो स्नेह और प्यार मुझे मिला, उसे मैं शब्दों में निबद्ध नहीं कर सकती तथा साथ ही इन्होंने मेरे ऊपर विश्वास किया एवं मुझे आर्थिक एवं मानसिक रूप से मजबूती प्रदान करवाई एवं अपने शोधकार्य को सुलभता से सम्पन्न कर पायी हूँ।

इसी क्रम में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान के सभी कर्मचारियों का विशेषरूप से शबनम, मञ्जु, विकास, अरुण आदि कर्मचारियों का धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ, जो इस शोधकार्य हेतु प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं। अन्त में सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारक जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ, उनके प्रति कृतज्ञता निवेदन मेरा नैतिक दायित्व है, उनकी भी सदैव आभारी रहूँगी।

मुझे पूर्णतया विश्वास है कि टाईपिंग सम्बन्धी त्रुटियाँ कम से कम होगी, परन्तु शोधप्रबन्ध में होने वाली त्रुटियों के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अतः अपनी योग्यता, त्रुटियों और सीमाओं का मुझे आभास है। यह अनुसंधान शोधार्थियों के लिए पथप्रदर्शक के रूप में लाभप्रद होगा, यही परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करती हूँ।

विनयावनत

खुशबू कुमारी

विषयानुक्रमणिका

भूमिका 24-33

प्रथम अध्याय :- आयुर्वेदीय प्राग्जन्म संस्कार की अवधारणा। 34-63

1.1.1 संस्कार शब्द का निष्पत्ति एवं परिभाषा।

1.1.2 संस्कार के भेद।

1.1.3 सोलह संस्कारों का परिचय।

1.2.1 गर्भाधान संस्कार का अर्थ।

1.2.2 गर्भाधान स्थापन।

1.2.3 गर्भाधान संस्कार का पूर्वकर्म।

1.2.4 ऋतुकाल का आचार।

1.2.5 स्त्री-पुरुष समागम।

1.2.6 पुत्रेष्टि यज्ञ।

1.2.7 गर्भाधान निषेध।

1.2.8 गर्भाधान संस्कार।

1.2.9 सद्य गृहीतगर्भा के लक्षण।

1.2.10 गर्भ की पुष्टि।

1.3.1 पुंसवन संस्कार का अर्थ।

1.3.2 पुसंवन संस्कार।

1.4.1 सीमन्तोन्नयन संस्कार।

द्वितीय अध्याय :- आयुर्वेद में गर्भस्थ शिशु का मासानुमासिक विकास एवं गर्भिणी का सद्वृत्त। 64-94

2.1.1 प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप।

2.1.2 द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप।

2.1.3 तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.4 चतुर्थ मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.5 पञ्चम मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.6 षष्ठम मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.7 सप्तम मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.8 अष्टम मास में गर्भ का स्वरूप ।

2.1.9 नवम मास में प्रसव ।

2.2.1 गर्भिणी का आहार ।

2.2.2 प्रथम मास में गर्भिणी का आहार ।

2.2.3 द्वितीय मास में गर्भवती स्त्री का आहार ।

2.2.4 तृतीय मास में गर्भवती स्त्री का आहार ।

2.2.5 चतुर्थ मास में गर्भिणी का आहार ।

2.2.6 गर्भिणी के पञ्चम मास में गर्भिणी का आहार ।

2.2.7 षष्ठम मास में गर्भवती स्त्री का आहार ।

2.2.8 सप्तम मास में गर्भवती स्त्री का आहार ।

2.2.9 अष्टम मास में गर्भिणी का आहार ।

2.2.10 नवम मास में गर्भिणी का आहार ।

2.3.1 गर्भिणी का गर्भावस्था के अन्तर्गत विहार ।

2.3.2 व्यायाम ।

2.3.3 अभ्यंग ।

2.3.4 स्नान ।

2.3.5 वस्त्राभूषण ।

2.3.6 निवास स्थान ।

2.3.7 निद्रा ।

2.3.8 यात्रा ।

2.3.9 मैथुन ।

2.3.10 आतिथ्य का सत्कार ।

2.3.11 मानसिक स्थिति ।

2.4.1 गर्भिणी द्वारा वर्जित आहार-विहार ।

2.5.1 गर्भिणी पर वर्जित आहार-विहार का प्रभाव ।

तृतीय अध्याय :- आयुर्वेद सम्मत गर्भिणी के सामान्य रोगों का निदान एवं उपचार ।

95-162

3.1.1 रोग का सामान्य परिचय ।

3.1.2 चिकित्सा का सामान्य परिचय ।

3.2.1 गर्भिणी ज्वररोग ।

3.2.2 गर्भिणी ज्वर-निदान ।

3.2.3 ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.4 ज्वररोग में औषधी प्रयोग ।

3.2.5 वातज ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.6 पित्तज ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.7 कफज ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.8 कफपैत्तिक ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.9 कफवातिक ज्वरव्याधि का शमन ।

3.2.10 वातपित्तज ज्वरव्याधि का शमन ।

3.3.1 गर्भिणी पाण्डुरोग ।

3.3.2 पाण्डुरोग का निदान ।

3.3.3 पाण्डुरोग के भेद ।

3.3.4 वातज पाण्डुरोग ।

3.3.5 पाण्डुरोग का गर्भ पर प्रभाव ।

3.3.6 वातज पाण्डुरोग का उपचार ।

3.3.7 वातज पाण्डुरोग में पथ्य सेवन ।

3.3.8 पित्तज पाण्डुरोग का निदान एवं शमन ।

3.3.9 कफज पाण्डुरोग ।

3.3.10 सन्निपातज पाण्डुव्याधि ।

3.3.11 मृद्भक्षणजन्य पाण्डुव्याधि ।

3.4.1 गर्भिणी कामलारोग ।

3.4.2 कामलाव्याधि के भेद ।

3.4.3 कामलाव्याधि का शमन ।

3.5.1 गर्भिणी अतिसार रोग ।

3.5.2 अतिसार रोग के भेद ।

3.5.3 अतिसार रोग के निदान ।

3.5.4 वातज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार ।

3.5.5 पित्तज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार ।

3.5.6 कफज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार ।

3.5.7 सन्निपातज अतिसार का निदान एवं उपचार ।

3.5.8 आगन्तुक अतिसार रोग ।

3.6.1 गर्भिणी छर्दि रोग ।

3.6.2 छर्दि रोग के भेद ।

3.6.3 वातज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन ।

3.6.4 पित्तज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन ।

3.6.5 कफज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन।

3.6.6 सन्निपातज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन।

3.6.7 द्विष्टार्थसंयोगज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन।

3.7.1 गर्भिणी कास रोग।

3.7.2 कासव्याधि के भेद।

3.7.3 वातज कासव्याधि का निदान एवं शमन।

3.7.4 पित्तज कासव्याधि का निदान एवं शमन।

3.7.5 कफज कासव्याधि का निदान एवं शमन।

3.7.6 क्षतज कासव्याधि का निदान एवं शमन।

3.7.7 क्षयज कासव्याधि का निदान एवं शमन।

3.8.1 उदावर्त रोग का परिचय।

3.8.2 उदावर्त व्याधि का निदान एवं लक्षण।

3.8.3 उदावर्त व्याधि का उपचार।

3.8.4 उदावर्त व्याधि में पथ्य आहार-विहार।

3.9.1 आनाह व्याधि के निदान एवं लक्षण।

3.9.2 आनाह व्याधि का शमन।

चतुर्थ अध्याय :- आयुर्वेद सम्मत गर्भिणी के विशिष्ट रोगों का निदान। 163-207

4.1.1 गर्भस्राव/ गर्भपात का परिचय।

4.1.2 गर्भस्राव/गर्भपात की परिभाषा।

4.1.3 गर्भस्राव/गर्भपात का निदान।

4.1.4 गर्भजन्य हेतु।

4.1.5 गर्भस्राव में मातृजन्य हेतु।

4.1.6 गर्भस्राव में पितृजन्य हेतु ।

4.1.7 गर्भस्राव में दैवयोग या अज्ञात हेतु ।

4.1.8 गर्भिणी में गर्भस्राव/गर्भपातव्याधि के लक्षण ।

4.1.9 गर्भस्राव/ गर्भपात की सम्प्राप्ति ।

4.1.10 गर्भस्राव/गर्भपात के भेद ।

क. परिहार्य गर्भस्राव/गर्भपात ।

ख. अपरिहार्य गर्भपात ।

ग. अपूर्ण गर्भपात ।

घ. पूर्ण गर्भपात ।

ङ. लुप्त गर्भपात ।

च. प्रायिक गर्भपात ।

छ. अपराधिक गर्भपात ।

ज. पूति गर्भपात ।

झ. चिकित्सीय गर्भपात ।

4.1.11 गर्भस्राव/गर्भपात जनित उपद्रव ।

क. शोथ ।

ख. अपतानक ।

4.2.1 उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि का परिचय ।

4.2.2 उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि का निदान ।

4.2.3 उपविष्टक व्याधि के लक्षण ।

4.2.4 नागोदर व्याधि का निदान ।

4.2.5 नागोदर व्याधि के लक्षण ।

4.2.6 वाताधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण ।

4.2.7 पित्ताधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण ।

4.2.8 कफाधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण ।

4.2.9 नागोदर एवं उपविष्टक गर्भ का प्रसव काल ।

4.3.1 किक्किस व्याधि का परिचय ।

4.3.2 किक्किस व्याधि का निदान ।

4.3.3 गर्भिणी में किक्किस व्याधि के लक्षण ।

4.3.4 लीनगर्भ व्याधि का निदान एवं लक्षण ।

4.4.1 गर्भशोष का परिचय ।

4.4.2 गर्भिणी में गर्भशोष के निदान एवं लक्षण ।

4.5.1 गर्भक्षय व्याधि का परिचय ।

4.5.2 गर्भक्षय व्याधि का निदान एवं लक्षण ।

4.6.1 गर्भवृद्धि व्याधि का निदान एवं लक्षण ।

4.7.1 भूतहृतगर्भ व्याधि के निदान एवं लक्षण ।

4.8.1 मूढगर्भ व्याधि का परिचय ।

4.8.2 मूढगर्भ व्याधि का निदान ।

4.8.3 मूढगर्भ व्याधि के लक्षण ।

4.8.4 मूढगर्भ व्याधि के भेद ।

क. कील ।

ख. प्रतिखुर ।

ग. बीजक ।

घ. परिघ ।

4.9.1 मूढगर्भ का उपद्रव मक्कल व्याधि ।

4.9.2 गर्भ पर मक्कल्ल का प्रभाव ।

4.9.3 गर्भिणी पर मक्कल्ल का प्रभाव ।

4.10.1 मृतगर्भ व्याधि का परिचय ।

4.10.2 मृतगर्भ का निदान ।

4.10.3 मृतगर्भ व्याधि के लक्षण ।

4.10.4 मृतगर्भ की अवस्थाएँ ।

4.11.1 रक्तगुल्म व्याधि का परिचय ।

4.11.2 रक्तगुल्म व्याधि का निदान ।

क. रक्तगुल्म में गर्भवत् चेष्टा का कारण ।

ख. रक्तगुल्म में दौहृद का कारण ।

ग. रक्तगुल्म में स्तन्योत्पत्ति का कारण ।

घ. रक्तगुल्म में पाण्डुता का कारण ।

ङ. रक्तगुल्म में वृद्धि होने का कारण ।

च. रक्तगुल्म के स्वयमेव भेदन का कारण ।

4.11.3 रक्तगुल्म व्याधि की सम्प्राप्ति ।

4.11.4 रक्तगुल्म व्याधि का लक्षण।

4.11.5 रक्तगुल्म और गर्भ में अन्तर।

4.11.6 रक्तगुल्म का नैदानिक परीक्षण।

क. कोरियॉनिक गोनाडोट्राफिन का मात्रात्मक आकलन।

ख. एमनियोग्राम।

ग. क्ष-किरण परीक्षा।

घ. पराश्रव्य परीक्षण।

4.11.7 रक्तगुल्म व्याधि के भेद।

क. रक्तगुल्म या अंगूरीमोल।

ख. गर्भावस्थीय बीजपोषकस्तर के अर्बुद।

ग. बीजपोषक स्तर की अवशिष्ट व्याधि।

4.11.8 अपरागत प्रसवपूर्व रक्तस्राव रोग का परिचय।

4.12.1 अकाल प्रसव का परिचय।

4.12.2 अकाल प्रसव का निदान।

4.12.3 पूर्वकालिक प्रसव का निदान।

4.12.4 कालातीत प्रसव का निदान एवं लक्षण।

4.12.5 कालातीत प्रसव का गर्भ पर प्रभाव।

पञ्चम अध्याय :- आयुर्वेद सम्मत गर्भिणी के विशिष्ट रोगों का उपचार। 208-265

5.1.1 गर्भस्राव/गर्भपात रोग का उपचार।

5.1.2 पथ्य आहार का प्रयोग।

5.1.3 वर्जित आहार-विहार ।

5.1.4 गर्भपात के बाद की चिकित्सा ।

5.2.1 उपविष्टक एवं नागोदर रोग का शमन ।

5.2.2 पथ्य आहार-विहार का प्रयोग ।

5.2.3 वर्जित आहार-विहार ।

5.3.1 किक्किस व्याधि का शमन ।

5.3.2 पथ्य सद्वृत्त ।

5.4.1 लीनगर्भ व्याधि का शमन ।

5.4.2 पथ्य आहार का प्रयोग ।

5.5.1 गर्भशोष व्याधि का शमन ।

5.6.1 गर्भक्षय रोग का शमन ।

5.6.2 गर्भक्षय रोग में पथ्य सद्वृत्त ।

5.7.1 गर्भवृद्धि व्याधि का शमन।

5.7.2 गर्भवृद्धि रोग में पथ्य सद्वृत्त ।

5.8.1 भूतहृतगर्भ व्याधि का शमन ।

5.8.2 भूतों द्वारा गर्भ का हरण किए जाने की धारणा का खण्डन ।

5.8.3 मूढ़गर्भ व्याधि का शमन ।

5.8.4 मूढ़गर्भ का सामान्य शमन ।

5.8.5 जीवित मूढ़गर्भ की प्रसव विधि ।

5.8.6 दोषयुक्त मूढ़गर्भ व्याधि का शमन ।

5.8.7 वातिक मूढ़गर्भ का शमन ।

5.8.8 पैत्तिक मूढ़गर्भ का शमन ।

5.8.9 कफज मूढ़गर्भ का शमन ।

5.8.10 रक्तपित्तज मूढ़गर्भ का शमन ।

5.8.11 मूढ़गर्भ के उपचार में उपेक्षा का परिणाम ।

5.8.12 गर्भ-शल्योद्धरण में सावधानियाँ ।

5.8.13 शल्यकर्म के पूर्व भोजन का निषेध ।

5.8.14 गर्भ-शल्यकर्म से पूर्व पति की आज्ञा ।

5.8.15 गर्भ-शल्योद्धरण के समय गर्भिणी की स्थिति, हस्त-प्रवेश विधि ।

5.8.16 मूढ़गर्भ को हाथ द्वारा निकालने की विधि ।

5.8.17 प्रसव के समय गर्भिणी की अवस्था ।

5.8.18 मूढ़गर्भ की साध्यता-असाध्यता ।

5.8.19 शल्यकर्म योग्य मूढ़गर्भ ।

5.8.20 जीवित गर्भ के शल्यकर्म करने का परिणाम ।

5.8.21 मूढ़गर्भ का शल्यकर्म (ऑपरेशन) ।

5.8.22 मूढ़गर्भ की शस्त्र द्वारा छेदनविधि ।

5.8.23 मूढ़गर्भ में शल्यकर्म के पश्चात् कर्म ।

5.8.24 मूढ़गर्भ शल्योपचार के पश्चात् पथ्य आहार-विहार ।

5.8.25 मूढ़गर्भ का शल्यकर्मोपरान्त बलादि तैल का प्रयोग ।

5.8.26 शतपाक बलातैल ।

5.8.27 अतिबला, गुडूचि आदि से निर्मित तैल ।

5.8.28 मूढ़गर्भ में उदर-विपाटन ।

5.8.29 उदर-पाटन से पूर्वकर्म ।

5.8.30 उदर-पाटन में प्रधानकर्म ।

5.8.31 उदर-पाटन के पश्चात् कर्म ।

5.9.1 मक्कल रोग का शमन ।

5.10.1 मृतगर्भ का शमन ।

5.10.2 गर्भवती स्त्री के सुरक्षात्मक उपाय ।

5.11.1 रक्तगुल्म रोग का चिकित्सोपयोगी समय ।

5.11.2 प्रसवकाल से पूर्व रक्तस्राव होने पर शमन ।

5.11.3 रक्तगुल्म का विशिष्ट शमन ।

क. रक्तगुल्म की भेदन विधि ।

5.11.4 पीड़िता की चिकित्सा के पश्चात् देखभाल ।

5.11.5 रक्तगुल्म में पथ्य सद्वृत्त ।

उपसंहार। 266-274

आयुर्वेदीय पारिभाषिक शब्द। 275-280

परिशिष्ट सूची। 281

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची। 282-289

संकेताक्षर सूची

अ०को०	अमरकोश
अ०वे०	अथर्ववेद
अ०वे०शौ०शा०	अथर्ववेदीय शौनक शाखा
अ०सं०सू०	अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान
अ०सं०शा०	अष्टांगसंग्रह, शारीरस्थान
अ०सं०चि०	अष्टांगसंग्रह, चिकित्सास्थान
अ०सं०उ०	अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान
अ०सं०नि०	अष्टांगसंग्रह, निदानस्थान
अ०हृ०नि०	अष्टांगहृदय, निदानस्थान
अ०हृ०उ०	अष्टांगहृदय, उत्तरखण्ड
अ०हृ०शा०	अष्टाङ्गहृदय, शारीरस्थान
अ०हृ०चि०	अष्टांगहृदय, चिकित्सास्थान
अ०शा०	अभिशाकुन्तल
आ०प०	आयुर्वेद परिचय
आ०इ०	आयुर्वेद का इतिहास
आ०गर्भ०	आयुर्वेदीय गर्भाधान संस्कार
आ०प्र०त०	आयुर्वेदीय प्रसूति तन्त्र
आ०गृ०सू०	आपसतम्बगृह्यसूत्र
ऋ०वे०	ऋग्वेद
ऋ०भा०	ऋग्वेदभाष्य
का०सू०	कामसूत्र
का०सं०उ०	काश्यपसंहिता, उपोद्घात
का०सं०सू०	काश्यपसंहिता, सूत्रस्थान

का०सं०वि०	काश्यपसंहिता, विमानस्थान
का०सं०शा०	काश्यपसंहिता, शारीरस्थान
का०सं०क०	काश्यपसंहिता, कल्पस्थान
का०सं०क०रे०	काश्यपसंहिता, कल्पस्थान रेवतीकल्प
का०सं०खि०	काश्यपसंहिता, खिलस्थान
का०सं०खि०र०गु०	काश्यपसंहिता, खिलस्थान रक्तगुल्म
का०सं०खि०गु०चि०	काश्यपसंहिता, खिलस्थान गुल्मचिकित्साध्याय
गौ०ध०सू०	गौतमधर्मसूत्र
च०सं०सू०	चरकसंहिता, सूत्रस्थान
च०सं०शा०	चरकसंहिता, शारीरस्थान
च०सं०वि०	चरकसंहिता, विमानस्थान
च०सं०चि०	चरकसंहिता, चिकित्सास्थान
च०प०टी०	चरकपञ्जिकाटीका
तै०ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
म०पु०	मत्स्यपुराण
म०स्मृ०	मनुस्मृति
म०को०टी०	मधुकोश टीका
म०भा०आ०	महाभारत, आदिपर्व
म०भा०अनु०	महाभारत, अनुशासनपर्व
म०भा०शा०	महाभारत, शान्तिपर्व
मा०नि०	माधवनिदान
मे०को०	मेदनीकोश
वा० उ०	वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड
वि०ध०सू०	विष्णुधर्मसूत्र

वे०सू०भा०	वेदान्तसूत्रभाष्य
वै०श०सि०	वैद्यकशब्दसिन्धु
हा०सं०द्वि०	हारीतसंहिता, द्वितीयस्थान
हा०सं०तृ०	हारीतसंहिता, तृतीयस्थान
हा०सं०ष०	हारीतसंहिता, षष्ठस्थान
हि०सं०	हिन्दू संस्कार
पा०गृ०सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
प्र०त०	प्रसूति तन्त्र
बौ०गृ०सू०	बौधायनगृह्यसूत्र
ब्र०वै०पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
बृ०उप०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र०वै०पु०ब्र०	ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड
भा०प्र० पू०	भावप्रकाश, पूर्वखण्ड
भा०प्र०उ०	भावप्रकाश, उत्तरखण्ड
भे०सं०शा०	भेलसंहिता, शारीरस्थान
भे०सं०नि०	भेलसंहिता, निदानस्थान
या०स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो०र०स्त्री०चि०अ०	योगरत्नाकर, स्त्री चिकित्सा अध्याय
यो०र०गु०अ०	योगरत्नाकर, गुल्मरोग अध्याय
र०व०	रघुवंश
सा०वे०	सामवेद
सं०भा०	संस्कार भास्कर
सं०हि०श०को०	संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश
सु०सं०सू०	सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान
सु०सं०नि०	सुश्रुतसंहिता, निदानस्थान
सु०सं०उ०	सुश्रुतसंहिता, उत्तरखण्ड
सु०सं०चि०	सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान

सु०सं०शा०	सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान
स्म०दी०	स्मरदीपिका
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा०भा०	शाबरभाष्य
शा०सं०पू०	शाङ्गर्धरसंहिता, पूर्वखण्ड
शा०स०उ०	शाङ्र्धरसंहिता, उत्तरखण्ड

भूमिका

सृष्टि का उद्भव महाभूतों से हुआ है एवं इन्हीं महाभूतों से मनुष्य का निर्माण हुआ है। इन पञ्चमहाभूतों से ही त्रिविध दोषों की उत्पत्ति हुई है, जो सभी मानवों में उपस्थित होता है। वह दोषों के साम्य होने पर स्वस्थ, सुदृढ़, बलशाली होता है एवं प्रकुपित होने से व्याधियाँ पैदा होती है। व्याधियों का शमन करने के लिए एवं शारीरिक, मानसिकरूप से स्वस्थ मानव के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आयुर्वेद आधार-स्तम्भ के सदृश है। आयुर्वेद का उद्देश्य भी यही है- **"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।"**[1] आयुर्वेद में स्वस्थ मनुष्य उसे कहा गया है, जिसके तीनों दोष, अग्नि, धातु एवं मल क्रियाएँ अच्छी प्रकार से कार्य करती हैं एवं जिसकी इन्द्रियाँ, मन प्रसन्नचित होती हैं।

"समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥"[2]

आयुर्वेद की परिभाषा :- सर्वप्रथम प्रश्न उद्घाटित होता है कि आयुर्वेद किसे कहते हैं ? आयुर्वेदाचार्यों ने आयुर्वेद की परिभाषा देते हुए कहा है कि **"आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः"**[3] अर्थात् जिसमें जीवन से सम्बन्धित ज्ञान एवं लम्बी आयु जीने के उपायों की चर्चा होती है, उसे आयुर्वेद की संज्ञा देते हैं। चरक[4] ने आयुर्वेद की परिभाषा को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है- "जिसमें हितायु, अहितायु, सुखायु एवं दुःखायु इन चारों का विस्तृतरूप से विवेचन किया गया हो, उसके जीवन के लिए किस प्रकार का आहार, आचार हितकर अथवा अहितकर है, इसका विवेचन किया गया हो तथा आयु की अवधि बताई गई हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं।" डल्हण द्वारा आयुर्वेद को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि-

- **"आयुर्विद्यते विचार्यते अनेन इत्यायुर्वेदः।**

---

[1] *च०सं०*, शा० 30/27 ; इह खलु आयुर्वेदप्रयोजनं- व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च॥ *सु०सं०*, सू० 1/12

[2] *च०सं०,* 15/45

[3] *सु०सं०*, सू० 1/14 ; आयुर्वेदयतीति आयुर्वेदः। *च०सं०*, सू० 30/23 ; आयुर्जीवितमुच्यते। आयुरनेन ज्ञातेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः॥ *का०सं०*

[4] हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम। मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ *च०सं०*, सू० 1/41

❖ **आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते ज्ञायते अनेनेति आयुर्वेदः।**

❖ **आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः॥"**[5]

***अथर्ववेद* का उपवेद** :- विद्वानों ने वेदों के चार उपवेद स्वीकार किए हैं, इन उपवेदों में आयुर्वेद को *ऋग्वेद* का उपवेद स्वीकार किया जाता है परन्तु आयुर्वेदज्ञ[6] आयुर्वेद को स्पष्टतया *अथर्ववेद* का ही उपवेद मानते हैं, इसका कारण है कि *अथर्ववेद* में आयुर्विज्ञान विषयक सामग्री समुपलब्ध होती है।

अष्टांग आयुर्वेद :- आयुर्वेद के आचार्यों ने आयुर्वेद के आठ अंग माने हैं, क्योंकि मनुष्य की धीरे-धीरे आयु एवं बुद्धि क्षीण होती गई, इससे पहले यह एक बृहद् तन्त्ररूप में विद्यमान था। *चरकसंहिता* में सर्वप्रथम आठ अंगों का वर्णन समुपलब्ध होता है- **"तस्यायुर्वेदस्य अंगान्युष्टौ ; तद्यथा कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं, विषगरवैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं, वाजीकरणमिति।"**[7] आयुर्वेद के अन्य संहिताओं में भी इन्हीं अष्टांगों[8] का नामोल्लेख किया गया है, लेकिन कुछ ग्रन्थों में इनके नामों में परिवर्तन मिलता है। आधुनिक समय में आयुर्वेद के सभी अंगों पर ग्रन्थ समुपलब्ध नहीं होते। कुछ ग्रन्थ यदि समुपलब्ध होते भी हैं तो वह अपूर्णरूप में मिलते हैं। अतः आयुर्वेद के आठों अंग बृहत्त्रयी में समुपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संहिता भी मिलती है जैसे- *काश्यपसंहिता*, *हारीतसंहिता*, *भेलसंहिता* आदि। अतः आयुर्वेद के अंगों का सर्वप्रथम परिचय दिया जा रहा है-

कायचिकित्सा :- आयुर्वेद में 'काय' शब्द का अर्थ अग्नि है। काय चिकित्सा से तात्पर्य जठराग्नि का उपचार करने से है। आयुर्वेद की कायचिकित्सा नामक शाखा शरीर की मूलभूत ऊर्जा

---

[5] *सु०सं०*, सू० 1/14 पर निबन्धसंग्रहव्याख्या टीका

[6] तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। *च०सं०*, सू० 30/21 ;
इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य। *सु०सं०*, सू० 1/5 ; .....एवमेव खलु वेदनासु....आयुर्वेदमेवानुधावन्ति तस्माद् ब्रूमः- ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः॥ *का०सं०*, वि० 1

[7] *च०सं०*, सू० 30/28 ; परिशिष्ट-1

[8] ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं आलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति। *सू०सं०*, सू० ¼-5 ;
कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्। अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता॥ *अ०हृ०*, सू० 1/5

जठराग्नि पर ही मुख्यरूप से केन्द्रित है। यदि यह मूलभूत ऊर्जा साम्यावस्था में होगी, तब मनुष्य मोटापा या दुर्बलता आदि से पीड़ित नहीं होगा। उसके भार के साथ-साथ शरीर के रसायन, लवण एवं ग्रन्थिस्राव का संतुलन सही रहेगा। शरीर में उपस्थित जठराग्नि को ही पाचक अग्नि कहा जाता है। पाचक अग्नि का मन्द एवं अनियमित होने के कारण उत्पन्न रोगों का उपचार 'काय-चिकित्सा' कहलाता है। अतः इसके अन्तर्गत सभी व्याधियों का चिकित्सा एवं साम्य शामिल है। *सुश्रुतसंहिता* में कायचिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया है कि- **"कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वर रक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्॥"**[9]

शालाक्यतन्त्र :- जिस शास्त्र में कण्ठ एवं उसके ऊपर सिर और मुख, कान, नाक, गला आदि अंगों के विकारों की चिकित्सा की जाती है, वह शालाक्यतन्त्र कहलाता है, क्योंकि इसमें चिकित्सा प्रायशः शलाका की सहायता से होती थी। इसलिए इसे शालाक्यतन्त्र नाम से जानते हैं। एलोपैथिक चिकित्सीय विज्ञान में 'ENT' कहते हैं। सुश्रुत ने कहा है कि- **"शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवण-नयन-वदन-घ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्॥"**[10]

शल्यतन्त्र :- मनुष्य का किसी शस्त्र या यन्त्र द्वारा किया गया उपचार, शल्य तन्त्र कहलाता है। अतः इसमें भाला, बर्छी, तलवार, बाण आदि शस्त्रों के प्रहार होने पर, शरीर पर चोट लगने या घाव आदि होने पर जो उपचार किया जाता है, वह इसी शाखा के अन्तर्गत आता है। इसकी चिकित्सा में अग्नि, क्षार, औषध, शस्त्र, यन्त्र एवं पथ्य सभी साधनों का प्रयोग किया जाता है।

सुश्रुतसंहिता में अष्टांगों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि- **"शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधाव्रणविनिश्चयार्थं च॥"**[11]

---

[9] *सु०सं०*, सू० 1/3

[10] *सु०सं०*, सू० 1/2

[11] *सु०सं०*, सू० 1/1

अगद तन्त्र :- जिसमें विविध प्रकार के विषों की पहचान की जाती है तथा विष से पीड़ित रोगी की चिकित्सा की जाती है, वह अगद तन्त्र कहलाता है। इस तन्त्र में स्थावर, जांगम एवं संयोगज विष की चिकित्सा होती है। *सुश्रुतसंहिता* में वर्णित है कि- **"अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादष्टविध-व्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च।"**[12]

भूतविद्या :- आयुर्वेदशास्त्र में देव, गन्धर्व, असुर, राक्षस, यक्ष, पिशाच, ग्रह आदि नामों का प्रयोग विविध जीवाणुओं एवं विषाणुओं के लिए किया गया है, जो विविध रोगों को पैदा करने वाले हेतु हैं। इनके कारण शरीर पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को कम करने के लिए हवन, दान, बलिकर्म, शान्तिकर्म आदि द्वारा रोगोपनयन किया जाता है, वह भूतविद्या के अन्तर्गत आता है।

इस तन्त्र के अन्तर्गत मानसिक रोग आते हैं। इसके द्वारा पैदा हुई व्याधियों में रस्सी से बाँधना, आवेशन, मारना, नाक में औषध डालना, धुँआ करना आदि उपचार शामिल हैं, जिनको केवल प्रशिक्षित वैद्य ही कर सकता है। सुश्रुत ने अष्टांगों को परिलक्षित करते हुए कहा है कि- **"भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद् उपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि-ग्रहोपशमनार्थम्।"**[13]

रसायन तन्त्र :- जिसमें रस, रक्तादि धातुओं में वृद्धि होने के कारण मन में उत्साह-उल्लास उत्पन्न होता है, शरीर, इन्द्रियों और दाँतों में मजबूती आती है, त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ना, कम आयु में केशों का श्वेत होना एवं गंजेपन से रक्षा होती है तथा बुद्धि और आयु की वृद्धि होती है। इसे रसायन चिकित्सा कहते हैं। इससे शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायता मिलती है।

सुश्रुतसंहिता में अष्टांगों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि- "**रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।"**[14]

वाजीकरण :- जिसमें शुक्र की गुणवत्ता और मात्रा को बढ़ाने में सहायता मिलती है, 'वाजीकरण' तन्त्र कहलाता हैं। इसके द्वारा शुक्र की कमी, सूखापन, दूषितपन, क्षीणता आदि

---

[12] *सु०सं०*, सू० 1/6

[13] *सु०सं०*, सू० 1/4

[14] *सु०सं०*, सू० 1/7

दूर कर शुक्र की मात्रा में वृद्धि करके पोषण, जननेन्द्रिय की शक्ति में वृद्धि की जाती है। अतः इसे वाजीकरण तन्त्र की संज्ञा दी जाती है। सुश्रुत ने अष्टांगों को लक्षित करते हुए कहा है कि- **"वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्ट-क्षीण-विशुष्करेत-सामाप्यायन-प्रसादोपचय-जननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च।"**[15]

कौमारभृत्य :- जिस शास्त्र में गर्भावस्था के अन्तर्गत गर्भिणी के स्वास्थ्य की रक्षा तथा उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन, प्रसवोपरान्त नवजात शिशु से सम्बन्धित सम्यक् देखभाल एवं चिकित्सा की जाती है, 'कौमारभृत्य' तन्त्र कहलाता है। सुश्रुत ने कौमारभृत्य के सन्दर्भ में कहा है कि- **"कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोभनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।"**[16] अर्थात् जिसमें शिशु का पालन पोषण, धाय के दूध में दोषों का शमन, दूषित दूध एवं ग्रहों से पैदा होने वाले व्याधियों का वर्णन हो, उसे कौमारभृत्य कहते हैं। आधुनिक चिकित्सक इसे 'बालचिकित्साविज्ञान' कहते हैं।

यह आश्चर्य होता है कि जिस संस्कृति में **'मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं बलवृद्धये'**[17] जैसे चिरनवीन विज्ञान के अनुसार सन्देश दिए गए हो, उस समाज में शिशु के स्तनपान के लिए एवं देखभाल के लिए दाई रखने की प्रथा कैसे प्रचलित थी। इसका अभिप्राय यह है कि जब स्त्री किसी शिशु को जन्म देती थी तब उसके चुचुकों से तीन या चार दिन बाद ही दूध निकलता था। अतः उस अन्तराल में केवल दाई माँ ही दूध पिलाती थी।

डल्हण ने स्पष्टतया कहा है कि- **"कुमाराः बालाः, तेषां धृतिर्धारणं पोषणं च, तस्या भृत्या इदं तन्त्रमिति कौमारभृत्यम्।"**[18] अतः कौमारभृत्य के अन्तर्गत स्त्री को होने वाली व्याधियों की चिकित्सा की जाती थी।

'स्त्री-रोगविज्ञान' चिकित्साशास्त्र की वह शाखा है, जिसमें स्त्रियों को विशेषतया प्रजनन के अन्तर्गत होने वाले रोग, स्त्री की अन्तःस्राविकी एवं पुनः उत्पादन से सम्बन्धित

---

[15] *सु०सं०*, सू० 1/8

[16] *सु०सं०*, सू० 1/5 ; कुमाराः बालाः, तेषां धृतिर्धारणं पोषणं च। तस्या भृत्या इदं तन्त्रमिति कौमारभृत्यम्। *सु०सं०*, सू० 1/5 पर निबन्धसंग्रहव्याख्या टीका

[17] *वा० उ०* 1/15

[18] *सु०सं०*, सू० 1/5 पर डल्हण की *निबन्धसंग्रहव्याख्या* टीका

रोग आते है। आधुनिक समय में इसे **'Gynaecology'** कहते हैं। आयुर्वेदीय संहिताओं में इसे योनिव्यापद् कहा जाता है। इसके अन्तर्गत स्त्रियों के प्रजननतन्त्र या गर्भाशय एवं योनि में होने वाले रोगों का अध्ययन किया जाता है। अतः कौमारभृत्य तथा प्रसूतितन्त्र की विषयवस्तु का विस्तृत भाग 'स्त्रीरोग-विज्ञान' का ही एक अंग माना जाता है।

वस्तुतः कौमारभृत्य का वर्णन सभी आयुर्वेदीय संहिताओ में प्राप्त होता है। परन्तु इस तन्त्र का प्रमुख ग्रन्थ *काश्यपसंहिता* है, जोकि वर्तमान समय में अपूर्ण है। इस संहिता में शिशु की उत्पत्ति, रोगोत्पादक हेतु, लक्षण आदि निदान, व्याधि, उपचार, ग्रहादि का निषेध एवं उससे सम्बन्धित गर्भिणी और दुष्प्रसवा तथा धाय आदि के दोषों के निवारण से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है। अतः इस ग्रंथ में आदि से लेकर अन्त तक मिलने वाले कौमारभृत्य विषय के समुपलब्ध भाग के समान, अपूर्ण भाग में भी तन्त्र की सम्भावना होने के कारण ग्रन्थ का विषय सर्वाङ्ग सम्पन्न कौमारभृत्य ही है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर पुष्पिका में बताया गया है-

"कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्युच्यते।

कौमारभृत्यमतिवर्धममेतदुक्तम्। कौमारभृत्ये ॥"[19]

कौमारभृत्य की आचार्य परम्परा :- इस तन्त्र के विषय में प्राचीन *नावनीतक* नामक ग्रन्थ में कश्यप एवं जीवक का नामोल्लेख सहित औषध प्रयोग का वर्णन मिलता है। *अष्टाङ्गहृदय* के उत्तरस्थान में कौमारभृत्य विषयक तीन अध्यायों में कश्यप नाम से उद्धृत दाँतों के रोग, भैषज्य तथा ग्रहों का शमन करने वाली दशाङ्गधूप का वर्णन है एवं *काश्यपसंहिता* में स्तन्यदोष आदि के मिलने से यह प्रतीत होता है कि ये दोनों रचनाकार कौमारभृत्य के विषय में इसे प्रामाणिक स्वीकार करते हैं। *सुश्रुतसंहिता* के कौमारभृत्य सन्दर्भ में वर्णन किया गया है कि- **"ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतुभिः।"** डल्हण टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि **"पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिः"** अर्थात् पार्वत, जीवक एवं बन्धक आदि आचार्य कौमारभृत्य की परम्परा में शामिल थे। डल्हण द्वारा उल्लिखित कौमारभृत्य के तीनों आचार्यों में केवल दो आचार्यों के नाम ही शेष बचे हुए हैं, लेकिन इस ग्रन्थ के मिलने से जीवक का पुनः नाम प्राप्त होता है। अतः उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि इस तन्त्र के

[19] *का०सं०*, पृ० 61, 92, 145

विविध आचार्य हुए हैं एवं कश्यप के भी अन्य पूर्ववर्ती आचार्य हुए हैं। इस तन्त्र के सन्दर्भ में प्रमुख आचार्य कश्यप है, यह भी ज्ञात होता है।

शरीरोत्पत्ति :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों[20] में शरीर का आधार दोष, धातु एवं मल को स्वीकार किया गया है, इन तत्त्वों से शरीर का उद्भव, स्थिति तथा विनाश सम्भव है। शरीर की उत्पत्ति महाभूतों और आत्मा के संयोग से होती है। *चरकसंहिता* में शरीरोत्पत्ति को विवेचित करते हुए कहा गया है-

"शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।"[21]

शरीर वृद्धि को प्राप्त करके मानव क्रमशः शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था में जाता है। मनुष्य का शरीर धातुओं के साम्यावस्था में रहने पर स्वस्थ रहता है, परन्तु जब शरीर में धातुएँ वैषम्यता को धारण कर लेती है तब शरीर व्याधि से ग्रसित होकर मृत हो जाती है। धातुओं की विषमता एक अंग या सम्पूर्ण में हो सकती है अर्थात् धातुएँ देह के किसी भी विशेष अंग या सम्पूर्ण शरीर में विषमता पैदा कर सकती है। अतः आयुर्वेदज्ञों ने शरीर में वात-पित-कफ तीन दोष[22], रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र सात धातु[23] एवं पुरीष, मूत्र तथा स्वेदादि मल[24] को स्वीकृत किए हैं। इन्हीं दोष-धातु-मलों के वैषम्य होने से गर्भिणी में अनेक सामान्य एवं विशिष्ट व्याधियाँ हो जाती हैं, जिनका उपचार करना आवश्यक है।

अतः प्रस्तुत शोधप्रबन्ध **"आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा (अथर्ववेद, बृहत्त्रयी एवं काश्यपसंहिता के विशेष आलोक में)"** में गर्भावस्था के अन्तर्गत

---

[20] दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्। *सु०सं०*, सू० 15/3 ; दोषधातुमूलमला सदा देहस्य॥ *अ०हृ०*, सू० 11/1
शरीरश्च दोषधातुमलसमुदायः। *अ०सं०*

[21] *च०सं०*, शा० 6/3

[22] वायुः पित्तः कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः। *च०सं०*, सू 1/5 ; वातपित्तश्लेष्माण एअ देह सम्भवहेतवः। *सु०सं०*, सू० 21/3
वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषः समासतः। *अ०हृ०*, सू० 1/6 ;

[23] धातवो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि। *सु०सं०*, सू० 5/21 ; रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः॥ *अ०हृ०*, सू० 1/13

[24] किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः॥ *च०सं०*, चि० 15/15 ;
मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च । *अ०हृ०*, सू० 1/13

गर्भवती स्त्री को होने वाली व्याधियों का पर्यालोचन किया गया है। अतः शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। इनका साररूप में वर्णन अधोलिखित है-

इस शोधप्रबन्ध के **"प्रथम अध्याय"** में आयुर्वेदीय गर्भाधान संस्कार का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम संस्कार शब्द का अर्थ, निष्पत्ति बताते हुए सोलह संस्कारों का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त गर्भाधान संस्कार का अर्थ, गर्भाधान से पहले कर्म, ऋतुकाल में आचार, स्त्री-पुरुष का समागम, पुत्रेष्टि यज्ञ, गर्भाधान के लिए निषेध स्त्री, गर्भ पुष्टि के लक्षण आदि को परिलक्षित किया गया है। तदनन्तर पुसंवन् संस्कार का अर्थ स्पष्ट करते हुए पुसंवन् प्रक्रिया का वर्णन किया गया है एवं अध्याय के अन्त में सीमन्तोन्नयन संस्कार को स्पष्टतया वर्णन किया गया है। अतः इस अध्याय में शिशु के जन्म से पूर्व होने वाले संस्कारों को व्याख्यायित किया गया है।

"द्वितीय अध्याय" में गर्भिणी के मासानुमासिक वृद्धि एवं विकास को विवेचित किया गया है। आयुर्वेदानुसार प्रत्येक मास में गर्भ का स्वरूप भिन्न-२ होता है। जैसे- प्रथम मास में गर्भ कलल रूप में होता है। तदुपरान्त अग्रिम मासों में गर्भ पुष्ट होकर विकास होता है। इन नौ मासों में गर्भिणी के सद्वृत का ध्यान रखना आवश्यक है। इसलिए आयुर्वेद में वर्णित नौ महीनों के सद्वृत्त को विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस अवस्था में कुछ आहार एवं विहार गर्भिणी के लिए हितकर नहीं होते एवं उसका सेवन करने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वर्जित सद्वृत्त के सेवन से गर्भस्थ शिशु पर भी प्रभाव पड़ता है, जो प्रसवोपरान्त दिखाई देते हैं। अतः इसके लिए कौन-कौन से आहार, विहार वर्जित हैं, इनका भी विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है।

"तृतीय अध्याय" में गर्भिणी द्वारा ऋतुचर्या का सम्यक् पालन न करने पर, अपथ्य आहार, विहार का सेवन करने से विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिनमें सर्वप्रथम व्याधि के कुछ अस्पष्ट लक्षण, स्पष्ट लक्षण, भेद, सम्प्राप्ति शरीर में दिखाई देते हैं। इसे जानकर वैद्य गर्भिणी का उपचार करता है। अतः इसमें सामान्य व्याधियों को परिलक्षित करते हुए व्याधियों का निदान एवं चिकित्सा विवेचित है। इसमें ज्वर, पाण्डु, कामला, अतिसार, छर्दि, कास, उदावर्त एवं आनाह रोग के कारणों को बताते हुए उपचार का वर्णन किया गया है।

इसमें रोग का अर्थ, भेद, चिकित्सा का अर्थ एवं भेदों का भी स्पष्टरूप से विवेचन किया गया है।

"चतुर्थ अध्याय" में गर्भवती स्त्री को प्रकुपित करने वाले त्रिविध दोषों द्वारा विशिष्ट व्याधि के कारणों को स्पष्ट किया गया है। सर्वप्रथम गर्भस्राव, गर्भपात का परिचय देते हुए परिभाषा, निदान, मातृजन्य-पितृजन्य हेतु, लक्षण, भेद आदि का वर्णन है। तत्पश्चात् उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि के हेतुओं को व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार किक्किस, लीनगर्भ, गर्भक्षय, गर्भवृद्धि, भूतहृतगर्भ को विवेचित किया है। तदनन्तर मूढ़गर्भ का परिचय देकर हेतु, लक्षण, कील आदि चार प्रकारों का विवेचन किया गया है एवं मृतगर्भ के हेतुओं को बताते हुए लिंग, अवस्थाओं आदि का वर्णन किया गया है। उसके बाद रक्तगुल्म व्याधि के हेतुओं का विस्ताररूप से वर्णन किया है। अतः चौथे अध्याय में विशिष्ट व्याधियों के कारणों का पर्यालोचन है।

शोधप्रबन्ध के **"अन्तिम अध्याय"** में गत अध्याय में बताए गए विशिष्ट रोगों के उपचार का स्पष्ट पर्यालोचन किया है। सर्वप्रथम गर्भस्राव व गर्भपात में पथ्य आहार, वर्जित आहार-विहार, गर्भपात के बाद उपचार बताया है। तदनन्तर उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि के उपचार विवेचित हैं। तत्पश्चात् किक्किस, गर्भशोष, गर्भक्षय, गर्भवृद्धि व्याधि के लिए औषध प्रयोग, यवागू, क्वाथ एवं पथ्य आहार को स्पष्ट किया है। तदुपरान्त मूढ़गर्भ की चिकित्सा करते हुए सामान्य चिकित्सा, जीवित मूढ़गर्भ की प्रसव विधि, दोषयुक्त मूढ़गर्भ का उपचार, मूढ़गर्भ के उपचार की उपेक्षा करने पर प्रभाव, शल्यकर्म, मूढ़गर्भ निकालने की विधि आदि को विस्तारूप से विवेचन किया है।

पाँचवें अध्याय के अन्त में रक्तगुल्म व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा, चिकित्सा उपरान्त देखभाल एवं पथ्य आहार-विहार को विस्तृतरूप से पर्यालोचन किया गया है।

शोधार्थिनी द्वारा सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध में **"आयुर्वेद सम्मत गर्भकालीन स्त्री-रोग एवं चिकित्सा (*अथर्ववेद*, बृहत्त्रयी एवं *काश्यपसंहिता* के विशेष आलोक में)"** विषय को मध्य में

रखकर व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक एवं पर्यालोचनात्मक शोध-प्रविधियों का प्रयोग करते हुए प्रबन्धित किया है।

प्रथम अध्याय

सनातन धर्म में संस्कार प्रमुख अंग हैं। इसको विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। ये संस्कार आरम्भ से ही सामाजिक एवं धार्मिक एकता के आधारस्तम्भ रहे हैं। इन संस्कारों का आविर्भाव पुरातन काल में हुआ था और वर्तमान समय में भी समाज में प्रचलित है। संस्कारों का वर्णन सबसे पहले वेदों के कुछ सूक्तों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों एवं स्मृतिग्रन्थों में मिलता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कहा है कि **'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते- सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः'**[25] अर्थात् जैसे वेद सभी विद्याओं का आधार है वैसे ही यज्ञ-विधान, गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक सभी संस्कारों का आधार है। इन्हीं आशयों को लेकर साक्षात्धर्मा महर्षियों द्वारा स्मृति आदि ग्रन्थों में संस्कारों के विधि, विधान का वर्णन किया गया है।

वस्तुतः संस्कार मानव के नव निर्माण की योजना है। जब शिशु का जन्म होता है तब वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। प्रथम संस्कार, जिसमें पूर्व जन्मों के संस्कार साथ लाता है, द्वितीय संस्कार, जिन्हें शिशु को अपने माता-पिता से वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त होते हैं। ये संस्कार अच्छे या बुरे दोनों हो सकते हैं। संस्कारों द्वारा बालक को ऐसा पर्यावरण दिया जाता है, जिसमें अच्छे संस्कारों का उद्भव होने का अवसर प्राप्त हो, उसके पिछले जन्मों के बुरे कर्मों को विकसित न होने दिया जाए अर्थात् पूर्णतः समाप्त कर दिया जाए।

संस्कार मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, अनुशासित एवं व्यवस्थित बनाते हैं। इनके द्वारा न केवल व्यक्ति का कल्याण होता है अपितु सम्पूर्ण जगत् का भी कल्याण होता है। संस्कारयुक्त मनुष्य समाज एवं राष्ट्र को नई दिशा प्रदान करते हैं। समाज में संस्कारों से रहित व्यक्ति को हेय दृष्टया देखा जाता है, वह समाज के लिए भी हानिकारक होता है। अतः मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों का विशेष महत्त्व है।

---

[25] *सं० भा०*, पृ० 6

1.1.1 संस्कार शब्द की निष्पत्ति एवं परिभाषा :- संस्कार शब्द का सामान्य अर्थ है- किसी वस्तु के स्वरूप को बदल देना अर्थात् उसे नूतन रूप देना। जैसे स्वर्णकार अशुद्ध सोने को अग्नि में डालकर उसको परिशुद्ध करता है, उसी प्रकार बालक के जन्म लेने के बाद उसे संस्काररूपी अग्नि में डालकर गतजन्मों के दुर्गुणों को परिष्कृत करके सद्गुणों से सुसज्जित करते हैं। महर्षि चरक ने कहा है कि **"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।"**[26] अर्थात् संस्कार पहले से अवस्थित दुर्गुणों को समाप्त करके, उनके स्थान पर नवीन सद्गुणों का आधान कर देने का नाम है। अतः संस्कार वे उपचार हैं, जिनके माध्यम से मानव को सभ्य बनाना संभव है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है।

'संस्कार' शब्द संस्कृत के 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृञ् करणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय मिलकर निष्पन्न हुआ है- सम+कृ+घञ् = संस्कार, जिसका अभिप्राय शुद्धता या परिशोधन से लिया जाता है। वामन[27] शिवराम आप्टे ने इसके पूर्ण करना, संस्कृत, विशुद्ध, अनुशीलन आदि अर्थ किए हैं। *मेदिनीकोश* में भी कहा गया है कि **'संस्कारः प्रतियत्नेऽनुभवे मानसकर्मणि। संस्तरः प्रस्तरे यज्ञे सङ्गरो युधि चाषदि॥'**[28]

इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। इसका आशय मीमांसकों ने **"यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश"**[29] आदि की विधिवत् शुद्धि करने के लिए किया है। अद्वैतवेदान्ती विद्वान् "जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्या आरोप को" संस्कार स्वीकार करते हैं[30] तथा नैयायिकविद्वान् "अपने भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यञ्जक शक्ति को" संस्कार स्वीकार करते हैं, वैशेषिक दर्शन में संस्कार की गणना 24 गुणों के अन्तर्गत की गई है। शबरस्वामी के मतानुसार "जिसके आत्मसात् करने पर व्यक्ति किसी कार्य को करने के योग्य होता है",

---

[26] *च० सं०, वि०* 1/22-2 ; करणं हि नाम स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः।

[27] *सं० हि० श० को०*, पृ० 1051

[28] *मे०को०*, 27/233

[29] प्रोक्षादिनजन्यसंस्कारो यज्ञांगपुरोडाशेष्विति। *वा०बृ०अ०*, 5, पृ० 5188

[30] स्नानचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्पयन्ते। पूर्ववत्

उसे संस्कार कहते हैं।[31] अभिनवगुप्त ने कहा है कि "संस्कार वे रीति एवं क्रियाएँ हैं, जो मनुष्य को योग्यता प्रदान करती है।" यह योग्यता दो प्रकार की होती है- पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता एवं नूतन गुणों द्वारा उत्पन्न योग्यता। संस्कारों द्वारा नूतन गुणों का आविर्भाव तथा तप से पाप व दोषों का शमन होता है।[32] शंकराचार्य ने कहा है कि **"संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा"**[33] अर्थात् संस्कारों से गुणों का आधान एवं दोषों का शमन किया जाता है। इनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग आभूषण[34], परिष्करण[35], प्रशिक्षण[36], छाप, आदि अर्थों में प्रयोग किया गया है। हिन्दू-संस्कार[37] में विवेचित है कि "संस्कार का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा मनुष्य के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है, जिससे वह समाज का पूर्णतया सदस्य बन सके।"

इस प्रकार स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि संस्कार शब्द विशेष अर्थों के साथ प्रयुक्त हुआ है, जो इसके सुदीर्घ इतिहास-क्रम द्वारा साथ-साथ संयुक्त हो गए हैं। संस्कारों में अनेक प्रारम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, सहवर्ती नियम एवं अनुष्ठान भी सम्मिलित होते हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक शारीरिक संस्कार से नहीं है बल्कि संस्कार मनुष्य को सम्पूर्ण परिष्कार, शुद्धता एवं पूर्णता भी है। अतः इसका प्रयोग सामूहिक अर्थ के लिए भी किया जाता था।

---

[31] संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। *शा०भा०*, 3/1/3

[32] योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते। *त०वा०*, पृ० 1078

[33] *वे०सू० भा०* 1/1/4

[34] स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। *अ०शा०*, 7/33

[35] प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ। *र०व०* 3/18

[36] *रघु०व०* 3/35

[37] *हि०सं०*, पृ० 19

संस्कारों का प्रादूर्भाव वैदिककाल या उससे पूर्व ही हो गया था, जो कि विशेष कर्मकाण्डपरक मन्त्रों द्वारा ज्ञात होता है। लेकिन वैदिकसंहिताओं में संस्कार शब्द का वर्णन नहीं मिलता एवं ब्राह्मण-साहित्य में भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। जबकि *शतपथ ब्राह्मण*[38] में विशेष प्रकरणों के अन्तर्गत उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कुछ संस्कारों का वर्णन मिलता है।

1.1.2 संस्कार के भेद :- पुरातन समय से ही विद्वानों में संस्कारों की संख्या के विषय में मतभिन्नता है। संस्कार शास्त्रीय दृष्टि से गृह्यसूत्रों के विषयों में सम्मिलित हैं। लेकिन गृह्यसूत्रों में इनका प्रयोग मूल अर्थ में प्राप्त नहीं होता है। वे मीमांसकों के अर्थ में ही प्रयोग करते हैं, 'पञ्च-भू-संस्कार'[39] एवं पाक-संस्कारों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं, जिनसे गृह्यसूत्रों में यज्ञीय भूमि के शोधन, सेंचन और शुद्धि तथा आवाहन करने योग्य सामग्री को तैयार करने का अर्थ लेते हैं। इन यज्ञों का पर्यावरण एवं सामाजिक मनोविज्ञान पर सर्वाधिक प्रभाव था। अतः वे सम्पूर्ण गृह्य विधि-विधानों का वर्गीकरण अनेक यज्ञों के नामों के अन्तर्गत करते हैं। *बौधायनगृह्यसूत्र*[40] में वर्णित है कि "दैहिक संस्कारों को पाकयज्ञों में" सम्मिलित किया जाता है। *पारस्करगृह्यसूत्र* इन पाकयज्ञों को हुत-आहुत-प्रहुत-प्राशित भागों में विभाजित किया गया है एवं *बौधायनगृह्यसूत्र* में वर्णित है कि "इन्हें हुत-प्रहुत-आहुत-शूलगव-बलिहरण-प्रत्यवरोहण-अष्टकहोम सात प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।"[41]

इन गृह्यसूत्रों में विवाह संस्कार से लेकर समावर्तन संस्कार तक का वर्णन प्राप्त होता है। अधिकतर गृह्यसूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता, केवल पाराशर, अश्वलायन एवं बौधायन में ही इसका वर्णन समुपलब्ध होता है। *गौतमधर्मसूत्र* में आठ आत्मगुणों के साथ चालीस संस्कारों का विवेचन किया गया है- **"गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरणान्नप्राशन-चौलोपनयनम्, चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः, पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणाम्, एतेषां च, अष्टकाः पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः,**

---

[38] *श०ब्रा०* 11-14

[39] *आ०गृ०सू०* 1/3/1

[40] *बौ०गृ०सू०* 1/1/1-12

[41] *हि०सं०*, पृ० 20

अग्न्यधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रहायणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः।'[42] अर्थात् गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-अन्नप्राशन-चूडाकरण-उपनयन-महानाम्नीव्रत-उपनिषद् व्रत-महाव्रत-गोदानव्रत-स्नान (समावर्तन)-विवाह-ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-पितृयज्ञ-भूतयज्ञ-मनुष्ययज्ञ (पञ्चमहायज्ञ)-अष्टका-पार्वण-श्राद्ध-श्रावणी-आग्रहायणी-चैत्री-आश्वयुजी (सात पाकयज्ञ)-अग्नेयधेय-अग्निहोत्र-दर्शपौर्णमास-चातुर्मास्य-आग्रहायण-निरुढपशुबन्ध-सौत्रामणी (सात हवियज्ञ)-अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-उक्थ्य-षोडशी-वाजपेय-अतिरात्र-आप्तोर्याम (सप्त सोमसंस्था)-दया-क्षमा-अनसूया-शौच-अनायास-मंगल-अकार्पण्य एवं अस्पृहा ये संस्कार सम्मिलित हैं। अतः इसका प्रयोग सम्पूर्ण धार्मिक कार्यों के अर्थ में किया गया है।

लेकिन धर्मशास्त्रज्ञ हारीत के मतानुसार **"द्विविधः संस्कारो भवति, ब्राह्मणो दैवश्च। गर्भाधानादि स्मार्तो ब्राह्मः"**[43] अर्थात् हवनों का समावेश दैवीय-संस्कारों एवं मानवीय जीवन में अनेक कार्यक्रमों पर होने वाले संस्कारों का समावेश "ब्राह्म" संस्कारों के अन्तर्गत करना उपयुक्त है। अतः विद्वानों द्वारा ब्राह्म संस्कारों को ही गर्भाधान इत्यादि संस्कारों में सम्मिलित किया गया है। *विष्णुधर्मसूत्र* में प्रमुखरूप से दस संस्कारों[44] का वर्णन समुपलब्ध होता है लेकिन वहाँ गर्भाधान को निषेक, नामकरण को नामधेय एवं निष्क्रमण को आदित्य संस्कार के रूप में अभिव्यक्त किया गया है, लेकिन जो मानव चालीस संस्कारों में से कुछ संस्कारों से परिपूर्ण होता है एवं साथ ही आठ आत्मगुणों से अन्वित होता है, वह मानव ब्रह्म का सायुज्य लेकर ब्रह्मलोकी हो जाता है।

---

[42] *गौ०ध०सू०* 1/8/14-24

[43] *हि०सं०*, पृ० 23

[44] *वि०ध०सू०*, अ० 27

राजबली पाण्डेय ने संस्कारों का विवेचन करते हुए कहा है कि "संस्कारों और यज्ञों में कोई स्पष्ट भेद दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ 'संस्कार' शब्द का प्रयोग सामान्यतया धार्मिक कार्यों के लिए किया गया है।"[45] महर्षि मनु ने गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक तेरह संस्कारों को स्वीकार किया है-

"निषेकादिश्मशानन्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥"[46]

अर्थात् जिस वर्ण की गर्भसंस्कार से लेकर मृत्यु पर्यन्त विधि वैदिक मंत्रों द्वारा बताई जाती है, उसका इस शास्त्र में अधिकार जानना चाहिए। गर्भाधान-पुंसवन- सीमनोन्नयन-जातकर्म-नामधेय-निष्क्रमण-अन्नप्राशन-चूडाकर्म-उपनयन-केशान्त-समावर्तन-विवाह एवं शमशान तेरह संस्कार हैं। याज्ञवल्क्यऋषि ने भी 'केशान्त संस्कार' को संस्कारों में गणना नहीं की है एवं मनु द्वारा कहे गए संस्कार स्वीकार किए हैं। वस्तुतः 'केशान्त संस्कार' के लोप का कारण वैदिक स्वाध्याय-ह्रास एवं समावर्तन के साथ सम्मिश्रण माना जा सकता है।

व्यासस्मृति[47] में वर्णित हैं कि- "गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्त-जातकर्म-नामक्रिया-निष्क्रमण-वपनक्रिया-कर्णवेध-व्रतादेश-वेदारम्भ-केशान्त-स्नान-उद्वाह-विवाहाग्निपरिग्रह एवं त्रेताग्निसंग्रह।" इसी क्रम में मनु तथा याज्ञवल्क्यऋषि ने कर्णवेध-संस्कार एवं अन्तिम दो संस्कार ओर सम्मिलित किए हैं। सोलह संस्कारों में कर्णवेध संस्कार का देरी से सम्मिलित होने का कारण यह माना जा सकता है कि परवर्ती काल में उसे विद्वानों ने संस्कार के रूप में स्वीकृति दी, क्योंकि आरम्भ में इसे केवल शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाने का एक प्रकार माना जाता था।

---

[45] *हि०सं०*, पृ० 26

[46] *म०स्मृ०* 2/16

[47] *हि०सं०*, पृ० 24

अतः सोलह संस्कार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में उनकी संख्या अलग-अलग हैं। मनु एवं याज्ञवल्क्यऋषि[48] ने गर्भाधान से प्रारम्भ करके मृत्यु पर्यन्त सोलह संस्कारों का नामोल्लेख एवं वर्णन किया है, जो कि सर्वमान्य है- गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन- जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमण- अन्नप्राशन-चूडाकरण-उपनयन-वेदारम्भ-केशान्त-समावर्तन-विवाह-वानप्रस्थ-निष्क्रमण एवं अन्त्येष्टि संस्कार। अतः इनका सामान्य परिचय निम्नोक्त प्रकार से दिया जा रहा है-

1.1.3 सोलह संस्कारों का परिचय[49] :-

गर्भाधान संस्कार :- गृहस्थाश्रम में रहने वाले दम्पत्ति द्वारा पुत्रप्राप्ति के लिए वीर्यनिषेचन द्वारा गर्भस्थापन करने को गर्भाधान संस्कार कहते हैं।

पुंसवन संस्कार :- महिला में गर्भाधान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे महीने में पुत्रोत्पत्ति को लक्ष्य करके यज्ञ करना पुंसवन संस्कार कहलाता है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार :- महिला में गर्भ का पूर्णतया स्थापन होने पर चतुर्थ मास में गर्भस्थिरता हेतु, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य हेतु की जाने वाली विधि को सीमन्तोन्नयन संस्कार कहते हैं।

जातकर्म संस्कार :- जब शिशु का जन्म हो जाता है, तदुपरान्त सोने की क्षाका से शिशु को असमान मात्रा में थोड़ा सा शहद और घी का सेवन कराया जाता है, जातकर्म संस्कार कहलाता है।

नामधेय संस्कार :- शिशु के जन्म लेने के बाद 10वें या 12वें दिन अथवा किसी भी शुभ दिन में नामकरण किया जाता है, उसे नामधेय संस्कार कहते हैं।

निष्क्रमण संस्कार :- शिशु के जन्म लेने के बाद, जब नवजात चौथे महीनें में घर से बाहर लाया जाता है, उसे निष्क्रमण संस्कार कहते हैं।

---

[48] *या०स्मृ०* 1/11/14

[49] परिशिष्ट-2-3 देखें

अन्नप्राशन संस्कार :- शिशु को लगभग छह मास में अन्न आदि सुपाच्य पौष्टिक भोजन कराना, अन्नप्राशन संस्कार के अन्तर्गत आता है।

चूडाकरण संस्कार :- जब बालक की तीन वर्ष की आयु पूर्ण होती है तब उसका पहले या तीसरे वर्ष में केशों को नाई द्वारा उतरवा दिया जाता है, जिसे चूडाकरण संस्कार कहते हैं।

उपनयन संस्कार :- बच्चे को शिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाना और गुरु द्वारा उसे यज्ञोपवीत शिक्षा देना, उपनयन संस्कार कहलाता है।

वेदारम्भ संस्कार :- गुरुकुल में शिष्य द्वारा गुरुजनों के समीप रहकर श्रेष्ठ शिक्षा व दीक्षा ग्रहण करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ना, वेदारम्भ संस्कार कहलाता है।

केशान्त संस्कार :- युवावस्था के प्रारम्भ में अपने बालों को कटवाना, केशान्त संस्कार कहलाता है।

समावर्तन संस्कार :- वेदशास्त्रों का अध्ययन समाप्त करने के बाद, ब्रह्मचारी द्वारा स्नातक बनकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए गुरुकुल का त्याग करना, समावर्तन संस्कार है।

विवाह संस्कार :- गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए स्त्री व पुरुष द्वारा अष्टविध विवाह में से किसी एक विधि द्वारा विवाह किया जाता था। विद्वानों द्वारा इन आठ विवाहों में से ब्राह्म विवाह को सर्वोत्तम स्वीकार किया गया है।

वानप्रस्थ संस्कार :- मनुष्य की 50 वर्ष की आयु होने पर एवं सम्पूर्ण कार्य सन्तान के हाथों में देकर वन में रहते हुए तप एवं ईश्वरभक्ति करना। वनप्रस्थ की दीक्षा लेने को ही वानप्रस्थ संस्कार की संज्ञा दी जाती है।

संन्यास संस्कार :- मनुष्य की 75 वर्ष की आयु सम्पूर्ण होने पर संसार के सभी भोग-विलासों का त्याग करके पूर्णतया वैराग्य जीवन व्यतीत करना, परोपकार हेतु तथा ब्रह्म में लीन रहकर मोक्ष प्राप्ति करने को संन्यास संस्कार कहते हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार :- शरीर में से प्राणों के निकलने पर दाहकर्म करने को अन्येष्टि संस्कार की संज्ञा दी जाती है। इसका वर्णन सर्वप्रथम *ऋग्वेद*[50] में मिलता है परन्तु फिर भी इसकी गणना संस्कारों में नहीं की जाती थी। अतः अब प्रथम तीन संस्कारों का विस्तृतरूप से वर्णन किया जाएगा।

1.2.1 गर्भाधान संस्कार का अर्थ :- गर्भाधान संस्कार, सोलह संस्कारों में सर्वप्रथम है, जिसका अर्थ है कि दम्पत्ति अपनी प्रजनन प्रवृत्ति द्वारा समाज को सूचित करता है। यदि विचारशील मनुष्य उसकी स्थिति वंशोत्पत्ति के लिए अनुपयुक्त समझें तो दम्पत्ति को मना कर सकते हैं, क्योंकि किसी अवस्था में वंशोत्पत्ति में स्त्री की आयु, बल व मानसिक स्वास्थ्य सबल नहीं होती या पुरुष का शुक्राणु वंशोत्पत्ति के योग्य नहीं होता। सुश्रुत ने कहा भी है कि **'तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।'**[51] अर्थात् अत्यन्त छोटी बालिका को गर्भ धारण नहीं कराना चाहिए।

सुश्रुतसंहिता में अन्यत्रस्थान पर परिलक्षित होता है कि जिस प्रकार अंकुरित बीज के लिए अनुकूल ऋतु, जुता हुआ क्षेत्र, जल और उत्तम बीज आदि सामग्री की जरुरत होती है वैसे ही ऋतुकाल, शुद्धगर्भाशय, आहार रस एवं शुक्र-शोणित के एकत्र सहवास होने से गर्भोत्पत्ति होती है।[52] इनमें से एक या दो या तीनों के रहने पर भी गर्भोत्पत्ति सम्भव नहीं है। उसी विधि का पालन करते हुए एकत्र होना चाहिए। अतः समाज या परिवार में विद्यमान मनुष्यों की सहमति से वंशोत्पत्ति के लिए तैयार होना चाहिए। आधुनिक चिकित्सक भी स्वीकार करते हैं कि **'The best chance of pregnancy lies in the third week and the least chance in the first week of the menstrual cycle.'**[53] पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान गर्भ को प्रथम आठ सप्ताह तक भ्रूण[54] एवं तदुपरान्त गर्भस्थ शिशु[55] की संज्ञा देता है।

---

[50] *ऋ०वे०* 10/18/1-14

[51] *सु० सं० शा०* 10/55

[52] ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा॥ *सु०सं०शा०* 2/35

[53] *सु० स०*, भा० 2, पृ० 20

[54] The prefetal product of human conception upto the brgining of the third month pregnancy. Webster's Dictionary "; Part 2

[55] The unborn young from the eight weeks to the moment of birth. Webster's Dictionary ; Part 2

1.2.2 गर्भाधान स्थापन :- पूर्वमीमांसा में परिलक्षित है कि **'गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्।'**[56] अर्थात् जिस कर्म के द्वारा पुरुष अपनी पत्नी के गर्भाशय में अपना बीज स्थापित करता है, गर्भाधान संस्कार कहलाता है। शौनक ने भी गर्भाधान की परिभाषा देते हुए कहा है कि "जिस कर्म की पूर्ति के लिए स्त्री पुरुष प्रदत्त शुक्र को धारण करती है, उसे गर्भालम्भन संस्कार कहते हैं।"[57] अतः यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि यह कोई काल्पनिक धार्मिक कृत्य नहीं था, बल्कि यथार्थपरक कर्म होता था। इस वंशोत्पत्ति कार्य को प्रयोजनसहित एवं संस्कृतनिष्ठ बनाने के लिए गर्भाधान संस्कार होता था। चक्रपाणि ने गर्भाधान संस्कार को परिलक्षित करते हुए कहा है कि **"शुक्रशोणितजीवसंयोगः तु खलु कुक्षिगते गर्भ संज्ञा भवति।"**[58] अर्थात् पुरुष का शुक्र एवं स्त्री का रज तथा जीव का संयोग जब कुक्षि में स्थापित होता है तब उसकी गर्भ संज्ञा होती है।

भावप्रकाश[59] में वर्णित है कि गर्भाशयगत वीर्य, रज, जीव एवं सोलह विकारों से युक्त प्रकृति को गर्भ कहते हैं। जब गर्भ समयानुसार अङ्ग एवं उपाङ्गों से परिपूर्ण हो जाता है, तब उसे मुनिजन 'शरीरी' कहते हैं। वाग्भट ने भी कहा है कि **'शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः। गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ'**[60] अर्थात् शुद्ध शुक्र एवं आर्तव के संयोग होने पर अपने पूर्वजन्मों के कारण शुभ अथवा अशुभ कर्मों से प्रेरित जीवात्मा गर्भ का रूप धारण करता है। यह गर्भ की युक्ति शुक्र तथा आर्तव के संयोग से वैसे हो जाती है जिस प्रकार उत्तर अरणि एवं अधर अरणि के मन्थन के संयोग से अग्नि का प्रादूर्भाव होता है।

वैदिकसंहिताओं में अनेक प्रंसग और उपमाएँ समुपलब्ध होती हैं, जो गर्भाधान संस्कार पति-पत्नी को किस प्रकार करना चाहिए, इस पर प्रकाश डालते हैं। अतः गर्भाधान के विषय में विचार और क्रिया वैदिककाल में विकासावस्था में थी। *ऋग्वेद* में वर्णित है कि विष्णु गर्भाशय का निर्माण करें, त्वष्टा ऋषि पत्नी का स्वरूप ओर अधिक बढ़ाएँ, प्रजापति ब्रह्मा बीज को पैदा करें, धाता गर्भिणी के भ्रूण को स्थिर करें।

---

[56] *वी० मि० सं०*, 1/4/2

[57] निषक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया। तद् गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः॥ *हि०सं०*, पृ० 59

[58] *च०सं०शा०* 4/5 पर आयुर्वेददीपिका टीका

[59] *भा०प्र०*, पू० 3/63-64

[60] *अ०हृ०*, शा० 1/1

हे सरस्वति ! आप भ्रूण को गर्भाशय में स्थिर करो, नीलकमल की माला को धारण करने वाले अश्विनी कुमार आपके भ्रूण को गर्भाशय में अवस्थित कर दें।[61] एक उदाहरण देकर *ऋग्वेद* में वर्णित है कि "जिस प्रकार शमी वृक्ष पर पीपल अवस्थित होता है वैसे ही गर्भवती स्त्री का प्रसव करवाया जाता है, अतः उसको महिला के गर्भाशय में आधान करते हैं।"

इसी प्रकार *अथर्ववेद* में भी देवी-देवताओं को गर्भाशय में स्थित होने के लिए आवाहन किया गया है-**'गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो वृहस्पतिः। गर्भं ते इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥'**[62] अर्थात् मित्र और वरुण तुम्हारे गर्भ को धारण करें, बृहस्पति तुम्हारे गर्भ को धारण करें, इन्द्र और अग्नि तुम्हारे गर्भ को धारण करें, धाता तुम्हारे गर्भ को धारण करें।

अथर्ववेद में अन्यत्रस्थान पर गर्भाधान को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि **"विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥"**[63] अर्थात् विष्णु गर्भाशय को गर्भाधान के लिए समर्थशील बनाएँ, त्वष्टा ऋषि गर्भगत शिशु के रूपों को बनाएँ, प्रजापति वीर्य का आसिञ्चन करे, धाता आपका गर्भ धारण करे। सम्भवतः पुरातन ऋषिगणों को यह ज्ञात था कि पञ्चमहाभूतों से प्राणी की उत्पत्ति होती थी। इसलिए दैवी रूपक द्वारा पञ्चमहाभूतों को बताया गया है।

1.2.3 गर्भाधान संस्कार का पूर्वकर्म :- गर्भाधान करने से पहले वैद्यक द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि पुरुष का शुक्र एवं स्त्री का आर्तव शुद्ध है या नहीं। यदि दोनों में से एक या दोनों का आर्तव एवं शुक्र अदुष्ट हो, उस अवस्था में दोनों को एक साथ ही स्नेहन और स्वेदन करवाकर वमन-विरेचन कराना हितकर होता है। तत्पश्चात् संसर्जन क्रम के अनुसार पेयादि क्रम से पथ्य देकर शुक्र एवं आर्तव को शुद्धावस्था में लाना चाहिए। परिशोधन के पश्चात् जब शरीर शुद्ध होकर स्वभाविक स्थिति में हो जाए, तब पति या पत्नी को निरूहण एवं अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

---

[61] *ऋ०वे०* 10/184

[62] *अ०वे०* 5/25/4

[63] *अ०वे०* 5/25/5

तत्पश्चात् पुरुष को मधुर रस प्रधान औषधियाँ दूध में डालकर सेवन के लिए देनी चाहिए एवं स्त्री को तेल व उड़द के चूर्ण से बने पदार्थ सेवन के लिए देना लाभप्रद होता है।[64] *सुश्रुतसंहिता* में अशुद्ध शुक्र एवं अशुद्ध आर्तव का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है- "अशुद्ध शुक्र के चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन तथा उत्तरबस्ति आदि पंचकर्म करना सहायक होता है। यदि पुरुष के वीर्य में शव जैसी गन्ध (कुणपरेता) आ रही हो, तब इसकी चिकित्सा में उसे धातकी, पुष्प, खदिर, दाडिम और अर्जुन अथवा शालसारादि गण की औषधियों से सिद्ध किया हुआ घी का सेवन करने के लिए देना चाहिए। यदि शुक्र ग्रन्थिभूत हो उस अवस्था में कचूर या पलाश की भस्म से सिद्ध किया हुआ घी पीने के लिए देना चाहिए। यदि शुक्र पूतिपूय हो, उस अवस्था में पुरुष को परूषकादि तथा वटादि वर्ग की औषधियों से सिद्ध घी का सेवन कराना चाहिए। यदि शुक्र में से मल-बन्ध की गन्ध आती हो, तब पुरुष को चित्रक, उशीर और हींग द्वारा सिद्ध किया हुआ घी पिलाएँ। इन सभी प्रकार के शुक्रदोषों में पुरुष को स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण और अनुवासन तथा उत्तरबस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।[65]

अशुद्ध आर्तव से पीड़ित स्त्रियों में स्नेहनादि के पश्चात् पिचु, आचमन, कल्क और सद्वृत्त का प्रयोग करना चाहिए। यदि आर्तव ग्रन्थिभूत (Clotted) हो तो पीड़ित महिला को पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) और इन्द्रजौ का काढ़ा पिलाएँ। जब आर्तव दुर्गन्धित, पूय व मज्जसदृश के समान हो, उस अवस्था में श्वेत चन्दन का क्वाथ या रक्त चन्दन का क्वाथ स्त्री को पिलाना चाहिए। शुक्रदोष को दूर करने वाले योगों को आर्तव सम्बन्धित विकारों में प्रयोग करना चाहिए। स्त्री को आर्तवदोष होने पर शालि, जौ, मद्य और पित्तवर्धक मांसादि पथ्य का सेवन करवाएँ।[66] वाग्भट[67] ने भी चरक एवं सुश्रुत द्वारा कथित अशुद्ध शुक्र व आर्तव के लिए उपरोक्त औषधियाँ बताई है।

---

[64] *च०सं०*, शा० 8/4

[65] *सु०सं०*, शा० 2/13-17

[66] *सु०सं०*, शा० 2/7-11

[67] *अ०हृ०*, शा० 1/18-19

जब वीर्य शुद्ध हो जाता है तब उसके आयुवेदज्ञों ने अनेक गुण बताए हैं। *सुश्रुतसंहिता* में गर्भाधान को विवेचित करते हुए कहा गया है- **"स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥"**[68] अर्थात् शुद्ध वीर्य स्फटिकाभ-स्निग्ध-मधुर-मधुगन्धि अर्थात् शहद जैसी गन्धयुक्त होता है। अन्य आयुर्वेदज्ञ शुद्ध तिलतैल सदृश या शुद्ध शहद के सदृश होता है, ऐसा मानते हैं। एलोपैथिक चिकित्सानुसार शुक्रधातु का सबसे बड़ा गुण उसमें पाए जाने वाले शुक्राणु, उनकी संख्या एवं गतिशीलता का उत्तम होना है। इसमें शुक्राणुओं के अतिरिक्त अधिवृषण स्राव, शुक्राशय का स्राव, पौरुषग्रन्थि एवं कर्पूर ग्रन्थियों का निःसरण होता है। चरक[69] ने भी इन गुणों के अतिरिक्त जलनरहित एवं सघन शुद्ध शुक्र के गुण माने हैं। वाग्भट[70] ने शुद्ध शुक्र के उपरोक्त गुण माने हैं।

वाग्भट शुद्ध आर्तव के गुणों को विवेचित करते हुए कहते हैं कि- **"आर्तवं पुनः लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरच्यते**।"[71] अर्थात् स्त्री का शुद्ध आर्तव उत्तम होता है, जो खरगोश के रक्त जैसा या लाक्षारस के समान हो तथा जिसका दाग वस्त्र पर न लगे। आयुर्वेदीय संहिताओं में दो प्रकार के आर्तव का वर्णन समुपलब्ध होता है- प्रतिमास निःस्रुत आर्तव और स्त्रीबीज। उपरोक्त वर्णन प्रतिमास होने वाले रक्त स्राव का है। चरक एवं सुश्रुत ने भी शुद्ध आर्तव[72] के उपरोक्त गुणों का वर्णन किया है। ऋतुकाल में आर्तव 4 से 6 दिन तक रहता है, जो नियतकाल में प्रत्येक महीने प्रायशः 22 तोला रक्त निकलता है। इस समय कोई विशेष पीड़ा नहीं होती। इस रक्त का मासिक धर्म के पहले या बाद में निकलना रोग का सूचक है।

अथर्ववेद में अशुद्ध शुक्र व अशुद्ध आर्तव का विवेचन नहीं किया गया। केवल पुष्ट और निरोग वीर्य द्वारा ही पुरुष नारी के गर्भाशय में गर्भालम्भन करे, ऐसा कहा गया है। यदि किसी कारणवश वीर्य में दुर्बलता व रोग हो जाए तो उसके लिए पौष्टिक औषधी सेवन करनी चाहिए।

---

[68] *सु०सं०*, शा० 2/12

[69] स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च। रेतः शुद्धं विजानीयाच्छवेतं स्फटिकसन्निभम्॥ *च०सं०*, चि० 30/145

[70] *अ०हृ०*, शा० 1/17

[71] *अ०हृ०*, शा० 1/17

[72] *च०सं०*, चि० 30/225-226 ; *सु०सं०*, शा० 2/17

अथर्ववेद में परिलक्षित है कि सर्वाङ्ग तथा आरोग्य शिशु पैदा करने के लिए गर्भाशय का स्वस्थ एवं रोगरहित होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[73] इस प्रकार *अथर्ववेद* में गर्भाधान का अत्यधिक महत्त्व है। इसका उद्देश्य दीर्घजीवी, निरोग, वीर्यसन्तान की उत्पत्ति आदि से है।

1.2.4 ऋतुकाल का आचार :- जब स्त्री को रजोदर्शन होते हैं तब उस अवस्था में सर्वप्रथम दम्पत्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। *चरकसंहिता*[74] में परिलक्षित है कि शरीर को विशुद्ध करने के पश्चात् जब रजोदर्शन हो जाए, उस दिन से तीन दिनों तक अपने पति से पृथक् रहकर ब्रह्मचारिणी रहते हुए, उसे भूमि पर या कम ऊँचाई वाली चारपाई पर सोना चाहिए। उसे नए बर्तनों में भोजन करना चाहिए। तीन दिनों तक स्नान, उबटन, अंजन, तेल, नाख़ून कर्तन आदि शरीर की शुद्धि नहीं करनी चाहिए।

तदुपरान्त चौथे दिन उस स्त्री को उबटन लगाकर, बालों सहित स्नान करके सफेद कपड़े पहनने चाहिए। चरक ने भी मनुष्य को इसी प्रकार स्नानादि निमित्त कार्य करने के लिए कहा है। सुश्रुत[75] ने ऋतुकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है- महिला को रजोदर्शन के प्रथम दिन से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए दिन में सोना, अंजन लगाना, आँसू गिराना, स्नान, उबटन, अभ्यंग, नखकर्तन, दौड़ना, हँसना, बहुत अधिक बोलना, केश संवारना, तेज हवा में रहना एवं व्यायाम इत्यादि का त्याग करना हितकर होता है। उसे दर्भ या कुशा को बिछाकर शयन करना चाहिए, उसे हथेली या शराव या पत्तों से बनी पत्तल पर भोजन करना चाहिए। तदुपरान्त शुद्ध स्नान कराना चाहिए। यदि वह ऋतुकाल में ब्रह्मचारी नहीं रहती तब जन्मोपरान्त शिशु में विकार दिखाई देते हैं, जिनका कारण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करना है।

जो स्त्री ऋतुकाल में दिन में सोती है उसे स्वापशील अर्थात् सदा सोने वाला शिशु, अञ्जन लगाने पर अन्धा, रोने पर दृष्टिविकार, स्नान एवं उबटन लगाने पर दुःखी रहने वाला, तैल के अभ्यंग करने से त्वचा से विकृत शिशु, नाखून काटने पर नखरोग, दौड़ने से चंचल, हँसने पर दाँत, होंठ, तालु व जीभ श्याव रंग की, अधिक बोलने पर प्रलापी अर्थात् व्यर्थ की

---

[73] गर्भकरणं पिब, *अ०वे०* 5/25/6

[74] *च०सं०*, शा० 8/5

[75] *सु०सं०*, शा० 2/25

बातें करने वाला, तेज सुनते रहने से बहरा, कंघी करने से गंजा, तेज हवा में रहने पर उन्मत्त शिशु की उत्पत्ति होती है।

वाग्भट ने ऋतुकाल से पहले ऋतुमती स्त्री के लक्षण व रजःस्राव के समय को परिलक्षित किया है-

"क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम्।

स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतमतीं स्त्रियम्॥

मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः।

ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत्॥"

अर्थात् जिस महिला का मुख सुस्त जैसा परन्तु प्रसन्न हो, कूल्हों व स्तनों में फड़कने की प्रतीति हो रही हो, आँखों व गर्भाशय में कुछ ढ़ीलापन दिखाई देता हो और जो पुरुष का सहवास करना चाहती हो, उसे ऋतुमती जानना चाहिए। प्रथम रज के बाद पुनः एक महीने तक गर्भाशय की परतों में स्वाभावतः धमनियों द्वारा रक्त एकत्रित होता है। इसे उदान वायु गर्भाशय के मुख से बाहर निकाल देती है। इस रक्त का वर्ण थोड़ा काला एवं आमगन्धरहित होता है। ऋतुकाल के सन्दर्भ में वाग्भट[76] ने चरक-सुश्रुतोक्त वक्तव्यों को माना है। इनके अतिरिक्त केवल ऋतुकाल में स्त्री द्वारा कल्याणकारक वस्तुओं एवं शुभ विचारों का ध्यान एवं अल्पाहार का सेवन हितकारक होता है।

1.2.5 स्त्री-पुरुष समागम :- जब स्त्री ऋतुकाल से निवृत्त हो जाए, उसके बाद दम्पत्ति को सहवास करना चाहिए। यदि पुत्र की इच्छा हो तो उन्हें सम दिनों में एवं कन्या की इच्छा हो तो विषम दिनों में सहवास करना हितकर होता है। *चरकसंहिता* में परिलक्षित है कि- **'ततः शुक्लवससौ स्रग्विणौ सुमनवन्योऽन्यमभिकामौ संवसेयातां स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहः सु पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ'**[77] अर्थात् स्त्री द्वारा रजोनिवृत्ति के उपरान्त दम्पत्ति श्वेत वस्त्र धारण करके, माला पहन कर प्रसन्नचित्त एक-दूसरे को प्रेम करते हुए सहवास करना चाहिए।

---

[76] *अ०हृ०*, शा० 1/23-24

[77] *च०सं०*, शा० 8/5

यदि दम्पत्ति को पुत्र सन्तान की इच्छा हो, तब उन्हें चौथे, छठे, आठवें, दसवें एवं बारहवें दिन सहवास करना चाहिए। यदि पति-पत्नी को कन्या की इच्छा हो तब उस अवस्था में उन्हें पाँचवें, सातवें, नौवें एवं ग्यारहवें दिन मैथुनकर्म करना चाहिए। वाग्भट[78] ने चरक द्वारा कहे गए ऋतुकाल समागम को ही माना है। सुश्रुत ने भी ऋतुकाल समागम चरकोक्त अनुसार ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने कहा है कि-

"एषु उत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बल च दिवसेषु वै॥"[79]

अर्थात् दम्पत्ति द्वारा चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं एवं बारहवीं रात्रि में किए गए सहवास से उत्पन्न हुआ पुत्र उत्तरोत्तर आयुष्मान्, निरोग, प्रजावान्, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान् और बलवान होता है। परन्तु शाङ्र्गधर ने शुक्र या आर्तव की अधिकता से सन्तान पैदा होती है, इस प्रकार कहा है-

"आधिक्ये रजसः कन्या पुत्रः शुक्राधिके भवेत्।

नपुंसकं समत्वेन यथेच्छा पारमेश्वरी॥"[80]

अर्थात् सहवास के समय यदि गर्भाशय में शोणित की अधिकता हो तो कन्या की उत्पत्ति, गर्भाशय में शुक्र की अधिकता होने पर पुत्र की उत्पत्ति एवं आर्तव तथा वीर्य की समान मात्रा में होने पर नपुंसक सन्तान पैदा होती है।

दम्पत्ति द्वारा सम एवं विषम रात्रि में सहवास से पुत्र एवं पुत्री जन्म के सिद्धान्त पर वैज्ञानिक परिक्षण किया जा सकता है, क्योंकि पाश्चात्य चिकित्सक 'गुणसूत्रीय' सिद्धान्त को मानते हैं। इसके अनुसार लिंग भी एक आनुवंशिक लक्षण है और शारीरिक लक्षणों के सदृश की भाँति लैंगिक लक्षण भी गुणसूत्रों द्वारा वंशानुगत ही होते हैं। सम्पूर्ण पृथुलिंगी प्राणियों की कोशिकाओं में दो प्रकार के गुणसूत्र मिलते हैं-

---

[78] *अ०हृ०*, शा० 1/25-26

[79] *सु०सं०*, शा० 2/29

[80] *शा०सं०*, आ० 6/17

1. Autosomes or Somatic chromosomes and 2. Allosomes or Sex cromosomes.[81] शुक्रजनन के फलस्वरूप पुरुष में दो प्रकार के शुक्राणु निर्मित होते हैं- "एक्स गुणसूत्र एवं वाई गुणसूत्र"। महिला में सिर्फ 'एक्स गुणसूत्र' मिलते हैं। निषेचन के अन्तराल में एक्स गुणसूत्र वाला शुक्राणु डिम्ब में मिलता है तब समान गुणसूत्र होने के कारण सन्तान कन्या होगी और यदि वाई शुक्राणु से डिम्ब मिलता है तब एक्स-वाई गुणसूत्रों के मिलने से पुत्र उत्पन्न होता है।

1.2.6 पुत्रेष्टि यज्ञ :- चरक एवं वाग्भट ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराने के लिए कहा है, किन्तु सुश्रुत द्वारा इसको वर्णित नहीं किया गया है। सम्भवतः यह यज्ञ दम्पत्ति द्वारा रजोनिवृत्ति के बाद आठवें दिन करना चाहिए। यदि स्त्री यह इच्छा रखती है कि उसका पुत्र विशालकाय, गौरवर्ण, ओजस्वी, पवित्रात्मा और प्रवर मन सम्पन्नयुक्त हो तब रजोधर्म के चौथे दिन शुद्ध स्नान के दिन से ही, उसे स्वच्छ जौ के सत्तू में घी एवं शहद मिलाकर, सफेद बछड़े वाली गाय के दूध में घोलकर, चाँदी या काँसे के पात्र में रखकर सात दिनों तक समय-समय पर पीना चाहिए।

वह प्रातः एवं सन्ध्या के समय घर में सफेद बिस्तर पर सोए, बैठे और उसके लिए श्वेत शर्बत-दूध-लस्सी का सेवन हितकर होता है। नित्य श्वेत वस्त्र एवं आभूषण धारण करें। उसें प्रतिदिन सुबह-शाम श्वेत वर्ण के बड़े आकृति वाले बैल को या उत्तम जाति के घोड़े एवं श्वेत चन्दन को देखना चाहिए। उसकी सखियाँ भी उस स्त्री के साथ प्रिय एवं हितकर आचरण और व्यवहार करे। पति को भी स्त्री के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए और इस प्रकार रहकर सात दिन तक सहवास का त्याग करना चाहिए। अतः सात दिनों तक रहकर आठवें दिन पति के साथ सिर सहित स्नान कर सफेद सुन्दर, बिना फटे परिधान ग्रहण करना चाहिए। वे श्वेत मालाएँ एवं श्वेत आभूषणों को धारण करें।

चरक[82] ने पुत्रेष्टि यज्ञ को वर्णित करते हुए कहा है कि "दम्पत्ति द्वारा वस्त्र धारण करने के बाद यज्ञ का ऋत्विक् घर के उत्तर या पूर्व दिशा में कुछ आगे की ओर नीची भूमि में उत्तम स्थान को देखकर गोबर और पानी से लेप कर देना चाहिए। तदुपरान्त जल छिड़क कर वेदी

---

[81] *सु०सं०*, शा० 2, पृ० 19

[82] *च०सं०*, शा० 8/10-11

बनानी चाहिए। ऋत्विक् पलाश, हिंगोट, गूलर या महुआ की लकड़ियों से वेदी पर अग्नि को उत्पन्न करें। यज्ञ के समीप शुद्ध जल का पात्र रखना चाहिए और उसमें कुश की पवित्री बनाकर डालनी चाहिए। इसी प्रकार घी को गर्म कर, स्वच्छ बर्तन में छानकर, मन्त्रों द्वारा आमन्त्रित करके यज्ञ करने योग्य बनाना चाहिए। यज्ञवेदी के पार्श्वभूमि पर सफेद उत्तम कुल के घोड़े और बैल बँधवा देनी चाहिए।

तदुपरान्त पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से युक्त दम्पत्ति का एक साथ अर्थात् स्त्री को अग्नि के पश्चिम और ऋत्विक् के दाहिनी तरफ बैठना चाहिए, तत्पश्चात् स्त्री की कामना को उसके गर्भाशय में परिपूर्ण करने के लिए ब्रह्मा को लक्ष्य करके **'विष्णुर्योनि कल्पयतु'** इस ऋचा से काम्यपुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ करना चाहिए। इसके उपरान्त मिट्टी की हाँडी में पकाई हुई खीर में अभिमन्त्रित घी मिलाकर शास्त्रीय यज्ञ के विधानानुसार तीनों आहुतियाँ देने के पश्चात् मन्त्रों से मन्त्रित जल के पात्र को पत्नी के सेवन हेतु देना चाहिए और उसे कहना चाहिए-जल सम्बन्धी सभी कार्य जलपात्र के जल से ही करें। जब यज्ञकर्म समाप्त हो जाए तब वह स्त्री सर्वप्रथम दाहिने पैर को उठाकर चलती हुई अग्नि को दाएँ करके अग्नि की प्रदक्षिणा करे। तत्पश्चात् ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति पाठ करवाकर यज्ञीय घी पत्नी को देना चाहिए। सर्वप्रथम पुरुष प्राशन करे, उसके बाद स्त्री को प्राशन कराना चाहिए। दम्पत्ति द्वारा सहवास करना चाहिए और स्वच्छ वेशभूषा व उत्तम आहार का सेवन करे। इस प्रकार आचरण करने से वे इच्छानुकूल पुत्र पैदा करने में समर्थ होते हैं। वाग्भट ने अल्पमात्रा में पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन किया है-

"उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम्।

नमस्कारपरायास्तु शुद्राया मन्त्रवर्जितम्॥"[83]

अर्थात् दम्पत्ति चौथे दिन स्नान करने के बाद पुरोहित द्वारा विधिवत् विधान से पुत्र की उत्पत्ति करवाने वाली विधि से पुत्रेष्टि यज्ञ को सम्पन्न करवाए। यह विधि शूद्रा स्त्री को छोड़कर शेष तीनों वर्णों की स्त्री द्वारा करना चाहिए। शूद्रा महिला केवल देवतादि को नमन करे। अतः इस विधि से किया गया दम्पत्ति का सहवास सन्तान को पैदा करने वाला होता है। *कश्यप*[84] द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ को इस प्रकार विवेचित किया गया है- "यज्ञ करने के लिए सिद्ध

---

[83] *अ०हृ०*,शा० 1/27

[84] *का०सं०*, शा० 5/8

मांस अर्थात् शुद्ध उड़द, चावल, वातघ्न औषधी, आठ कपालों में शुद्ध जौ का पुरोडाश एवं धान्ययुक्त समिधा तैयार करनी चाहिए।" इसके द्वारा दम्पत्ति वाणी तथा आयु दोनों से युक्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् **'आब्राह्मन्ब्राह्मण'** आदि मन्त्र से यजमान के भाग को मंत्रित करके बचा हुआ भाग पति-पत्नी को दे। उसके बाद दम्पत्ति द्वारा वैद्य को सफेद घोड़ा या बैल या हिरण दक्षिणा में देना चाहिए। दम्पत्ति द्वारा शालाग्नि से प्रतिदिन यज्ञ करके, **'आब्राह्मन्...'** मन्त्र से अभिमंत्रित, यज्ञ में बची हुई सामग्री से प्रतिदिन भोजन करना चाहिए। तदुपरान्त पति कोमल, सुखकर शयन पर पत्नी को लेटाकर, औषधी को पानी में घोलकर **'सोमः पवन'** मंत्र का एक सौ बार जाप करके, सावित्री मन्त्रोच्चारण करे। सुश्रुत द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन समुपलब्ध नहीं है। *चरकसंहिता, अष्टांगहृदय* में पुत्रेष्टि यज्ञ को करने में विरोधाभास मिलता है। अतः ज्योतिषी के अनुसार यज्ञ करना युक्तियुक्त है।

1.2.7 गर्भाधान निषेध :- महर्षि चरक[85] ने गर्भाधान से पूर्व कुछ परिस्थितियों में सहवास नहीं करने के लिए कहा है। यदि स्त्री अधोमुखी नीचे सोई हो या सोये पुरुष के ऊपर अधोमुखी स्त्री सोई हो तो सहवास नहीं करना चाहिए। पुरुष के बगल में लेटी हुई नारी के साथ सहवास न करे, इसका कारण यह है कि उत्तानावस्था में नारी के देह में वायु बलवती होकर योनि में दर्द अधिक बढ़ाता है, जिसके कारण योनि में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। पति के दाएँ भाग में सोई स्त्री का कफ गर्भाशय के मुख को आवृत्त कर देता है। जब बाएँ भाग में सोई स्त्री के साथ सहवास किया जाता है तब पीड़ित पित्त आर्तव और वीर्य को जलाकर उनकी प्रजनन क्षमता को नष्ट कर देता है।

जिसकी आयु बारह वर्ष से कम, सत्तर वर्ष से अधिक, बहुत दिनों से व्याधियुक्त या किसी व्याधि से पीड़ित हो, तो उसके साथ सहवास न करें। अतः जिस मानव की आयु कम, सत्तर वर्ष से अधिक, बहुत दिनों से रोगी या किसी भी व्याधि से आक्रान्त हो तो उसके साथ महिला द्वारा मैथुन कर्म नहीं करना चाहिए। अतः श्रेष्ठ सन्तान की इच्छा करने वाले दम्पत्ति को निरोग तथा स्वस्थ होकर सम्भोग करे। सुश्रुत तथा वाग्भट द्वारा उपरोक्त तथ्यों का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

---

[85] *च०सं०*, शा० 8/6

1.2.8 गर्भाधान संस्कार :- *अथर्ववेदसंहिता* में गर्भाधान हेतु पत्नी को शय्या पर बुलाने के लिए कहा गया है कि हे प्रेयसी ! प्रसन्न होकर पलंग पर आ जाओ, अपने जीवनसाथी के लिए वंशोत्पत्ति करो।[86] *बृहदारण्यकोपनिषद्*[87] में भी उपरोक्त विवरण समुपलब्ध होता है। पति अपनी भार्या को सहवास के लिए आवाहन करते हैं। *अथर्ववेद* में पत्नी को मैथुनकर्म के लिए प्रेरित करते हुए कहा गया है कि-

"यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥"[88]

अर्थात् जिस प्रकार यह धरा सम्पूर्ण भूतों को अपने अन्दर समाहित करती है वैसे ही हे पत्नि ! तुझे मैं गर्भ स्थापित हेतु आमन्त्रण देता हूँ। *अथर्ववेद* में अन्यत्रस्थान पर गर्भाधान को परिलक्षित करके कहा गया है कि जैसे पर्वत से निकलती हुई नदी की जलधारा में पत्ता रखा जाता है उसी प्रकार योनि में अंग-अंग से संगृहीत वीर्य को, धारण करने वाली स्त्री में गर्भबीज का आधान किया जाता है।[89]

वाग्भट ने गर्भाधान संस्कार को लक्षित करके कहा है- पुत्रेष्टि कर्म के उपरान्त पति को घी तथा दूध सहित शालीधान के भात का भोजन करना चाहिए और स्त्री को तेल तथा उड़द के विशेष आहार खाने चाहिए। तत्पश्चात् ज्योतिषी के अनुसार शुभ मुहूर्त में पहले पति को दाहिने पैर से और फिर स्त्री को बाएँ पैर से शय्या पर चढ़ना चाहिए तथा स्त्री को शय्या पर पुरुष के दाहिनी ओर रहना चाहिए। तदुपरान्त पति द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करके सहवास करना चाहिए-

"ऊँ अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठति धाता त्वां

दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति।

ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णु सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ

---

[86] *अ०वे०* 14/2/2

[87] अथ यामिच्छेद्। गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धानयापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति। *बृ०उप०* 6/4/10

[88] *अ०वे०* 5/25/2

[89] पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभूतम्। शेषो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवादधत्॥ *अ०वे०* 5/25/1

भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम्॥"[90]

अर्थात् हे प्रिये ! तुम गतिशील हो, दीर्घायु हो, तुम्हारा सर्वत्र सम्मान है, विधाता तुम्हारी सदा रक्षा करे तथा ब्रह्मा तुम्हारी रक्षा करे, तुम ब्रह्मतेज से युक्त हो जाओ। ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनीकुमार, कामदेव तथा मित्रावरुण मुझे वीर, साहसी, ओजस्वी एवं तेजस्वी पुत्र प्रदान करें। तत्पश्चात् दोनों पति-पत्नी आपस में प्रिय संवाद युक्त व्यवहारों से पुत्र-प्राप्ति के प्रति आशावान् एवं आनन्दित होकर रहें। तदनन्तर पत्नी चित्त होकर लेट जाए, उसे अपने अंगों को किसी प्रकार हिलाना नहीं चाहिए।

"उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः।"[91]

वह इस प्रकार के आसन पर स्थित होकर वीर्य को ग्रहण कर लेती है और इस स्थिति में उस स्त्री के वातादि त्रिविध दोष भी अपने-अपने स्थानों पर स्थिर रहते हैं। चरक ने गर्भाधान संस्कार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है- जब दम्पत्ति के मन में सहवास का उल्लास एवं प्रहर्ष हो तथा दोनों परस्पर अनुकूल हों, तब सुगन्ध से सुवासित, विस्तृत एवं सुन्दर, सुशोभित बिछाई गई सुखद चारपाई की व्यवस्था करके, इच्छानुकूल और लाभप्रद भोजन का समुचित मात्रा में सेवन करें, तदुपरान्त पुरुष को दाहिने पैर एवं स्त्री को बाएँ पैर से शय्या पर चढ़ना चाहिए। तदनन्तर गर्भोत्पत्ति की भावना करके मन्त्रोच्चारण करे।[92]

चरक द्वारा अन्यद् स्थान पर गर्भाधान के सन्दर्भ में कहा गया है कि- पुत्रोत्पत्ति वाली स्त्री को चाहिए कि वह उत्तान अर्थात् सीधे लेटकर ही सहवास करें और पुरुष के गर्भबीज शुक्र को ग्रहण करे। ऐसा करने से त्रिविध दोष के अपने नियत स्थान में विद्यमान रहने पर विकार पैदा नहीं होते हैं। मैथुन क्रिया पूरी करने के पश्चात् स्त्री ठण्डे पानी से स्नान करे अथवा योनि को ही शीतल जल से प्रक्षालन करें।

"तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात् : तथाहि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः।

---

[90] *अ०हृ०*, शा० 1/33

[91] *अ०हृ०*, शा० 1/34

[92] *च०सं०*, शा० 8/7-8

पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्।"[93]

सुश्रुत द्वारा गर्भाधान विधि के सम्बन्ध में कहा गया है कि- **"तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन।"**[94] अर्थात् कामवासना से युक्त दम्पत्ति के संयोग में वायु शरीर में तेज को उत्तेजित करती है। तत्पश्चात् तेज और वायु की सक्रियता से शुक्र पुरुष के पेनिस से निकलकर स्त्री की योनि में पहुँचता है और वहाँ आर्तव में मिल जाता है। तदनन्तर अग्नि एवं सोम के संयोग से सृजित होता हुआ गर्भ गर्भाशय में आश्रय लेता है।

सुश्रुत अन्य स्थान पर गर्भाधान विधि को बताते हुए कहते हैं- जिस प्रकार अग्नि के आश्रय लेने के कारण घी का गोला पिघलकर फैलता है उसी प्रकार ही पुरुष-स्त्री के सहवास के समय स्त्रियाँ भी आर्तव का विसर्जन करती हैं।[95] गर्भाधान से दो प्रकार के आर्तव का सम्बन्ध है। प्रथम मासिक आर्तव गर्भाधान के स्वागत की तैयारी करता है। द्वितीय आर्तव स्त्रीबीज के गर्भ-धारण का प्रत्यक्ष प्रयास करता है। जब पुंसबीज एवं स्त्रीबीज का मिलन पूर्ण होता है तब गर्भधारण सम्पन्न होती है। यह आर्तव 4 से 6 दिन तक रहता है तथा स्त्री में विभिन्न अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहता है, जैसे- यौवनारम्भ से पूर्व, गर्भावस्था में, स्तन्यपान के दिनों में एवं रजोनिवृत्ति के समय।

कश्यप गर्भाधान[96] को लक्षित करके कहते हैं- पति **'अपोदेवीरुपसृज'** मन्त्र द्वारा पत्नी को नस्य देकर, उसे अपने दक्षिण भाग में शयन कराएँ । पुरुष बाएँ भाग से स्त्री के ऊपर लेटे हुए, संतान प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे सम्भोग करे। जब दोनों एक साथ स्खलित हो जाए, तब स्त्री उसे धारण करके अलग हो जाए, तदुपरान्त स्त्री जल से योनि का प्रक्षालन करे।

कामशास्त्र के विविध ग्रन्थों में उत्तान अवस्था में किये गए सहवास को सम्पुट बन्ध कहा गया है। *स्मरदीपिका* ग्रन्थ में स्पष्टतः विवेचित है कि-

---

[93] *च०सं०*, शा० 8/6

[94] *सु०सं०*, शा० 3/4

[95] घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे॥ *सु०सं०*, शा० 2/36

[96] *का०सं०*, शा० 5/8

सम्प्रसार्य्य स्त्रियाः पादौ शय्यार्पितकफोणिकः।

भगे लिङ्गस्य संयोगाद्रमते सम्पुटो हि सः॥[97]

अर्थात् स्त्री के दोनों पाँवों को शय्या पर फैलाकर, कोहनी रखते हुए पति जब योनि में अपने पेनिस को पूरी तरह डालकर रमण करता है, तब वह 'सम्पुट' बन्ध होता है। वस्तुतः सम्पुट का अर्थ है- सिकोड़ना। अतः जब पत्नी अपने पैरों को फैला कर सीधा कर देती है, तब स्वाभाविक रूप से दोनों जाँघों के मिलने से योनि संकुचित हो जाती है।

अतः पुरुष का लिङ्ग स्त्री की योनि में घर्षित होने से स्त्री को अत्यधिक सुखानुभूति होती है। वात्स्यायन[98] ने भी उपरोक्त सम्पुटक बन्ध को स्वीकार किया है।

1.2.9 सद्य गृहीतगर्भा के लक्षण :- पति-पत्नी द्वारा सहवास के दौरान जब गर्भाशय शुक्राणु का ग्रहण कर लेता है उस समय स्त्री द्वारा इसका आभास होता है। वाग्भट द्वारा गर्भाधान को वर्णित करते हुए कहा गया है-

"लिङ्गं तु सद्योगर्भाया योन्या बीजस्य संगहः।

तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रास्राननुबन्धनम्।

हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम्॥"[99]

अर्थात् जब योनि द्वारा बीज का ग्रहण कर लिया जाता है तब स्त्री को एक विशिष्ट सन्तुष्टि की अनुभूति होती है। उसे गर्भाशय में भारीपन, स्फुरण, रजवीर्य का योनि से बाहर न निकलना, हृदय में नूतन स्पन्दन, ऊँघाई, पिपासा, ग्लानि एवं रोमांच आदि लक्षण दिखाई देते हैं। अनेक स्त्रियों को इन लक्षणों का तुरन्त आभास हो जाता है। भावमिश्र[100] एवं सुश्रुत[101] ने इन लक्षणों के अतिरिक्त थकान एवं पैरों में भारीपन आदि लक्षण बताए हैं।

---

[97] *स्म०दी०* 90

[98] ऋजुप्रसारितावुभावप्युभयोश्चरणाविति संपुटः। *का०सू०*, सं० 6/16

[99] *अ०हृ०*, शा० 1/35-36

[100] *भा०प्र०*, पू० 3/42

[101] श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरबन्धः स्फुरणं च योनेः॥ *सु०सं०*, शा० 3/13

चरकसंहिता[102] में गर्भनिर्माण के सन्दर्भ में उदहरण देते हुए बताया गया है कि जैसे साफ किए हुए कपड़े पर उत्तम रंग अधिक डाला जाता है, तब वह वस्त्र को डालने के साथ रंग देता है। या जिस प्रकार दूध में दही डालने पर दही के मिलते ही दूध अपने स्वभाव को छोड़कर सम्पूर्णतः दही बन जाता है उसी प्रकार वीर्य रज के साथ मिलकर गर्भ का रूप धारण कर लेता है।

1.2.10 गर्भ की पुष्टि :- स्त्री को द्वितीय मास में गर्भाधान से सम्बन्धित कुछ लक्षण दिखाई देते हैं जिसके द्वारा स्पष्ट होता है- वह गर्भवती हो गई है। वाग्भट द्वारा गर्भ के व्यक्त चिह्न निम्नोक्त है-

"तत्र व्यक्तस्य लक्षणम्। क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छाच्छर्दिररोचकः॥

जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्। अम्लेष्टता स्तनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ॥

पादशोफो विदाहोऽन्ये श्रद्धाश्च विविधात्मिकाः।"[103]

अर्थात् उसके शरीर में कमजोरी, गर्भाशय में भारीपन, गर्भ के कारण मूर्च्छा होना, वमन, भोजन की इच्छा न होना, बारम्बार जँभाई आना, लार का निकलना, शरीर में शिथिलता, बारम्बार रोमांच होना, खट्टे पदार्थों के खाने की इच्छा, स्तनों का मोटा होना, स्तनों में दूध की उत्पत्ति होना, स्तन के अगले भाग का काला पड़ना, पाँव में सूजन आना, जलन, अन्य प्रकार का खाना-पीना, देखना, सुनना, घूमना आदि इच्छाएँ उत्पन्न होना। ये सभी लक्षण प्रायशः एक साथ गर्भिणी में नहीं देखे जाते, लेकिन कुछ-न-कुछ लक्षण प्रायः गर्भिणी में मिलते हैं। भावप्रकाश में गर्भ-पुष्टि के उपर्युक्त लक्षण[104] स्वीकृत हैं परन्तु चरक एवं सुश्रुत ने गर्भ पुष्टि का विवेचन नहीं किया है।

1.3.1 पुंसवन संस्कार का अर्थ :- गर्भधारण का निश्चय होने के बाद गर्भस्थ शिशु को पुंसवन संस्कार द्वारा अभिषक्त कराया जाता था। वस्तुतः पुंसवन का अभिप्राय ऐसे कर्म से था,

---

[102] *च०सं०*, शा० 8/17

[103] *अ०हृ०*, शा० 1/50-51

[104] *भा०प्र०*, पू० 3/43-44

जिसके करने के उपरान्त निश्चित ही पुरुष की उत्पत्ति होती थी। **'पुमान् सूयते अस्मात्'** अर्थात् जिससे सन्तान स्वस्थ एवं बलिष्ट पैदा हो, उसे पुंसवन कहते हैं। *अथर्ववेदसंहिता*[105] में विवेचित है कि इस अवसर पर मंत्रों द्वारा पुत्र की उपयोगिता को दर्शाया गया है। जो महिला पुत्रेच्छा करती थी तथा जिससे पुत्र की प्राप्ति होती थी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा होती थी एवं सामाजिक कार्यों में सर्वोच्च पद दिया जाता था।

यह परम्परा उस समय से चली आ रही है जब युद्ध के लिए पुरुषों की अधिक आवश्यकता होती थी और प्रत्येक युद्ध के बाद पुरुष की संख्या में कमी हो जाती थी। यदि सन्तान लड़की भी हो तब यही आशा की जाती थी कि वह पुत्र को उत्पन्न करेगी। इसलिए गर्भ की रक्षा करना तथा सर्वोत्तम संस्कारयुक्त करना, पुंसवन संस्कार का ध्येय है।

1.3.2 पुंसवन संस्कार :- गर्भधारण के पश्चात् दूसरे अथवा तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार किया जाता था। *अथर्ववेद* में एक उदाहरण द्वारा पुसंवन संस्कार को परिभाषित किया गया है-

"आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।

आ वीरोऽत्र जायताम् पुत्रस्ते दशमासस्य॥"[106]

अर्थात् जैसे धनुष पर बाण का सन्धान कराया जाता है वैसे ही आपके गर्भाशय में पुत्रोत्पत्ति हेतु शुद्ध बीज की स्थापना हो। दस माह के उपरान्त आपके गर्भाशय से शूरवीर पुत्र की उत्पत्ति हो। आप पुत्र को उत्पन्न करो, तत्पश्चात् फिर से अच्छी सन्तान को प्रसवित करो। जिस शिशु का जन्म हो गया है, उन जन्म लिए हुए पुत्रों की तुम माँ बनो एवं भविष्य में भी तुम प्रसव करो।

यहाँ यह ज्ञात नहीं होता है कि यज्ञ किए जाने वाले कर्म का यथार्थ स्वरूप क्या था ? परन्तु उपर्युक्त मन्त्र इसका साक्ष्य है कि कोई भी कर्म इन प्रार्थनाओं से निष्पन्न होता था। ऋचाओं में इस कार्यों को प्रजापत्य कहा गया है- **"कृणोमि ते प्राजापत्यम्"** अर्थात् मैं

---

[105] पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्। भवासि पुत्राणां माता जनयाश्च यान्॥ *अ०वे०* 3/23/3

[106] *अ०वे०* 3/24/2

प्रजापति सम्बन्धी संस्कार करता हूँ। तदुपरान्त गर्भिणी को किसी प्रकार की औषधीय वनस्पति भी इस मन्त्र के साथ दी जाती थी। *अथर्ववेद* में वर्णित है कि-

"यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरूधां बभूव।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥"[107]

अर्थात् जिन औषधीय वृक्ष के जनक द्युलोक हैं, माता धरा हैं, सागर आधार है अर्थात् जिनकी वृद्धि सागर द्वारा होती है, ये दैव्य औषध पुत्रप्राप्ति हेतु आपकी सहायता करती रहें। *अथर्ववेदसंहिता* के छठे मण्डल के सूक्त में पुंसवन संस्कार के सन्दर्भ में कहा गया है-

"शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥"[108]

अर्थात् जब पीपल शमी वृक्ष की किसी शाखा पर उत्पन्न होता है, तो पुंसवन कराया जाता है, जिससे पुत्रोत्पत्ति होती है। अतः इसे गर्भिणी को दिया जाता है। इसका अभिप्राय है कि- यदि शमीवृक्ष पर पीपल उत्पन्न हो जाता है, तब उसकी औषधी बन जाती है। यह औषधी जब गर्भवती स्त्री को देते हैं तो उसे पुत्र की प्राप्ति होती है। सम्भवतः जब पक्षी पीपल का फल खाता है तब यदि बींट या मल शमी के वृक्ष की किसी शाखा पर गिरती होगी, जिससे पीपल का वृक्ष उत्पन्न होता होगा।

चरक[109] ने पुंसवन संस्कार को विवेचित करते हुए औषधियों का वर्णन किया है- "जब गर्भिणी दूसरे एवं तीसरे महीने में होती थी तब उसे गौशाला में पैदा हुए बरगद के वृक्ष की पूर्व या उत्तर दिशा में फैली शाखाओं से दो पूर्ण नूतन कोपलों (फुनगियों) को लेकर दो उड़द के दाने तथा दो सफेद सरसों के दाने के साथ दही में पीसकर पुष्य नक्षत्र में सेवन के लिए दी जाती थी। अथवा गाय के गोबर (गोष्ठ) में उत्पन्न जीवक, ऋषभक, चिचिड़ा और सहचर इन सभी औषधियों को एक साथ या पृथक्-पृथक् जितनी मात्रा में लेना सुलभ हो, उसे लेकर तथा पीसकर, दूध में क्षीरपाक विधि से पकाकर पुष्यनक्षत्र में गर्भिणी को सेवन

---

[107] *अ०वे०* 3/24/6

[108] *अ०वे०* 6/11//1

[109] *च०सं०*, शा० 8/19

करना चाहिए या पुष्यनक्षत्र में ही चावल के आटे को पानी डालकर पका ले और उससे जो भाप निकले उसे गर्भिणी सूँघ ले, तत्पश्चात् उस पके आटे में थोड़ा जल मिला लेना चाहिए, जिससे वह द्रव बन जाता है, तदुपरान्त उसमें रूई भिगोकर गर्भिणी की गर्दन को चौखट पर रखकर, सिर को नीचे की ओर करने के बाद हाथ में लिए हुए रूई से उस द्रव को दाईं नासिका छिद्र में निचोड़कर टपका दें।

इनसे अलग यदि ब्राह्मण विद्वान्, वृद्ध स्त्रियाँ जो भी अन्य औषधियाँ बताएँ, उनका प्रयोग करें। सुश्रुत द्वारा पुंसवन संस्कार का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। वाग्भट ने चरक के मत को माना है। *अष्टांगहृदय* में भी एक अन्य औषधी का वर्णन किया गया है-

'क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नासापुटे स्वयम्। पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद्वामे दुहितृवाञ्छया॥'[110]

अर्थात् सफेद फूल वाली कण्टकारी की जड़ को गाय के दूध में पीसकर गर्भिणी के दाहिने नासिका छिद्र में डालने पर पुत्र उत्पन्न होता है तथा यह औषध को बाई नासिकारन्ध्र में डालने पर कन्या उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार लक्ष्मणा की जड़ को गाय के दूध के साथ पीसकर तथा इसके रस को पुष्य नक्षत्र में गर्भिणी की नाक में या उसे मुख द्वारा पीने पर पुत्रोत्पत्ति होती है अथवा बरगद के आठ अंकुरों को गोदुग्ध में पीसकर एवं इस रस को नासिका अथवा मुख द्वारा ग्रहण करना चाहिए।

1.4.1 सीमन्तोन्नयन संस्कार :- जब स्त्री तीन महीने की गर्भवती हो जाती थी तब सीमन्तोन्नयन होता था। इस संस्कार में पति अपनी गर्भवती स्त्री के केशों को ऊपर उठाता था। सम्भवतः इस संस्कार का प्रयोजन विश्वासमूलक एवं व्यावहारिक था। जनमानस का यह विश्वास था कि गर्भिणी को हानि पहुँचाने वाली शक्तियाँ अवरुद्ध कर सकती हैं। अतः इस निवारण हेतु प्रमुख संस्कार की जरुरत पड़ी।

आश्वलायनस्मृति[111] में वर्णित है कि "रुधिराशन में तत्पर कुछ दुष्टप्रवृत्ति की राक्षसी पत्नी के प्रथम गर्भस्थ शिशु को भक्षण हेतु आती हैं। अतः पति को चाहिए कि उसके निवारण हेति 'श्री' की उपासना करे, क्योंकि लक्ष्मी गर्भिणी को रक्षक बनकर राक्षसियों का नाश कर

---

[110] *अ०हृ०*, शा० 1/40

[111] *वी०मि०सं०*भा० 1, पृ० 172

देती हैं। जब उसका प्रथम गर्भकाल होता है तब क्रूर मांसभक्षण करने वाली गर्भ पर अधिकार कर लेती है तथा उसको हानि पहुँचा देती है अर्थात् गर्भ को खा जाती है।"

इसलिए इन मांसभक्षणियों का नाश करने हेतु "सीमन्तोन्नयन" नामक संस्कार किया जाता है। इसका प्रयोजन गर्भिणी को ऐश्वर्यवान् और गर्भ में पल रहे शिशु को लम्बी आयु प्राप्त कराना था।

सुश्रुत ने शारीरस्थान[112] में कहा है कि- **"पंच संधयः शिरसि विभक्ताः सीमान्ताः, तत्राघाते वा उन्मादभयचेष्टानाशैः मरणम्"** अर्थात् मनुष्य का सिर पाँच संधियों में विभक्त है, उनमें चोट लगने से, उन्माद होने से, भय से, चेष्टा न कर सकने से मृत्यु हो सकती है। सिर की संधियों के कारण, इसको 'सीमन्त' कहा जाता है। सिर में मस्तिष्क रहता है, जिसके कारण सोचते-विचारते हैं। अतः सीमन्तोन्नयन का आशय है- मस्तिष्क का पूर्ण विकास। जिस संस्कार में माता का ध्यान मस्तिष्क के विकास पर केन्द्रित हो जाता है।

सुश्रुतसंहिता में अन्य स्थान पर परिलक्षित किया गया है- **"पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धितरं भवति। षष्ठे बुद्धिः। सप्तमे सर्वाङ्ग प्रत्यंग विभागः प्रव्यक्ततरः अष्टमेऽस्थिरी भवति ओजः तत्र जातः चेन्न जीवेत् निरोजस्त्वात्"**[113] अर्थात् गर्भस्थ शिशु के पंचम मास में मन सचेत होता है, षष्ठम मास में बुद्धि, सप्तम मास में अंग-प्रत्यंग अधिक व्यक्त हो जाते हैं एवं आठवें महीने में उत्पन्न नवजात शिशु में ओज न रहने से जीवित नहीं रहता। अतः सुश्रुत कथनानुसार पाँचवें महीने में गर्भस्थ शिशु का मन पूर्व के महीनों से अधिक प्रबुद्ध हो जाता है। इसीलिए सीमन्तोन्नयन का समय चौथा महीना सम्यक् है। *सामवेद* में सीमन्तोन्नयन संस्कार के विषय में वर्णित है कि-

"ओम्। येनादितेः सीमानं नयति प्रजाययतिर्मंहते सौभगाय।

तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥"[114]

---

[112] *सु०सं०*, शा० 3

[113] *सु०सं०*,शा० 3/30

[114] *सा०वे०*, मन्त्र ब्राह्मण 1/5/2

अर्थात् जिस प्रकार प्रजापति सौभाग्य के लिए अदिति की सीमा निर्धारित करता है, वैसे ही मैं अपनी सन्तान की दीर्घायु के लिए तुम्हारे बालों को सँवारता हूँ।

जिस प्रकार वृक्ष उर्वर भूमि पर अधिक वृद्धि करता है उसी प्रकार तुम भी फलवती हो जाओ। दयानन्द सरस्वती ने भी कहा है-

"चतुथे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।

आपूर्यमाक्षपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्॥"[115]

अर्थात् गर्भमास के चतुर्थ मास में शुक्लपक्ष होने पर जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उस दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करना हितकारक होता है।

इसमें गर्भिणी को उस दिन उपवास करना होता था। वास्तविक विधि-विधान, मातृपूजा, नान्दीश्राद्ध तथा प्राजापत्य आहुति आदि कार्यों से आरम्भ होता था। तदुपरान्त पत्नी अग्नि के पश्चिमी भाग में एक कोमल आसन पर बैठ जाती थी एवं पति गूलर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छे, घास के तीन गुच्छे, तीन सफेद चिह्नवाले साही के काँटे, काष्ट की यष्टि तथा **"भूर्भुवः स्वः"** आदि मंत्र बोलता हुआ पत्नी के बालों को ऊपर उठाकर सँवारता था।[116]

गर्भिणी के केशों को सँवारने के पश्चात् पति तृतीय सूत्रों के धागे के साथ गूलर की शाखा पत्नी के गले के चारों ओर बाँध देता था। इस अवसर पर वह एक मन्त्र पढता था- **"अयमूर्ज्जस्वितो वृक्ष ऊर्ज्जेव फलिनी भव"**[117] अर्थात् यह वृक्ष ऊर्जावान् है, तू भी इसी वृक्ष के समान ऊर्जा से युक्त तथा फलवती हो जाओ। उसके बाद पति अपनी पत्नी से चावल, तिल, घी की तरफ देखने तथा सन्तान, पशु, सौभाग्य एवं पति के दीर्घायु की कामना करने के लिए कहता था। यह संस्कार ब्राह्मण भोजन के उपरान्त समाप्त होता था। संस्कार समाप्त होने के बाद गर्भिणी आकाश में तारे निकलने तक मौन रहती थी। तत्पश्चात् वह गाय के बछड़े का स्पर्श करती थी, जो पुंसन्तति का प्रतीक माना जाता था।

---

[115] *सं०भा०* 3/1-2

[116] *पा०गृ०सू०* 1/15/5

[117] *पा०गृ०सू०* 1/15/6

"सीमन्तोन्नयन संस्कार" का विवेचन अथर्ववेद एवं आयुर्वेदीय संहिताओं में समुपलब्ध नहीं होता। यह सम्भावना है कि सीमन्तोन्नयन संस्कार का औषधीविषयक नहीं होने के कारण आयुर्वेदज्ञों ने इसका विवेचन नहीं किया। स्त्री को गर्भधारण का पूर्णतः आभास द्वितीय मास में हो जाता है। इसके बाद उसके सद्वृत्त का विशेषतया ध्यान रखना होता था। इसी क्रम में गर्भस्थ शिशु का मासानुमासिक विकास होता था, जिसका अग्रिम अध्याय में पर्यालोचन किया जाएगा।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य में सोलह संस्कारों का विशेष महत्त्व है, जिनमें गर्भाधान एक प्रमुख संस्कार के रूप में विवेचित है। इसमें मैथुनकर्म द्वारा स्त्री और पुरुष के बीजों का मिलन होता है। तदुपरान्त गर्भ बनकर उसका पोषण प्रारम्भ हो जाता है। गर्भ के बढ़ने की गति बहुत तेज होती है। यदि मनुष्य के जन्म के संबंध में चर्चा करें तो प्राचीन एवं आधुनिक चिकित्सक नौ मास के उपरान्त स्वस्थ शिशु का जन्म स्वीकार करते हैं। इसी अन्तराल में किसी-किसी गर्भिणी को प्रासविक दर्द सातवें, आठवें महीने में भी आरम्भ होते हैं और शिशु का जन्म होता है।

इन नौ मासों में गर्भस्थ शिशु की वृद्धि एवं विकास प्रत्येक मास में अलग-अलग होता है, जिसे अर्वाचीन चिकित्सक अल्ट्रासाउण्ड एवं सोनोग्राफी के माध्यम से ज्ञात करते हैं। प्राचीन समय में इन यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, परन्तु फिर भी चिकित्सक दर्शन, स्पर्शन परीक्षा द्वारा गर्भस्थ शिशु की वृद्धि एवं विकास ज्ञात कर लेते थे। यदि आयुर्वेद में गर्भिणी के गर्भाधान, आहार-विहार आदि विषयों की चर्चा करें तो आयुर्वेद की संहिताओं में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। आयुर्वेदीय बृहत्त्रयी में गर्भिणी के गर्भ का मासानुमासिक वृद्धि एवं विकास को बताया गया है।

2.1.1 प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप :- सन्तानोत्पत्ति एवं रति सुख की कामना से नर एवं नारी परस्पर मैथुन कर्म करने के क्रम में शुद्ध रज एवं शुक्र के सम्मिलन से पैदा होने वाला गर्भ स्त्री के गर्भाशय में प्रादुर्भूत होता है।[118] तदुपरान्त एक मास के बाद नारी में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं, जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि स्त्री गर्भवती हो गई है, जैसे आर्तव-अदर्शन, अन्न की अभिलाषा, खट्टा खाने की इच्छा, अरुचि, छर्दि, गुरुगात्रता, चक्षु-ग्लानि, स्तनों में स्तन्योत्पत्ति, निद्रा, जम्भाई, मूर्च्छा आदि। प्रथम मास में गर्भ कलल रूप में गर्भाशय में अवस्थित होता है। *चरकसंहिता* में गर्भिणी के मासानुमासिक वृद्धि एवं विकास के विषय में कहा गया है कि-

"स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः

---

[118] कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणित-शुक्रजः। गर्भः सञ्जायते नार्याः स जातो बाल उच्यते॥ *शा०सं०*, आ० 6/16 ;
गर्भाशय चित्र परिशिष्ट-5 में देखें

सर्वधातुकललीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः॥"[119]

अर्थात् प्रथम मास में सभी गुणवान् पञ्च महाभूतों का संग्रह करने वाली आत्मा गर्भरूप धारण करके, सप्त धातुओं से संयुक्त होकर गाढ़े कफ के सदृश स्वरूप का 'कलल' बन जाता है, जिसमें शरीर के अवयव व्यक्त नहीं होते, कुछ अंगावयव होते हैं एवं कुछ अव्यक्त होते हैं। सुश्रुत[120] भी प्रथम मास में गर्भ का विकास कलल रूप में स्वीकारते हैं। वाग्भट ने भी गर्भ के प्रथम मास में "कलल" रूप को स्वीकारते हुए कहा है कि इसमें लिंग के लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं एवं दूसरे महीने में पुंसवन संस्कार करने के लिए कहा है।[121] *काश्यपसंहिता* में पहले महीने का वर्णन नहीं मिलता। *हारीतसंहिता*[122] में परिलक्षित है कि- पहले दिन दम्पत्ति का संयोग होने पर वीर्य कलल की आकृति वाली होती है, दस दिन में बुद्बुदाकार रक्त की आकृति, पन्द्रह दिनों में घन, बीस दिनों में मांस पिण्ड, पचीस दिनों के बाद पञ्चमहाभूत युक्त होकर एक मास में पाँचों महाभूत स्पष्ट हो जाते हैं।

नवयुगीन चिकित्सकों ने प्रथम मास के अन्तिम दिनों में गर्भ की लगभग लम्बाई ४ मिलीमीटर एवं गर्भ का भार १.२५ से १.५० ग्राम तक हो जाता है, ऐसा कहा है। गर्भ के तृतीय सप्ताह से ही हृदय में सूक्ष्मतः स्पन्दन होने लगता है। प्रमस्तिष्क एवं पुटिकाएँ अव्यक्तावस्था में दिखाई देती है। पेशियाँ विकसित होने लगती है एवं हाथ-पैर अंकुरित होने लगते हैं।

2.1.2 द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप :- द्वितीय मास में यह पूर्णतः ज्ञात हो जाता है कि स्त्री ने गर्भधारण कर लिया है। इस मास में गर्भ घनाकार हो जाता है। *चरकसंहिता* में गर्भ के सन्दर्भ में वर्णित है कि-

"द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा।

---

[119] *च०सं०*, शा० 4/9

[120] तत्र प्रथमे मासि कललं जायते। *सु०सं०*, शा० 3/18

[121] अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कललीभवेत्। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्॥ *अ०हृ०*, शा० 1/37

[122] *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/17-19

तत्रः घनः पुरुषः, पेशी स्त्री, अर्बुदं नपुंसकम् ॥"[123]

अर्थात् द्वितीय मास में गर्भ की घन संज्ञा होती है अर्थात् गर्भ घन की आकृति के सदृश होता है। इस अवस्था में वह तीन प्रकार का रूप धारण करता है- पिण्ड, पेशी एवं अर्बुद आकार। यदि गर्भ पिण्डाकृति से युक्त हो तब पुरुष की उत्पत्ति, पेशी की आकृति से युक्त हो तब स्त्री की उत्पत्ति एवं यदि अर्बुद की आकृति से युक्त हो तब नपुंसक सन्तान की उत्पत्ति होती है। सुश्रुत[124] एवं वाग्भट[125] भी चरक द्वारा उक्त गर्भ के द्वितीय मास के स्वरूप को स्वीकारते हैं। *काश्यपसंहिता* में गर्भ के द्वितीय मास का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता। हारीत ने कहा है कि- **"पञ्चाशत्तद्दिनसंप्राप्ते अङ्कुराणाञ्च सम्भवः।"**[126] अर्थात् गर्भ में पचास दिनों के बाद विभिन्न अंगों की उत्पत्ति हो जाती है।

द्वितीय मास के समाप्त होते-होते गर्भ की लम्बाई लगभग डेढ़ इंच या ४ सेंटीमीटर हो जाती है। उसका सामान्य स्वरूप मानवीय भ्रूण जैसा दिखाई पड़ने लगता है। नाक, कान और पलकों की आकृति स्पष्ट होने लगती है। शाखाओं पर अंगुलियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है। निचला हिस्सा जो पुच्छ के समान दिखाई देता है, वह भाग लुप्त हो जाता है। गर्भ के शरीर की वक्रता कुछ कम हो जाती है, सिर ऊपर उठने लगता है। नाल में स्थित आँत का भाग पेट में आ जाता है, नाल में ऐंठन पड़ने लगती है, उसकी कुछ उपास्थियाँ हड्डियों में परिवर्तित होकर कठोर हो जाती है। छठे सप्ताह के अन्त में गुप्तांगों के स्थान पर ऐसे लक्षण उभरने लगते हैं, जिनके द्वारा किसी सीमा तक गर्भ के लिंग की पहचान की जा सकती है। दूसरे महीने के अन्तिम दिनों में उसके हाथ-पैर और धड़ में सूक्ष्म गतियाँ दिखाई देने लगती है।

2.1.3 तृतीय मास में गर्भ का स्वरूप :- इस मास में गर्भस्थ शिशु के सभी अवयवों पैदा हो जाते हैं। चरक ने कहा है कि- **"तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च**

---

[123] *च०सं०*, शा० 4/10

[124] *सु०सं०*, शा० 3/18

[125] *अ०हृ०*, शा० 1/49

[126] *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/19

यौगपद्येनाभिनिर्वतन्ते"[127] अर्थात् तीसरे महीने में गर्भ में विद्यमान शिशु की पाँचों इन्द्रिय-कर्मेन्द्रियाँ एवं सभी अंग एक साथ पैदा होते हैं। परन्तु सुश्रुत ने गर्भस्थ शिशु के पाँच पिण्डक स्वीकार किए हैं-

"तृतीये हस्पपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वतन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति।"[128]

अर्थात् तीसरे महीने में गर्भस्थ शिशु में हाथ, पैर, शिर के पाँच पिण्डक अर्थात् सम्भवतः आँख, कान, नाक एवं मुख उभर आते हैं और उसके अंग-प्रत्यंग भी सूक्ष्म होते हैं। वाग्भट ने गर्भस्थ शिशु के उपरोक्त अंगों का उत्पन्न होना बताया है एवं गर्भस्थ शिशु को इस मास में सुख-दुःख की अनुभूति होती है-

"सममेव हि मूर्द्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः।"[129]

कश्यप ने भी गर्भस्थ शिशु के तृतीय मास के उपर्युक्त अंगों को माना है एवं इस मास में गर्भ स्पन्दन करने लगता है- **"तृतीये मासि युगपन्निर्वर्तन्ते यथाक्रमम्। प्रस्पन्दते चेतयति वेदनाश्चावबुद्धयते॥"**[130] *हारीतसंहिता*[131] में भी पूर्वोक्त गर्भ के हाथ-पाँव आदि अंगों का विभाजन बताया गया है। *अथर्ववेदसंहिता* में गर्भस्थ शिशु के तृतीय मास के विकास का वर्णन नहीं मिलता है।

अतः इस मास के अन्तिम दिनों तक गर्भिणी दौहृद कहलाती है, क्योंकि उसमें स्वयं एवं गर्भस्थ शिशु दोनों का हृदय विद्यमान होता है। गर्भस्थ शिशु को सुख-दुःख की अनुभूति होती है, इसलिए वह गर्भशरीर उसी समय से सुख से रहने के लिए एवं दुःख को दूर करने के लिए स्पन्दित होने लगता है।

गर्भस्थ शिशु पिछले जन्मों के अनुभूत सुखजनक इन्द्रिय-विषयों की इच्छा करता है। उसकी गर्भेच्छा माता की इच्छा से प्रकट होती है। इसीलिए विद्वान् इस गर्भहृदय के साथ माता के हृदय की सम्बद्धता को दौहृद कहते हैं। अतः इस महीने में गर्भ की लम्बाई लगभग

---

[127] *च०सं०*, शा० 4/11

[128] *सु०सं०*, शा० 3/18

[129] *अ०हृ०*,शा० 1/55

[130] *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय०, पृ०102

[131] *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/20

७ सेंटीमीटर हो जाती है। धड़ से सिर, गर्दन द्वारा विभक्त हो जाता है। गर्भ के हाथ-पैर की अंगुलियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है। उन पर नाखूनों के चिह्न उभरने लगते हैं। गर्भ की बाह्य जननेन्द्रियाँ स्पष्ट हो जाती है, जिसके द्वारा उन्हें देखकर आसानी से पुत्र या पुत्री होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

2.1.4 चतुर्थ मास में गर्भ का स्वरूप :- गर्भिणी के चौथे मास में गर्भ स्थिर हो जाता है। उसमें अब उपद्रवों की सम्भावना नहीं रहती। अतः उसके बाद गर्भस्थ स्त्री का शरीर गुरु अर्थात् भारी होने लगता है। चरक गर्भस्थ शिशु के मासानुमासिक विकास का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

"चतुर्थे मास स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्मात्तदा गर्भिणी

गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण॥"[132]

सुश्रुत ने इस मास में गर्भस्थ शिशु के अंग-प्रत्यंग एवं चेतना धातु का स्पष्ट होना बताया है- **"चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति।"**[133] अर्थात् गर्भस्थ शिशु के सभी अंग-प्रत्यंग स्पष्टतया दिखाई देते हैं। गर्भहृदय के अधिक विकसित होने से "चेतनाधातु" का भी प्रादूर्भाव हो जाता है। चरक ने जहाँ तृतीय मास के अन्तिम दिनों में गर्भिणी को दौहृद की संज्ञा दी है, वहीं सुश्रुत इस मास में गर्भस्थ स्त्री को दौहृद कहते हैं, क्योंकि गर्भ इस मास में इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि अर्थों में रुचि दिखाने लगता है। इस अवस्था में यदि गर्भिणी की इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती, तो वह कुब्ज, कुणि, खञ्ज, जड़, वामन, विकृताक्ष और अनक्ष सन्तान को जन्म देती है। इसीलिए गर्भिणी को जिस वस्तु को खाने की, घूमने की एवं देखने की इच्छा हो उसे पूरा करना चाहिए।

वाग्भट[134] ने गर्भ के चतुर्थ मास के स्वरूप में चरक द्वारा कथित वक्तव्य को माना है। *काश्यपसंहिता*[135] में भी गर्भाशय का स्थिर होना एवं गर्भिणी के शरीर का गुरु होना बताया

---

[132] *च०सं०*, शा० 4/20

[133] *सु०सं०*, शा० 3/18

[134] चतुर्थे व्यक्ताऽङ्गानाम्, *अ०हृ०*, शा० 1/57

है। हारीत[136] इस मास में गर्भ के सिर का सारवत् एवं रोएँ की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं। अतः इस मास में गर्भिणी को अपना शरीर विशेष भारी प्रतीत होता है, क्योंकि इस महीने में गर्भ की विशेष वृद्धि एवं विकास आरम्भ हो जाता है। इस मास के अन्तिम सप्ताह तक गर्भ का भार ४०० ग्राम हो जाता है। इसमें गर्भ की लम्बाई लगभग २२ सेन्टीमीटर हो जाती है। उसके सिर और शरीर पर रोम प्रकट होने लगते हैं। वृषण वंक्षणी नलिका आ जाता है। उसके चेहरे की आकृति स्पष्ट हो जाती है।

2.1.5 पञ्चम मास में गर्भ का स्वरूप :- इस मास में गर्भिणी कमजोर हो जाती है, क्योंकि अन्य महीनों की अपेक्षा इसमें मांस एवं रक्त की वृद्धि अधिक होती है। चरक ने गर्भ के मासानुमासिक वृद्धि को लक्षित करके कहा है कि-

"पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो

मासेभ्यः, तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण।"[137]

सुश्रुत ने कहा है कि **"पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति"** अर्थात् पाँचवें महीने में गर्भ के मन का अधिक विकास होता है। यहाँ पर चरक एवं सुश्रुत के वक्तव्य में विरोधाभास हो रहा है, क्योंकि चरक ने इस मास में मन के विकास का वर्णन नहीं किया है। परन्तु वाग्भट[138] के कथनानुसार इस महीने में गर्भस्थ शिशु में चेतना पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है।

कश्यप[139] भी गर्भिणी के पाँचवें मास में चरक द्वारा कथित वक्तव्य को मानते हैं। हारीत ने इस मास में गर्भ का सजीव होना स्वीकार किया है- **"पञ्चमे तु सुजीवः स्यात्।"**[140]

इस महीने में गर्भ की लम्बाई ३० सेंटीमीटर और भार ४८० ग्राम के लगभग हो जाता है। टाँगों में वृद्धि होती है। काय की अपेक्षा सिर इस महीने में बड़ा होता है। इस महीने में गर्भस्थ शिशु के हाथों एवं पैरों की अंगुलियों को मोड़ने एवं फैलाने की प्रतिवर्त गतियाँ

---

[135] सूक्ष्मप्रव्यक्तकरणस्तृतीये तु मनोऽधिकः। चतुर्थे स्थिरतां याति गर्भः कुक्षौ निरामयः॥ *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय०, पृ०103

[136] सार्द्धमासत्रये प्राप्ते सिरश्च सारवद्भवेत्।। चतुर्थके च लोमानां सम्भवश्चात्र दृश्यते। *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/20-21

[137] *च०सं०*, शा० 4/21

[138] चेतनायाश्च पञ्चमे। *अ०हृ०*, शा० 1/57

[139] गुरुगात्रत्वमधिकं गर्भिण्यास्तत्र जायते। मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवकः॥ *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय०, पृ०103

[140] *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/21

स्पष्टतया देखी जा सकती है। गर्भस्थ शिशु की दैहिक सक्रियता इतनी बढ़ जाती है कि कुछ माताएँ उसे स्पष्ट अनुभव करने लगती है। इस महीने में सम्पूर्ण शरीर पर एक चिकना पदार्थ बनने लगता है, जो गर्भ की त्वचा के गर्भोदक से रक्षा करता है। *अथर्ववेद* में गर्भस्थ शिशु के विकास का वर्णन नहीं मिलता है।

2.1.6 षष्ठम मास में गर्भ का स्वरूप :- इस मास में अन्य मास की अपेक्षा बल, वर्ण एवं ओज की अधिक वृद्धि होती है। अतः गर्भिणी स्वयं को कमजोर अनुभव करने लगती है। वह किसी भी कार्य को करते हुए शीघ्र थकान महसूस करती है। *चरकसंहिता* में कथित है कि-

"षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः,

तस्मात्तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण।"[141]

परन्तु सुश्रुत ने इस मास में गर्भस्थ शिशु की बुद्धि का विकसित होना बताया है। वाग्भट ने गर्भस्थ शिशु के विकास में चरकोक्त वक्तव्य के साथ-साथ सिरा, रोम, नख एवं त्वचा का विकास होना बताया है-

"षष्ठे स्नायुसिरोरोमबलवर्णनखत्वचाम्॥"[142]

कश्यप[143] ने षष्ठम मास में गर्भस्थ शिशु की वृद्धि चरकोक्त अनुसार ही स्वीकार की है। हारीत[144] ने इस मास में गर्भ में स्फुरण होना बताया है। अतः इस मास में गर्भ की लम्बाई ३३ सेंटीमीटर एवं वजन लगभग एक किलो हो जाता है। गर्भस्थ शिशु के हाथ-पाँव विकसित हो जाते हैं, माता के पेट पर हाथ लगाने पर उसके अंगों का ज्ञान हो जाता है।

इस मास में गर्भ की गतियाँ भी स्पष्ट होने लगती हैं। यदि गर्भहीन हो तो पेट पर हल्का-सा आघात करने पर उसमें गति आ जाती है। *अथर्ववेदसंहिता* में गर्भ के मासानुमासिक विकास का विवेचन नहीं मिलता है।

---

[141] *च०सं०*, शा० 4/22

[142] *अ०हृ०*, शा० 1/57

[143] गर्भिणी षष्ठे मासि तस्मात् काश्यैन युज्यते। बलवर्णौजसां वृद्धिः षष्ठे मातुः श्रमोऽधिकः॥ *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय०, पृ०103

[144] षष्ठे प्रस्फुरणं भवेत्। *हा०सं०*, षष्ठस्थान 1/21

2.1.7 सप्तम मास में गर्भ का स्वरूप :- इस महीने में गर्भस्थ शिशु के सभी अंग-प्रत्यंग स्पष्ट हो जाते हैं। गर्भ की सभी दोष एवं धातुएँ पूर्ण हो जाती हैं। चरक ने गर्भविकास के सन्दर्भ में कहा है कि-

"सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्याय्यते,

तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति॥"[145]

अर्थात् इस महीने में गर्भ की सर्वाङ्गीण वृद्धि हो जाती है। अतः इस महीने में गर्भिणी बहुत अधिक थकानयुक्त एवं कमजोर होती है। सुश्रुत, वाग्भट एवं काश्यप[146] भी इस मास में गर्भ के स्वरूप के सन्दर्भ में चरक द्वारा कथित वक्तव्य स्वीकारते हैं। अतः इस मास तक गर्भ की लम्बाई ४० सेंटीमीटर एवं भार लगभग १.५ किलोग्राम हो जाता है। त्वचा के नीचे मेद के एकत्रित होने से उसकी सिकुड़न कम हो जाती है। आँखों के ऊपर की झिल्ली नष्ट होने लगती है। अण्ड ग्रन्थियाँ उदरगुहा से निकलकर वंक्षणनलिका में आ जाती है। प्रतिवर्त गतियाँ अधिक स्पष्टता और तीव्रता के साथ प्रकट होने लगती है। *अथर्ववेद* में गर्भ के सप्तम मास के स्वरूप का विवेचन नहीं मिलता है।

2.1.8 अष्टम मास में गर्भ का स्वरूप :- इस मास में ओज अस्थिर होता है, वह कभी गर्भिणी में विद्यमान होता है तो कभी गर्भस्थ शिशु में। जब ओज गर्भस्थ शिशु में अवस्थित होता है तब गर्भिणी की कान्ति क्षय होती है। *चरकसंहिता* में वर्णित है कि- आठवें मास में मातृहृदय एवं गर्भनाड़ी से सम्बद्ध रसवाहिनी धमनियों द्वारा माता से गर्भ तथा गर्भ से माँ परस्पर ओज का आदान-प्रदान करते रहते हैं। माँ के ओज को गर्भ लेता है एवं गर्भ के ओज को माँ लेती है, क्योंकि गर्भ अभी पूर्णरूप से निर्मित नहीं होता है। अतः माँ कभी उदास हो जाती है और कभी प्रसन्न दिखाई देती है ; इस प्रकार की अवस्था गर्भस्थ शिशु की भी होती है। इस

---

[145] *च०सं०*, शा० 4/23

[146] सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः। *सु०सं०*, शा० 3/30

सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। *अ०हृ०*, शा० 1/58 ; सर्वधात्वसंपूर्णो वातपित्तकफान्वितः।

सप्तमे मासि नित्यक्लान्ताऽत्र गर्भिणी॥ *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय०, पृ०103

मास में गर्भ का प्रसव उपद्रवयुक्त होता है, क्योंकि गर्भ में अभी ओज अस्थिर अवस्था में होता है।[147]

इसी उपद्रव की सम्भावना के सम्बन्ध में आयुर्वेदज्ञ कहते हैं कि आठवाँ महीना नहीं गिनना चाहिए, क्योंकि गर्भिणी यदि सुन लेगी या उसे याद आ जाएगा कि उसका आठवाँ महीना चल रहा है तो वह भयभीत हो जाएगी, जिससे गर्भव्यापत् होने की सम्भावना हो सकती है। सुश्रुत भी उपर्युक्त वर्णन को मानते हुए कहते हैं-

"अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैः

ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्॥"[148]

अर्थात् यदि किसी कारणवश शिशु का जन्म हो जाए तो शिशु अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहता, क्योंकि वह राक्षसों (विषाणु) का अंश और गर्भ ओजरहित होता है। अतः इस महीने में राक्षसों को कच्चा मांस, पका हुआ चावल आदि देना चाहिए। वाग्भट[149] भी गर्भ के स्वरूप को विवेचित करते हुए कहते हैं कि इस महीने में यदि प्रसव हो जाता है तो उसमें यदि नवजात शिशु जीवित रह जाता है तब उसकी माँ की मृत्यु हो सकती है। *काश्यपसंहिता*[150] में भी गर्भ के आठवें महीने के पूर्वोक्त वृद्धि का वर्णन किया गया है। *अथर्ववेद* में गर्भ के अष्टम मास का विवेचन नहीं मिलता है।

आधुनिक चिकित्सीय विज्ञान की दृष्टि से भी सप्तम एवं अष्टम मास में जन्म लेने वाले शिशु में जीवनी शक्ति की कमी मानी जाती है। इस मास में यदि शिशु जन्म लेता है एवं उसमें कोई विकार है तो उसे आधुनिक चिकित्सक शीशे (NICU) में रख देते हैं, जिससे उसके बचने की सम्भावना बढ़ जाए।

यदि उनके पालन-पोषण की विशेष प्रविधियाँ न अपनाई जाए तो प्रायशः शिशु किसी-न-किसी रोग से आक्रन्त होकर मर जाते हैं। *गर्भोपनिषद्* में गर्भ का स्वरूप बिल्कुल भिन्न बताया गया है। इसमें एक रात, दो रात, आधे महीने में गर्भ के स्वरुप का उद्भव बताया गया

---

147 *च०सं०*, शा० 4/24

148 *सु०सं०,* शा० 3/30

149 ---------- शिशुरोजोनवस्थानान्नारी संशयिता भवेत्। *अ०हृ०*, शा० 1/62-63

150 *का०सं०*, शा० असमानगोत्रीय० पृ० 103

है। *गर्भोपनिषद्* में गर्भ के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है- ऋतुकाल के उपरान्त पति-पत्नी के सहवास के फलस्वरूप एक रात्रि के बाद 'कलल', सात रातें बीतने के बाद 'बुद्बुद', आधे महीने के अन्दर 'पिण्ड', एक महीने के अन्दर 'कठिन या ठोस, दो महीने में गर्भ के सिर की उत्पत्ति, तीन महीने में "पाँवों की उत्पत्ति", चौथे महीने में गुल्फ, जठर, कटि प्रदेशों का प्रादूर्भाव, पाँचवें महीने में पीठ की उत्पत्ति, छठे महीने में मुख, नाक, नेत्र, कानों की उत्पत्ति, सातवें महीने में वह जीव से संयुक्त हो जाता है और आठवें महीने में गर्भ सभी लक्षणों से युक्त हो जाता है।

2.1.9 नवम मास में प्रसव :- नवम मास समाप्त होते-होते प्रायशः शिशु का जन्म हो जाता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में नवम एवं दशम मास के अन्त तक शिशु का जन्म सामान्य बताया गया है। यदि इन दो मासों के बाद नवजात का जन्म हो जाता है तब वह किसी विकार से ग्रस्त अवश्य हो जाता है। *चरकसंहिता*[151] में कथित है कि- आठवाँ मास व्यतीत हो जाने के उपरान्त नवम मास का एक दिन भी बीत जाने पर, आरम्भ से दसवें मास के अन्त तक के काल को स्वाभाविक प्रसवकाल[152] माना गया है। उसके बाद गर्भाशय में गर्भ का बना रहना विकार है। सुश्रुत, वाग्भट एवं कश्यप[153] उपर्युक्त विवेचन को मानते हैं। कश्यप ने प्रसव को लक्षित करते हुए कहा है कि जन्म लेते ही शिशु अपने पूर्वजन्म के कर्मों तथा गर्भावस्था में भोगे गए सुख-दुःख को भूल जाता है। शिशु अपने नूतन जीवन को प्रारम्भ करता है।

अथर्ववेद[154] में अनेक उदाहरणों द्वारा प्रसवकाल तक गर्भ को सुरक्षित रखने के लिए उपासना मिलती है- "हे गर्भस्थ स्त्री ! जैसे यह विशाल धरती प्राणिमात्र के बीजरूप को धारण करती है, वैसे ही तेरा गर्भ प्रसवकाल तक गर्भ में सुरक्षित रहे। जैसे बृहत् पृथ्वी पर्वत सहित वृक्षों एवं वनस्पतियों को दृढतापूर्वक धारण किए हुए है, वैसे ही गर्भाशय में तेरा गर्भ प्रसव के लिए यथासमय तक विद्यमान रहे। जैसे धरती ने विविध प्रकार से विभक्त,

---

[151] *च०सं०*, शा० 4/25

[152] सुखप्रसूति, परिशिष्ट-13 देखें

[153] नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्तिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति। *सु०सं०*, शा० 3/30
तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम्। *अ०हृ०*, शा० 1/66 ; नवमादिषु मासेषु जन्म चास्य यथाक्रमम्। *का०सं०*, शा० असामगोत्रीय० पृ० 104

[154] *अ०वे०* 6/17/1-3

व्यवस्थित, चराचर संसार को स्वयं धारण कर रखा है वैसे ही तुम्हारा गर्भ प्रसवकाल तक स्थित रहे।"

आधुनिक चिकित्सीय विज्ञान की दृष्टि से सामान्यतः पूर्णकालिक गर्भ की लम्बाई ५० सेंटीमीटर हो जाती है एवं गर्भ का भार तीन किलो से साढ़े तीन किलो तक हो जाता है। अतः इस समय तक गर्भ के रोम प्रायशः लुप्त हो जाते हैं। वर्तमानकालिक उपचारकों ने भी गर्भ का माँ की कुक्षि में रहने की सामान्य अवधि २८० दिन स्वीकार किया है। फिर भी वर्तमान में अनेक व्यक्तिगत भिन्नताएँ गर्भिणी में देखने को मिलती हैं। जीवित शिशु के जन्म से पूर्व न्यूनतम समय १८० दिन और अधिकतम ३३४ दिन हैं। जितने शिशु परिपक्व होने से पहले जन्म लेते हैं, उससे तीन गुणा अधिक परिपक्व होने के बाद जन्म लेते हैं। अतः आयुर्वेद में गर्भस्थ शिशु का मासानुमासिक वृद्धि विस्तृतरूप से वर्णित है।

गर्भवती स्त्री को अपना स्वास्थ्य नौ महीने तक सम्पूर्णरूप से स्वस्थ रखना और गर्भस्थ शिशु का विकास अच्छी तरह से करना हो तो इसके लिए आवश्यक है कि उसका खाना-पीना-सोना आदि दिनचर्या नियमित होनी चाहिए। ये सभी कार्य समय पर होने से पाचन क्रिया अच्छी रहती है, शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है तथा बहुत सी समस्याएँ कम हो जाती है। अतः सर्वप्रथम गर्भिणी से सम्बन्धित आहार का विवेचन किया जा रहा है।

2.2.1 गर्भिणी का आहार :- गर्भवती स्त्री जो आहार ग्रहण करती है, वही गर्भ को भी सात्म्य होता है। *काश्यपसंहिता* में मासानुमासिक आहार का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता, परन्तु देश, काल तथा अग्निमात्रा को ध्यान में रखकर ही उसे भोजन देना चाहिए- "**सेवितान्यन्नपानानि गर्भिण्या यान्यभ ----। तानि सात्म्यानि बालस्य तस्मात्तान्युपचारयेत्॥ देशकालाग्निमात्राणां न च कुर्याद्व्यतिक्रमम्।"**[155] साथ ही उसे नौ मासों में गर्म जल पीने का निर्देश मिलता है- "**गुर्विणी वोष्णकं पिबेत्।"**[156] अतः उसे देश, काल, पाचनशक्ति तथा भोजन की मात्रा का ध्यान रखते हुए मक्खन, घी, खीर तथा अन्य हितकारी, स्वादिष्ट, द्रव विशेषकर मधुर एवं स्निग्ध पदार्थ खाने चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में कथित है कि- **"गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृतिः नित्यं हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं**

---

[155] *का०सं०*, सू० लेह० 24-25

[156] *का०सं०*, खिल० पा०

भोजयेत्।"[157] वाग्भट ने भी गर्भिणी के लिए मक्खन, घी तथा दुग्ध का प्रयोग स्वास्थ्यवर्धक बताया है।[158]

काश्यपसंहिता[159] में भी दूध का सेवन स्वास्थ्यवर्धक बताया गया है- उसके शरीर में दूध शीघ्र ही शक्ति में वृद्धि करता है, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों को पुष्ट करता है, बुद्धि, आयु, आरोग्य तथा प्रसन्नता बढ़ाता है। इसलिए इसे मुख्य रसायन माना गया है। इसके सेवन से गर्भ की पुष्टि एवं अभिवृद्धि होती है। इसके निरन्तर सेवन करने से बन्ध्या, नपुंसक एवं वृद्ध स्त्री की भी सन्तान हो जाती है। काश्यप ने अन्यत्रस्थान पर दूध से सिद्ध किया हुआ मधुर या लवण मांसरस कमजोर शरीर वाले बालकों के लिए एवं गर्भ के समय प्रशस्त माना है।

यहाँ पर दूध एवं दूध से निर्मित पदार्थ केवल गाय के दूध से सम्बन्धित है क्योंकि पुरातन समय में देशी गायों की अधिकता थी एवं भैंसों या अन्य भेड़, बकरी आदि पशुओं के दूध का अल्प मात्रा में प्रयोग किया जाता था। इसलिए गाय को माता का दर्जा दिया गया है।

चरकसंहिता में गाय के दूध के गुणों को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि गाय का दूध रस में मधुर-वीर्य में शीत-गुण में मृदु-स्निग्ध-गाढ़ा-श्लक्ष्ण-पिच्छिल एवं गुरु होता है। यह सभी जीवनीय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ एवं रसायन है।[160] सुश्रुत एवं वाग्भट[161] ने भी गाय के दूध के उपर्युक्त गुण स्वीकार किए हैं।

2.2.2 प्रथम मास में गर्भिणी का आहार :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गर्भिणी को प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय मास में मधुर, शीत और द्रवबहुल आहार का विशेष रूप से सेवन करने का विधान बताया है। सुश्रुत गर्भवती स्त्री के आहार को विवेचित करते हुए कहते हैं कि-

---

[157] *सु०सं०*, शा० 10/3 ; गर्भसमानयोगक्षेमा हि गर्भिणि भवति। तस्माद्विशेषस्तां प्रियहिताभ्यां गर्भोपघातकरेभ्यो रक्षेत्॥
अ०सं०, शा० 2/58

[158] *अ०हृ०*, शा० 1/42-43

[159] क्षीरं हि सद्यो बलमादधाति दृढ़ीकरोत्याशु तथेन्द्रियाणि॥
मेधायुरारोग्यसुखानि धत्ते रसायनं चापि वदन्ति मुख्यम्। पुष्टिर्दृढ़त्वं लभते च गर्भो बन्ध्या च षण्ढश्च जरंश्च सूते॥
का०सं०, क० भो० 86-87 ; *का०सं०*, खिल० 11

[160] स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्। गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः।
तदेवं गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्। प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्। *च०सं०*, सू० 27/218-19

[161] *सु०सं०*, सू०45/50-51 ; अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्। क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं
सरम्। श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः॥ जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्। *अ०हृ०*, सू० 5/21-22

"विशेषस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत्।"[162]

चरकाचार्य ने भी आहार के सन्दर्भ में कहा है कि- **"प्रथमे मासे शङ्किता चेद् गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले-काले पिबेत्।"** अर्थात् यदि किसी स्त्री को गर्भधारण करने की आशङ्का पहले ही मास में ज्ञात हो जाए तो उसको उषःपान में गर्म करके ठण्डा किया हुआ दूध धीरे-धीरे पीना चाहिए।[163] उसे अल्पाहार में चावल या सूजी की खीर खानी चाहिए अथवा दूध और पतला उपमा खाना चाहिए। उसे दोपहर के भोजन में लाही का चिवड़ा, लड्डू या लाही (सत्तू) में दूध डालकर और उसमें मुनक्का, अंजीर डालकर पीना चाहिए। उसे रात्रि के भोजन में चावल, सूप या साग, रोटी, सब्जी और रसवाली सब्जी खानी चाहिए। उसको प्रथम मास में फल के अन्तर्गत चीकू, सेब, अनार, मीठे अंगूर आदि खाना चाहिए।

वाग्भट ने गर्भिणी को प्रथम मास में भोजनरूप में मक्खन, घी, दूध आदि सौम्य पदार्थों को देने का विधान बताया है- **नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्।**[164] वृद्धवाग्भट ने भी गर्भवती स्त्री को प्रथम मास में औषधादि से संस्कृत शीतल दूध को भोजन के दोनों समय अर्थात् प्रातःकाल एवं रात में पिलाने के लिए कहा है। इस महीने में भी प्रथम बारह दिन तक दूध से निकाले गए घी को शालिपर्णी के पत्तों द्वारा दूध को पकाकर सोने या चाँदी के बर्तनों में डालकर गर्भिणी को पिलाना चाहिए। परन्तु हारीत[165] ने प्रथम मास में गर्भवती स्त्री को यष्टिमधु, फालसा एवं महुआ के फूल, जो उस मास में उपलब्ध हो जाए, इनको मक्खन एवं शहद में मिलाकर देने का विधान बताया है।

2.2.3 द्वितीय मास में गर्भवती स्त्री का आहार :- सुश्रुत[166] ने गर्भिणी को प्रथम तीन महीनों में मीठा, शीत एवं द्रवरूप में आहार-सेवन करने का विधान बताया है, क्योंकि प्रथम तीन महीनों में भ्रूण के बनने की प्रक्रिया होती है। यदि इन मासों में उष्ण एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त आहार का सेवन कराया गया तो गर्भस्राव की सम्भावना अधिक हो सकती है। अतः उसे इस

---

[162] *सु०सं०,* शा० 10/4

[163] *च०सं०,* शा० 8/1

[164] *अ०हृ०*, शा० 1/43 ; *अ०सं०*, शा० 3/3

[165] प्रथमे मासि यष्टीमधुपरुषकं मधुपुष्पाणि यथा लाभम्। नवनीतेन पयो मधु मधुरं पाययेच्च॥ *हा०सं०* 49/1

[166] *सु०सं०,* शा० 10/4

मास में शीत द्रव्यों से युक्त आहार देना लाभप्रद होता है। इस मास में मधुरस्कन्ध[167] में कथित औषधियों से सिद्ध किया गया गोदुग्ध पीने के लिए दे।[168] द्वितीय मास में उषःपान में शतावरी, अश्वगंधा से सिद्ध दूध, अल्पाहार में सेवैयों का उपमा, सेवइयों की खीर, दलिया का उपमा, दोपहर के भोजन में दाल-चावल, सब्जी, रोटी, रायता, छाछ, नीम्बू का आचार देना चाहिए। रात के भोजन में चावल, मूँग की दाल, रोटी, सूखी या रसवाली सब्जी तथा चीकू, सेब, अनार और मीठे अंगूर लेने चाहिए। *वाग्भट* एवं कश्यप ने दूसरे महीने के आहार का विवेचन नहीं किया। वृद्धवाग्भट[169] द्वितीय मास के आहार में चरकोक्त मत को स्वीकारते हैं। परन्तु हारीत[170] ने उसको द्वितीय मास में काकोली औषध में मीठा मिलाकर या काकोली एवं शहद मिलाकर सेवन करने का निर्देश दिया है।

2.2.4 तृतीय मास में गर्भवती स्त्री का आहार :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रथम तीन मासों में गर्भ को कोई हानि न हो, इसके लिए उसे यौन सम्बन्ध नहीं बनाने के लिए कहा गया है। इस काल में गर्भिणी सदा अपने शिशु के विषय में ही चिन्तन करती है। इस मास में पूर्वोक्त दो मासों के अनुसार शीत एवं मधुर युक्त आहार खाएँ। *चरकसंहिता* में गर्भिणी के आहार के विषय में वर्णित है कि- **"तृतीये मासे क्षीरं मधुसर्पिभ्यामुपससृज्य।"**[171] अतः गर्भिणी को इस मास में गोदुग्ध में शहद और गोघृत मिलाकर पिलाएँ। तृतीय मास में उषःपान में गुनगुने दूध में 1 चम्मच घी और उसमें आधा चम्मच शहद, आहार में सूजी की खीर, लौकी की खीर और उपमा गर्भिणी को भोजन रूप में देना चाहिए। दोपहर के भोजन में दाल-चावल, रोटी, सब्जी, रायता, छाछ, रात्रि के भोजन में दाल-चावल, कढ़ी, सब्जी, रोटी, रसवाली सब्जी एवं फलों में केला, चीकू, आम आदि फल सेवन करें।

सुश्रुत ने पहले तीन महीने में गर्भिणी को मधुर एवं शीत बहुल द्रव्यों का सेवन करने के लिए कहा है तथा तीसरे महीने में आहार के सम्बन्ध में कहा है कि **"तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्।"**[172] उसे विशेषकर तृतीय मास में षष्टि के चावलों को दूध के साथ खाना

---

[167] जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा---------घृततैलवसामज्जलवणफाणोपहितम्। *च०सं०*, वि० 8/139

[168] द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धम्। *च०सं०*, शा० 8/1

[169] विशेषेण द्वितीये मधुरौषधसिद्धं पयः पिबेत्। *अ०सं०*, शा० 3/4

[170] द्वितीये मासि काकोली मधुरं पाययेत्तथा। *हा०सं०* 49/2

[171] *च०सं०*, शा० 8/32

[172] *सु०सं०,* शा०10/4

चाहिए। *अष्टांगहृदय* एवं *काश्यपसंहिता* में तीसरे महीने के आहार का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता। वृद्धवाग्भट[173] ने भी इस मास में मधुर गण की औषधसिद्ध दूध में घी एवं शहद मिलाकर पीने के लिए कहा है। लेकिन हारीत[174] ने उसके तीसरे महीने में खिचड़ी देना श्रेष्ठ औषध बताया है।

2.2.5 चतुर्थ मास में गर्भिणी का आहार :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में गर्भिणी को इस मास में दही के साथ चावल एवं जंगल में विचरण करने वाले पशु-पक्षियों का मांस भोजनरूप में करने का विधान बताया गया है। *सुश्रुतसंहिता* में गर्भवती नारी के आहार को लक्षित करके कहा गया है कि- **"चतुर्थे षष्टिकौदनं दध्ना भोजयेत्"** अर्थात् गर्भिणी को चतुर्थ मास में दही के साथ साठी चावल खाने के लिए देना चाहिए।[175] सुश्रुत अन्य स्थान पर कहते हैं कि चतुर्थ महीने में दूध और मक्खन मिला हुआ आहार देना चाहिए, उसे जांगल प्राणियों के मांसरस युक्त मन को प्रिय लगने वाला भोजन देना चाहिए।[176] उसे गाय के दूध से बना हुआ ताजा मक्खन खाना चाहिए, बासी मक्खन खाने से सीने में जलन हो जाती है। अतः गर्भकाल में बहुत दिनों से रखा हुआ नवनीत गर्भिणी के लिए निषिद्ध है। चरक इस मास में उसे दूध में मक्खन मिलाकर एक तोले की मात्रा में पिलाने का निर्देश देते हैं- **"चतुर्थे मासे क्षीरनवनीतमक्षमात्रमश्नीयात्।"**[177] *काश्यपसंहिता* में चतुर्थ मास के आहार का वर्णन नहीं मिलता है।

अष्टाङ्गहृदय में गर्भिणी के मासानुमासिक आहार का स्पष्टरूप से निर्देश प्राप्त नहीं होता। वाग्भट्ट ने गर्भिणी का उपचार आहार-विहार के माध्यम से करने के लिए कहा है तथा उसे आहाररूप में दूध, नवनीत, घी आदि सौम्य पदार्थ भोज्य रूप में देने के लिए कहा है।[178] गर्भकाल के समय कभी-कभी गर्भिणी को ऐसे पदार्थ खाने की इच्छा हो जाती है, जिसके खाने से उसे एवं गर्भस्थ शिशु को हानि हो सकती है। इस अवस्था में वाग्भट्ट कहते हैं कि उसे

---

[173] तृतीये तदेव सर्पिमधुभ्याम्। *अ०सं०*, शा० 3/5

[174] तृतीये कृशरा श्रेष्ठा। *हा०सं०*, 49/2

[175] *सु०सं०*, शा०10/4

[176] चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं च भोजयेत्। *सु०सं०, शा०* 10/4

[177] च०सं, शा० 8/32

[178] उपचारः प्रियहितैः भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक्। नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्। *अ०हृ०*, शा०1/43

पथ्य आहार के साथ मिलाकर अपथ्य वस्तु भी थोड़ी मात्रा में देनी चाहिए।[179] वृद्धवाग्भट ने चतुर्थ मास में गर्भिणी को दूध में मक्खन मिलाकर एक तोले की मात्रा में पीने के लिए कहा है, जिसे चरकानुसार ही माना है। लेकिन हारीत[180] उसे चौथे महीने में चावलों का गला हुआ भात भोजन रूप में देने के लिए कहते हैं।

गर्भिणी को उषःपान में गुनगुने दूध में दो चम्मच मक्खन एवं शक्कर, अल्पाहार में दलिया, उपमा, मीठा शीरा, दोपहर के भोजन में दाल-चावल, रोटी-सब्जी, चटनी, रायता एवं छाछ, रात्रि के भोजन में दाल-चावल, रोटी-सब्जी, घी, पापड़ (भुना हुआ) एवं फलों में चीकू, संतरा, सेब, केला, मौसमी आदि खाना चाहिए।

2.2.6 गर्भिणी के पञ्चम मास में गर्भिणी का आहार :- इस महीने में गर्भस्थ शिशु की इन्द्रियों का विकास, आकलन शक्ति और अंग सम्पूर्ण हो जाते हैं। माँ के स्पर्श का गर्भ प्रत्युत्तर देता है। गर्भस्थ शिशु स्वयं अपने ही हाथ से अपने मुख, हाथ, पैर या गर्भनाभि को स्पर्श करता है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि-

"पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणिपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो
मासेभ्यः, तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण॥"[181]

अर्थात् इस मास में गर्भस्थ शिशु में अन्य मासों की अपेक्षा मांस और रक्त की वृद्धि अधिक होने के कारण गर्भिणी कमजोर हो जाती है। अतः इस मास में गोदुग्ध एवं घृत मिलाकर गर्भिणी के सामर्थ्यानुसार दे।[182] *सुश्रुतसंहिता*[183] में भी उपरोक्त आहार का निर्देश गर्भिणी के लिए किया गया है। परन्तु हारीत[184] ने पाँचवें महीने में उसे दूध पीने हेतु देने का विधान बताया है। उसे उषःपान में गुनगुने दूध में एक चम्मच घी, अल्पाहार में मूँग का शीरा, तीखा उपमा, दोपहर के भोजन में दाल-चावल, रोटी-सब्जी, रायता, छाछ, रात्रि के भोजन में दाल-चावल, रोटी-सब्जी, चटनी एवं फलों में आम, चीकू, सेब, अनार आदि फल खिलाएँ।

---

[179] देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम्। *अ०हृ०*, शा० 1/53 ; *अ०सं०*, शा० 3/6

[180] चतुर्थे च कृतौदनम्। *हा०सं०* 49/2

[181] *च०सं०*, शा० 4/21

[182] पञ्चमे मासे क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धम्। *च०सं०*, शा० 8/33

[183] पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टम्। *सु०सं०*, शा० 10/4

[184] पञ्चमे पायसं दद्यात्। *हा०सं०* 49/3

2.2.7 षष्ठम मास में गर्भवती स्त्री का आहार :- आयुर्वेदानुसार शुद्ध आहार में दूध से निकाले गए घी में शतावरी, आस्कंद आदि का मिश्रण, विशिष्ट मात्रा में पानी डालकर सिद्ध करके प्रातः एवं संध्या काल एक-एक चम्मच खाना चाहिए। यह शिशु की ताकत, बल आदि अच्छी तरह हो, इसके लिए उपयोगी है। चरक ने षष्ठम मास के आहार के विषय में कहा है कि- इस मास में गर्भिणी को मधुरस्कन्ध[185] की औषधसिद्ध दूध में घी मिलाकर पीने के लिए दे।[186]

सुश्रुतसंहिता में गर्भिणी को षष्ठम मास में गोखरू से सिद्ध किया गया घी उचित मात्रा में दूध या यवागू से आहाररूप में देने के लिए कहा गया है।[187] गर्भवती स्त्री को आहार में छुहारा, खजूर, मूँगफली, नारियल आदि उचित मात्रा में दे। वृद्धवाग्भट[188] ने इस मास में गर्भिणी को द्राक्षा-महुआ आदि औषधसिद्ध घी का सेवन कराने का विधान बताया है। *काश्यपसंहिता* में गर्भवती स्त्री के आहार के विषय में वर्णन नहीं मिलता है। हारीत[189] ने उसे छठे महीने में मीठी दही खाने के लिए कहा है।

2.2.8 सप्तम मास में गर्भवती स्त्री का आहार :- आयुर्वेदज्ञों के अनुसार सप्तम मास में गर्भ का सर्वांगीण विकास हो जाता है। इस माह में शरीर के सभी अवयवों और भावनाओं की पुष्टि हो जाती है। इसलिए उस समय गर्भिणी बहुत अधिक थकी हुई और क्षीण होती है। इस मास में गर्भस्थ शिशु दिन-भर में लगभग एक लीटर गर्भजल पीकर उसमें से पोषक द्रव्य ले लेता है। गर्भ की रचना का विकास पूरा होने के कारण वह इस माह में सभी स्वाद पहचान लेता है। उसके मस्तिष्क का विकास सम्पूर्ण हो जाता है। *चरकसंहिता* में गर्भिणी के सातवें महीने के आहार को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि- **"क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धम्, तदेव सप्तमे मासे।"** अर्थात् सप्तम मास में भी गर्भिणी को मधुरस्कन्ध की औषधियों से युक्त दूध पीने के लिए दें।[190] सुश्रुत ने सप्तम मास में उसे औषधसिद्ध घी पीने या खाने के लिए कहा है- **"सप्तमे**

---

[185] जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा--------घृततैलवसामज्जलवणफाणोपहितम्। *च०सं०*, वि० 8/139 ; *च०सं०*, शा० 8/32

[186] षष्ठे मासे क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धम्। *च०सं०*, शा० 8/32

[187] षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा। *सु०सं०*, शा०10/4

[188] षष्ठे तदेव मधुरौषधसिद्धम्। *अ०सं०*, शा० 3/9

[189] षष्ठे च मधुरं दधि। *हा०सं०* 49/3

[190] *च०सं०*, शा० 8/1

सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसोद्धम्।" अर्थात् गर्भिणी सप्तम मास में पृथकपर्ण्यादि गण में कहे गए औषधसिद्ध घी का सेवन करे।[191] इस प्रकार के पथ्य सेवन से गर्भ अधिक वृद्धि करता है।

वाग्भट्ट ने कहा है कि गर्भिणी को बेर के वृक्ष की छाल से तथा मधुर औषध द्रव्यों के काढ़ों से पकाए गए मक्खन को 10-10 ग्राम भोज्यरूप में देना चाहिए और उसे जो भोजन दे, उसमें नमक तथा स्नेह की मात्रा कम हो, परन्तु वह भोजन खाने में स्वादिष्ट एवं सुपाच्य हो।[192] अतः सुपाच्य भोजन करने से सप्तम मास में होने वाले विकारों में भी आराम मिलता है। वृद्धवाग्भट ने गर्भिणी के छठे महीने में जो आहार बताया है वही सातवें मास में भी देने के लिए कहा है। हारीत[193] ने भी उसे सातवें महीने में घी एवं खाण्ड युक्त भोजन देने के लिए कहा है।

2.2.9 अष्टम मास में गर्भिणी का आहार :- गर्भावस्था के नौ मास में सबसे महत्त्वपूर्ण मास है- अष्ठम मास। इस मास में मातृहृदय एवं गर्भनाड़ी से सम्बद्ध रसवाहिनी धमनियाँ माता से गर्भस्थ शिशु तथा गर्भस्थ शिशु से माता के मध्य परस्पर ओज का आदान-प्रदान करती हैं।[194] माता के ओज को गर्भ ग्रहण करता है और गर्भ के ओज को माता ग्रहण करती है, क्योंकि गर्भ अभी पूर्णरुप में निर्मित नहीं होता है। *चरकसंहिता* में गर्भिणी के आठवें महीने के आहार को लक्षित करके कहा गया है कि- **"अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत्।"** अर्थात् उसको अष्ठम मास में दूध में पकी हुई यवागू में घी मिलाकर समयानुसार पीने या खाने के लिए दें।[195]

इस सन्दर्भ में भद्रकाप्य आचार्य अष्टम मास में यवागू देने के लिए सहमत नहीं हैं, क्योंकि यवागू देने से गर्भस्थ शिशु में पीलापन होने की सम्भावना रहती है। गर्भस्थ शिशु के नेत्रों में भी पीलापान होने का भय रहता है। पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है कि नेत्रों के पीलेपन को सुलभता से दूर किया जा सकता है तथा क्षीरयवागू में अत्यधिक गुण हैं। इसलिए इसे अष्टम मास में गर्भिणी को अवश्य देना चाहिए। गर्भिणी क्षीरयवागू का सेवन करती हुई स्वस्थ

---

[191] *सु०सं०*, शा० 10/4

[192] नवनीतं हितं तत्र कोलाम्बुमधुरौषधैः। सिद्धमल्पपटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम्॥ *अ०हृ०*, शा० 1/59

[193] सप्तमे घृतखण्डेन। *हा०सं०* 49/3

[194] ओजो अष्टमे संचरति मातापुत्रो मुहुःक्रमात्। तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति।। *अ०हृ०*, शा०1/62-63

[195] *च०सं०*, शा० 8/32 ; अत्र पैङ्गल्याबाध इत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः ; न त्वेवैतन्न कार्यम्। *च०सं०*, शा० 8/32

रहकर अपने वंश-गोत्र में बलवान्, सुन्दर वर्णयुक्त, उत्तम स्वर वाली और सुदृढ़ शरीर वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। वृद्धवाग्भट[196] ने भी चरकोक्त आहार गर्भिणी को देने के लिए कहा है। *काश्यपसंहिता* में मासानुसार आहार का विवेचन नहीं मिलता है। हारीत[197] ने आठवें महीने में गर्भिणी को घेवर का सेवन करने के लिए कहा है।

सुश्रुतसंहिता में गर्भिणी को अष्टम मास में आस्थापन-अनुवासनबस्ति देने के कहा गया है। गर्भिणी को आठवें महीने में बेर वृक्ष की छाल के काढ़े में बला, अतिबला, सौंफ, तिलकल्क, दूध, दही, तिल का तैल, नमक, मैनफल, शहद और घी मिलाकर आस्थापन बस्ति देनी चाहिए। इससे रुका हुआ मल विस्रवित हो जाता है अर्थात् बाहर निकल जाता है और वायु का अनुलोमन होता है। उसके बाद दूध तथा मधुर-द्रव्यों के कषायसिद्ध तैल द्वारा अनुवासनबस्ति दे, जिससे वायु का अनुलोमन होता है तथा प्रसव के समय कोई कठिनाई नहीं होती।[198] *अष्टांगहृदय*[199] में भी अनुवासनबस्ति देने के लिए कहा गया है, लेकिन इससे पहले गर्भिणी को अष्टम मास में दूध से बनी पतली खीर में घी मिलाकर भोजन दें।

अष्टम मास के उषःपान में चावल की खीर २ चम्मच घी के साथ, अल्पाहार में हलवा, मध्याह्न के भोजन में दाल-चावल, सब्जी, रोटी, चटनी, रात्रि के भोजन में दाल-चावल, कढ़ी, सब्जी, रोटी, पापड़ एवं फलों में आम, केला, अनार, चीकू लेने चाहिए।

2.2.10 नवम मास में गर्भिणी का आहार :- नवम मास में सभी अंगों की सम्यक् वृद्धि होकर वह इस नई दुनिया में आगमन के लिए तैयार हो जाता है। *चरकसंहिता* में कथित है कि **"तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरा दशमान्मासात्"** अर्थात् आठवें महीने व्यतीत होने के अनन्तर एक दिन भी व्यतीत हो जाने पर नवम मास के

---

[196] *अ०सं०*, शा० 3/11

[197] अष्टमे घृतपूरकम्। *हा०सं०* 49/3

[198] अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति। *सु०सं०*, शा०10/4

[199] मधुरैः साधितं शुद्ध्यै पुराणशकृतस्तथा। *अ०हृ०*, शा०1/64 ;
क्षीरपेया च पेयाऽत्र सघृताऽन्वासनं घृतम्। *अ०हृ०*, शा०1/64

प्रारम्भ से दसवें मास के अन्त तक के काल को प्रसवकाल माना जाता है।[200] इस माह में गर्भवती स्त्री के पेट का पानी और शिशु के भार में वृद्धि के कारण भारीपन आता है। उसे चलना, उठना, बैठना आदि क्रियाएँ शनैः-शनैः करनी पड़ती है। नवम मास के उषःपान में दूध, खीर, अल्पाहार में मूँग का हलवा, दोपहर के भोजन में दाल-चावल, सब्जी, रोटी, अचार, चटनी, रात्रि के भोजन में कढ़ी-चावल, दाल-चावल, सब्जी, रोटी, पापड़ एवं फलों में आम, केला, अनार, चीकू, नाशपाती आदि खाना चाहिए। किन्तु हारीत[201] के अनुसार इस मास में उसे अनेक प्रकार के भोजन कराने के लिए कहा है।

गर्भवती महिला को गर्भावस्था के समय सम्पूर्ण आहार लेना चाहिए। इस आहार में लौहतत्त्व, कैल्शियम एवं प्रोटीन उचित मात्रा में उपलब्ध हो, जो गर्भिणी के लिए लाभप्रद होता है। इसलिए सारणी द्वारा गर्भिणी के दैनिक आहार[202] को दर्शाया गया है-

दूध/ दूध से बने पदार्थ	**अनाज**	**दलहन**	**सब्जी**	**फल**	**सलाद**	**शाक-सब्जी**	**पत्ता सब्जी**	**घुघनी**	**सूखे फल**
दूध, दही (कभी-कभी), छाछ (कभी-२), मिठाई (कभी-कभी), पनीर(कभी-कभी)।	गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा, कोदो, मूँगफली।	मूँग, तुहर, मसूर, चना, मटर, उड़द, राजमा ।	लौकी, करेला, भिण्डी, बैंगन, बन्दगोभी, फूलगोभी, आलू।	केला, चीकू, सेब, संतरा, मौसमी, अनार, अंजीर।	प्याज, टमाटर, चुकन्दर, मूली, गाजर, ककड़ी (कभी-कभी), अचार।	बिन्स, चवली, अरहरा, लोबिया, गवार।	मेथी, पालक, अरबी, प्याज के पत्ते।	हरा मूँग।	मुनक्का, किशमिश, अखरोट, बादाम, काजू, जरदालू, पिस्ता, सूखा अंजीर।

अतः गर्भवती स्त्री के आहार में दूध, घी, पौष्टिक आहार एवं मांस को भोजनरूप में दे। आधुनिक समय में भी प्रत्येक गर्भिणी को प्रोभूजिन, कार्बोहाइड्रेड, मेदयुक्त, विटामिन, मिनरल तथा जल की आवश्यकता होती है। उसके भोजन में कैल्शियम, वसा, विटामिन 'ए'

---

[200] *च०सं०, शा०* 4/25

[201] नवमे विविधान्नानि। *हा०सं०* 49/4

[202] *आ० गर्भ०*, पृ० 87

एवं 'डी' तथा प्रोटीन की उचित मात्रा हो। उसके भोजन में कार्बोहाइड्रेड की मात्रा इतनी होनी चाहिए, जिसके सेवन से गर्भवती स्त्री का भार अधिक न बढ़े। अतः वह प्रत्येक मास गर्भस्थ शिशु के साथ शरीर के भार की भी जाँच करवाएँ। इन पोषक तत्त्वों की पूर्ति निम्नोक्त पदार्थों से हो सकती है-

प्रोटीन- इसकी उत्पत्ति दूध, अंडा, दही, चना, चावल, दाल तथा गेहूँ आदि से होती है।

वसा- इसकी पूर्ति घी, तेल, दूध तथा मांस से होती है।

कार्बोहाइड्रेड- मधुर द्रव्यों से, जैसे- चीनी, फल, आलू, शकरकन्द, चावल आदि से मिलता है।

विटामिन एवं खनिज द्रव्य- ताजे फल, सब्जियों आदि से विटामिन मिलते हैं। गर्भिणी को आयरन तथा कैल्सियम की भी आवश्यकता होती है, जो मांस, अण्डा, दालें, हरी सब्जियों से गर्भिणी को मिल जाते हैं। यह ज्ञात है कि गर्भिणी द्वारा सन्तुलित आहार का सेवन न करने से मृतजात, विषाक्तता तथा समयपूर्व प्रसव आदि हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति न आए, इसके लिए उसके भोज्य पदार्थों में विटामिन्स, आयरन आदि की समुचित मात्रा होनी चाहिए। चरक एवं सुश्रुत ने गर्भावस्था के प्रत्येक मास की पथ्य व्यवस्था का विवेचन किया है, परन्तु आहार द्रव्यों में कुछ अन्तर हैं। प्रथम मास से लेकर नवे मास तक की आहार व्यवस्था तालिका द्वारा बताई गई है।[203]

2.3.1 गर्भिणी का गर्भावस्था के अन्तर्गत विहार :- गर्भिणी को आहार के साथ-साथ विहार पर भी सम्यक् रूप से ध्यान देना चाहिए, जिससे वह स्वयं एवं गर्भस्थ शिशु को स्वस्थ रख सके। वाग्भट कहते हैं कि- **"ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाऽजीर्णं निरूपयन्"**[204] अर्थात् उसे पूर्व रात्रि में सेवन किए गए भोजन के जीर्णाजीर्ण का विचार करते हुए ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिए। वह दाँतों को प्रतिदिन साफ करें, इसके लिए उसे ऋतु अनुसार दातुन करनी चाहिए। उसके रक्त संवहन बढ़ने के कारण कभी-कभी मसूड़ों से रक्तस्राव होने लगता है। अतः दाँतों की उचित देखभाल करनी चाहिए।

---

[203] परिशिष्ट-6 देखें

[204] *अ०सं०*, सू० 3

2.3.2 व्यायाम- गर्भवती स्त्री को हल्का व्यायाम, जैसे- टहलना आदि करते रहना चाहिए। गर्भिणी जो भी कार्य गर्भावस्था से पहले करती थी, उसे करते रहना चाहिए। परन्तु उसे कठोर व्यायाम नहीं करना चाहिए। सुश्रुत ने गर्भिणी-विहार के विषय में कहा है कि- **"तदा प्रभृति व्यवायं व्यायामं ------ न सेवेत॥"**[205] अर्थात् इस अवस्था में गर्भिणी को मैथुनकर्म एवं कठोर व्यायाम नहीं करना चाहिए।

चरक ने भी इस नौ मासों में गर्भिणी को व्यायाम, तीक्ष्ण औषधी एवं मैथुनकर्म निषेध बताया है। कश्यप ने भी इस अवस्था में गर्भिणी को व्यायाम नहीं करने का विधान बताया है-

"तस्यास्त्वस्यामवस्थायां व्यायामो न प्रशस्यते।

व्यायामः सेव्यमानो हि गर्भिणीमाशु नाशयेत्॥"[206]

अर्थात् इस अवस्था में उसके द्वारा व्यायाम करना हितकारक नहीं है। इन मासों में उसके द्वारा व्यायाम करने से मृत्यु हो सकती है। उसे अधिक इधर-उधर नहीं घूमना चाहिए, क्योंकि इससे गर्भस्थ शिशु की मृत्यु हो सकती है। वाग्भट ने उसे कठोर आसन एवं उकडूँ बैठने के लिए निषेध किया है- **"कठिनोत्कटकासनम्।"**[207]

2.3.3 अभ्यंग- इस अवस्था में गर्भिणी को लाक्षादि तैल से बारम्बार अभ्यंग करने के लिए कहा गया है, क्योंकि अभ्यंग करने से गर्भ की पुष्टि एवं वृद्धि होती है। *योगरत्नाकर* में कहा गया है कि **'कस्तूरी चन्दनं माला कर्पूरमनुलेपनम्'**[208] अर्थात् कस्तूरी, चन्दन एवं कपूर का अनुलेपन करने से गर्भिणी को लाभ मिलता है।

सुश्रुत ने भी इस अवस्था में गर्भवती स्त्री को तैल एवं उबटन लगाने के लिए कहा है, लेकिन इनका उपयोग अल्पमात्रा में करने के लिए कहा है- **"न चाभीक्ष्णं**

---

205 *सु०सं०*, शा० 3/16 ; गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्। *च०सं०*, सू० 25/40

206 *का०सं०*, शा० जाति० 36

207 *अ०हृ०*, शा० 1/44

208 *यो०र०*, क्षीरदोष चि०

तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि सेवेत।"[209] बृहत्त्रयी के अन्य ग्रन्थों में तथा *काश्यपसंहिता* में अभ्यंग लगाने का वरणन नहीं मिलता है।

2.3.4 स्नान- गर्भिणी को स्नानादि कर्म करके स्वच्छ रहना चाहिए। इसके लिए विशिष्ट जल वाग्भट ने बताया है। उसे बिल्ब, कपास, फम्फणा, पाटली, पिचुमन्द, अग्निमंथ, जटामाँसी और एरण्ड के पत्तों को कूटकर बनाए गए क्वाथ को ठण्डा करके या सर्वगन्धोदक से प्रतिदिन स्नान करना चाहिए।[210] गन्दे पानी में स्नान करने से विशेषकर प्रसव के समय गन्दे जल के योनिमार्ग में प्रविष्ट होने की आंशका होती है। अतः गर्भिणी को प्रतिदिन स्वच्छ जल में स्नान करना चाहिए।

कश्यप ने उसे प्रत्यक्षरूप से स्नानादि का निर्देश तो नहीं दिया है लेकिन प्रतिदिन गुरु या देव की आराधना करने के लिए कहा है, जो स्नान के बिना सम्भव नहीं है- **"प्रातरुत्थाय शौचान्ते गुरुदेवार्चने रता।"**[211] अर्थात् उसे सूर्योदय से पूर्व उठकर शौच-स्नानादि से नित्य कर्मों से निवृत्त होकर गुरु अथवा देवता की पूजा करनी चाहिए। अतः स्पष्ट होता है कि कश्यप ने उसे स्नान कराने के उपरान्त ही ध्यान अथवा पूजा करने के लिए कहा है। कश्यप अन्य स्थान पर कहते हैं कि जो गर्भवती स्त्री पुत्रेच्छा रखती हो, उसे प्रतिदिन स्नान करना चाहिए एवं सदैव प्रसन्न रहना चाहिए।

सुश्रुत ने गर्भिणी को प्रसव के समय गुनगुने जल से स्नान करने के लिए कहा है- **"प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्।"**[212] अर्थात् वह पर्याप्त मात्रा में मिले हुए गुनगुने पानी से स्नान करें।

वाग्भट ने भी पुंसवन संस्कार के अन्तर्गत गर्भिणी को स्नान करने के लिए कहा है- **"ओषधर्जीवनीयाश्च बाह्यान्तरुपयोजयेत्।"**[213] अर्थात् वह जीवनीय द्रव्यों का उबटन, स्नानादि के रूप में प्रयोग करे। वाग्भट ने अन्य स्थान पर भी गर्भिणी को नौवें मास में वातघ्न ठण्डे जल से स्नान कराने के लिए कहा है- वातनाशक रेंड आदि वृक्ष के पत्तों से क्वाथ जल गर्म करने

---

[209] सु०सं०, शा० 10/1

[210] *अ०सं०*, शा० 3/14

[211] *का०सं०*, शा० जाति० 14 ; नित्यं स्नाता च हृष्टा गर्भिणी पुत्रभागिनी। का०सं, गर्भिणीचि०

[212] *सु०सं०*, शा० 10/18

[213] *अ०हृ०*, शा० 1/42 ; वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः शीतं स्नानेऽन्वहं हितम्। *अ०हृ०*, शा० 1/68

के उपरान्त शीतल करके स्नान के लिए दे। अतः स्पष्ट होता है कि *अष्टांगहृदय* में भी गर्भवती स्त्री को औषधयुक्त द्रव्यों से स्नान कराना हितकर बताया है।

2.3.5 वस्त्राभूषण- उसको ढ़ीले अर्थात् बिना इलास्टिक वाले कपड़े पहनने चाहिए। सुश्रुत ने गर्भिणी के वेशभूषा को परिभाषित करते हुए कहा है कि- **"गर्भिणी प्रथमदिवसात्प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलंकृता शुक्लवसना धारयेत्।"** अर्थात् उसको प्रथम दिन से ही पुण्यकारक, मङ्गलकारक, पवित्र, नूतन, अखण्डित, श्वेत वस्त्र पहनने चाहिए[214] तथा उसे कोई भी वस्त्र बहुत कसकर नहीं बाँधना चाहिए। चरक एवं वाग्भट ने कहा है कि देवता, राक्षस एवं अनुचरों से बचने के लिए उसे अधिक लाल रंग के वस्त्रों को नहीं पहनना चाहिए।[215]

गर्भिणी द्वारा त्रिवृत की मणि बनाकर सदैव श्रोणि में धारण करना चाहिए[216], ऐसा *काश्यपसंहिता* में कहा गया है। कश्यप अन्य स्थान पर कहते हैं कि- **"वर्जयेद्गर्भिणी नित्यं कामं बन्धानि मोक्षयेत्"** अर्थात् उसे कोई भी वस्त्र अथवा अन्य बन्धन बहुत कस कर नहीं बाँधना चाहिए एवं जो प्रिय द्रव्य, वस्त्र, आभूषण आदि मिले, उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

2.3.6 निवास स्थान- कश्यप ने गर्भवती के निवास-स्थान के सन्दर्भ में कहा है कि **"धूपितार्चितसम्मृष्टं मशकाद्यपवर्जितम्। ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादितं वेश्म शस्यते॥"**[217] अर्थात् गर्भिणी के बैठने व रहने का स्थान मृदु वस्त्रों से युक्त, न अधिक ऊँचा हो, सहारायुक्त एवं बाधारहित होना चाहिए। उसका निवास स्थान धूप एवं पूजा करने योग्य स्थानयुक्त, मच्छरों आदि कीटों से रहित, ब्राह्मण वाक्य या वेदवाक्य से गायन एवं वादन से युक्त होना चाहिए। बृहत्त्रयी में गर्भिणी के निवास-स्थान का वर्णन नहीं मिलता है।

---

[214] *सु०सं०*, शा० 10/3

[215] देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि बिभृयात्। *च०सं०*, शा० 4/18 ; *अ०ह्र०*, शा० 1/46 ; *अ०सं०*, शा० 2/61

यानि द्रव्याणि पुण्यानि मङ्गल्यानि शुचीनी च। नवान्यभग्नखण्डानि पुन्नामानि प्रियाणि च। *का०सं०*, जा० 11

[216] त्रैवृत्तं तु मणिं कृत्वा तं श्रोण्यां गर्भिणी सदा। *का०सं०*, खि० 10/181 ; *का०सं०*, शा० जाति० 19

गर्भिण्यै तान्युपहरेद्वासांस्याभरणानि च। *का०सं०*, शा० जाति० 12 ;

शुक्लवस्त्रधरा शुचि गर्भिणि पुत्रभागिनी। *का०सं०*, गर्भिणीचि०

[217] *का०सं०*, जाति० 11

2.3.7 निद्रा- उसे समुचित आराम एवं निद्रा लेनी चाहिए, विशेषकर गर्भावस्था के 7वें महीने से 9वें महीने तक कम से कम 8 घण्टे रात्रि में एवं ग्रीष्म ऋतु में दो घण्टे दोपहर में सोना चाहिए। उसे उल्टा होकर नहीं सोना चाहिए अर्थात् सीधा सोना चाहिए, क्योंकि उल्टा सोने से गर्भित गर्भाशय द्वारा रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से कभी-कभी गर्भवती स्त्री के रक्तचाप की कमी होने से गर्भस्थ शिशु के पोषण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। उसे रात में नहीं जागना चाहिए।

सुश्रुत[218] ने गर्भिणी के शयन करने के आसन (पंलगादि) के विषय में कहा है कि उसका शयनासन कोमल वस्त्रों से ढ़का होना चाहिए, शय्या अधिक ऊँची नहीं होनी चाहिए, शय्या के दोनों ओर आश्रय की व्यवस्था होनी चाहिए एवं बाधारहित आसन होना चाहिए। चरक एवं वाग्भट ने उसकी निद्रा या शयनासन का निर्देश नहीं दिया है।

2.3.8 यात्रा- गर्भिणी स्त्री को बहुत ऊँचे-नीचे स्थान पर नहीं चलना चाहिए। सुश्रुत ने भी यानारोहण (रथ, घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी) अर्थात् बस, कार आदि से यात्रा का निषेध किया है।[219] चरक[220] ने भी गर्भस्राव चिकित्सा के अन्तर्गत उसे ताँगा, रिक्शा आदि से यात्रा नहीं करने के लिए कहा है। अद्यकालिक वैद्य भी कहते हैं कि गर्भिणी को समुद्र तल से 8000-10000 फीट की ऊँचाई पर हवाई जहाज से नहीं जाना चाहिए। वहाँ आक्सीजन की कमी के कारण गर्भस्थ शिशु को कठिनाई होती है। *अष्टाङ्गहृदय* एवं *काश्यपसंहिता* में यानारोहण का वर्णन नहीं मिलता है।

2.3.9 मैथुन- जिन महिलाओं को गर्भस्राव, गर्भपात पहले हुआ हो, उन्हें गर्भावस्था के प्रथम तीन महीनों में मैथुनकर्म नहीं करना चाहिए। अन्तिम चार सप्ताहों में भी उपसर्ग तथा गर्भहानि के भय से संभोग वर्जित है। चरक एवं वाग्भट[221] ने गर्भिणी को गर्भावस्था के दौरान सहवास करने का निषेध किया है। सुश्रुत ने भी कहा है कि- अन्तिम महीनों में

---

[218] शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसम्बाधं च विदध्यात्॥ *सु०सं०*, शा० 10/3

[219] *सु०सं०,* शा० 3/16

[220] *च०सं०*, शा० 8/21

[221] गर्भिणी --------व्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्। *च०सं०*, सू० 25/40 ; अतिव्यवायमायासं----। *अ०हृ०*, शा० 1/44

सम्भोग सक्रिय स्त्रियों में गर्भावसाद के लक्षण दिखते हैं अर्थात् गर्भवती स्त्री को मैथुन करने से पीड़ा होती है।[222]

योगरत्नाकर में प्रिय का आलिङ्गन तथा अन्य मनोनुकूल विहार करने का निषेध नहीं किया गया है। परन्तु मैथुन का निषेध है।[223] वर्तमानकालिक भिषक् भी प्रारम्भिक बारह सप्ताह एवं अन्तिम दो मास में मैथुन वर्जित करते हैं, क्योंकि प्रारम्भिक सप्ताहों में मैथुन करने से गर्भपात एवं अन्तिम मासों में मैथुनक्रिया से संक्रमण होने की सम्भावना बढ़ती है।

2.3.10 अतिथि का सत्कार :- आयुर्वेद में गर्भिणी को घर पर आए हुए अतिथि का आदर-सम्मान करने का वर्णन मिलता है। *काश्यपसंहिता* में वर्णित है कि वह अतिथि से द्वेष नहीं करे, अतिथि को स्वादिष्ट भोजन कराएँ एवं उपहार स्वरूप में वस्त्रादि भी दे।[224] कश्यप अन्य स्थान पर कहते हैं कि उसे देवताओं एवं ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा, निष्ठा होनी चाहिए। बृहत्त्रयी में आतिथ्य सत्कार का वर्णन नहीं मिलता है।

2.3.11 मानसिक स्थिति :- चरक के मतानुसार गर्भाधान के समय स्त्री का मन जिस प्राणी की तरफ आकृष्ट होता है, वह स्त्री उसी के सदृश सन्तान उत्पन्न करती है। अतः वह सदा प्रसन्नचित तथा सौम्य आचरण करे। *चरकसंहिता* में गर्भिणी के विहार को लक्षित करके कहा गया है कि- **"सौमनस्यं गर्भकराणाम्"**[225] अर्थात् गर्भवती स्त्री को सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिए, इससे गर्भ की वृद्धि एवं सुरक्षा होती है। *काश्यपसंहिता* में भी कहा गया है कि-

"ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादितं वेश्म शस्यते॥

--- गुरुदेवार्चने रता। अर्चेदादित्यमुद्यन्तं गन्धधूपार्घ्यवार्जपैः॥"[226]

---

[222] गर्भिण्या गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः। *सु०सं०*, चि० 24/123

[223] सन्तर्पणं प्रियाश्लेषो विहाराश्च मनोरमाः। *यो०र०* चि० ;
गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्। *च०सं०*, सू० 25/40

[224] न द्विष्यादतिथिं भिक्षां दद्यान्न प्रतिवारयेत्। *का०सं०*, शा० जाति० 16 ;
देवविप्रपरा सौम्या गर्भिणी पुत्रभागिनी। का०सं, गर्भिणिचि०

[225] *च०सं०*, सू० 25/40

[226] *का०सं०*, शा० जाति० 12 ; सौम्या गर्भिणी पुत्रभागिनी। *का०सं०*, गर्भिणीचि०

अर्थात् जिस स्थान पर गर्भवती स्त्री रहती हो, वहाँ पर संगीत यन्त्रों से साथ गाना-बजाना निरन्तर होते रहे, जिससे उसे आनन्द की अनुभूति हो। उसे अपने दैनिक कार्यों को पूरा करके गुरु तथा देवता की आराधना करनी चाहिए। वह गन्ध, धूप, अर्ध्य, जप आदि के द्वारा उदय होते हुए सूर्यदेव की भी अर्चना करे। गर्भिणी द्वारा प्रतिदिन किसी देवता की अर्चना करने से मानसिक शान्ति मिलती है तथा शिशु में "धार्मिक संस्कार" उत्पन्न होते हैं।

दौहृद की इच्छापूर्त्ति न होने से गर्भस्थ शिशु के विकारग्रस्त होने की सम्भावना होती है साथ ही गर्भिणी भी भयभीत होती है। अतः सुश्रुत कहते हैं कि कानों से मनोहर शब्द सुनना, आँखों से अच्छे-अच्छे पदार्थों का देखना, जिह्वा से रुचिप्रद भोजन का स्वाद लेना, नाक से सुगन्धित द्रव्यों को सूँघना, स्पर्श सुख की अनुभूति आदि कार्यों की पूर्त्ति करने से गुणवान् सन्तान पैदा होती है तथा गर्भिणी प्रसन्न रहती है।[227] वाग्भट[228] ने गर्भिणी की मानसिक स्थिति से अवगत होकर गर्भिणी को सदा प्रसन्न रखने के लिए कहा है। उसे शोक, क्रोध, भय एवं घबराहट संवेगों से दूर ही रखना चाहिए, क्योंकि यदि उसमें शोकादि संवेग उत्पन्न होते हैं तो उससे गर्भस्थ शिशु को हानि होती है।

2.4.1 गर्भिणी द्वारा वर्जित आहार-विहार :- गर्भवती स्त्री के वर्जित आहार-विहार गर्भोपघातकर ही होते हैं। अतः वे भी गर्भोपघातकर भावों के अन्दर आ जाते हैं। *चरकसंहिता* में कथित है कि वह गुरु, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही तथा अधिक खट्टे फल, पदार्थ आदि का सेवन न करे। वह मिट्टी, लहसुन, सूरणकन्द तथा अन्य विबन्ध करने वाले पदार्थ न खाएँ।

उसे मदकारक द्रव्य या मद्यसेवन, शुष्क, बासी, सड़ा हुआ क्लिन्न अन्न का सेवन, उपवास, अतितर्पण आदि नहीं करना चाहिए। उसे शीतल जल तथा वर्षाजल का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वर्षाऋतु में पानी अम्लयुक्त होता है। अतः दोष-प्रकोपक आहार के सेवन करने से गर्भस्थ शिशु में जन्मजात व्याधि पैदा हो सकती है। गर्भावस्था में स्त्री को

---

227 *सु०सं०*, शा० 3/16-18 ; *भा०प्र०*, पू० 3/332-339

228 शोकक्रोधभयोद्वेग-----। *अ०हृ०*, शा० 1/45

तीक्ष्ण-औषधी का प्रयोग-व्यायाम-वमन-विरेचन-शिरोविरेचन तथा रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिए।[229]

चरक अन्य स्थान पर कहते हैं कि उसे अत्यधिक गुरु पदार्थ, अत्यधिक गर्म पदार्थ, अत्यधिक तीक्ष्ण पदार्थ एवं अपनी क्षमता से अधिक कार्य नहीं करना चाहिए। उसे ऐसे भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए जो नशायुक्त हों, इन्द्रियों के लिए प्रतिकूल बातों से दूर रहना चाहिए, जो परिवार की वृद्ध स्त्री जानती हों। उन हानिकारक भावों का भी परित्याग करना चाहिए। हारीत[230] ने अपथ्य आहार को लक्षित करके कहा है कि उसे दो दाल वाले अन्न, शरीर में जलन पैदा करने वाले, कसैले पदार्थ, गर्म दूध आदि नहीं देना चाहिए। उसे मिट्टी एवं सूरन भी नहीं खिलाना चाहिए एवं प्याज तथा लहसुन का सेवन भी नहीं कराना चाहिए। भावमिश्र[231] ने गर्भिणी के वर्जित आहार-विहार को लक्षित करके कहा है कि उसे मांस का भोजन, मन्दिर, बगीचा, नदी में सैर करना अथवा भ्रमणादि कर्म नहीं करना चाहिए।

सुश्रुत[232] ने भी उपर्युक्त सद्वृत्त को हानिकारक कहा है। इससे भिन्न इन्द्रियों के प्रतिकूल भावों, शोक, क्रोध, भय, दुर्गन्धित तथा दुर्दर्शन पदार्थों या उद्वेग उत्पन्न करने वाली कथाओं अथवा अप्रिय शब्द सुनना, चैत्य, शमशान, अप्रिय स्थानों का त्याग कर देना चाहिए। वाग्भट[233] भी चरक द्वारा उक्त वक्तव्य को स्वीकार करते हैं। इनसे अलग भारी वस्त्र ओढ़ना, रात में देर तक जगना, मल-मूत्रादि की गति को बहुत समय तक रोकना, उपवास, गहरे गड्ढे तथा कुएँ के अन्दर झाँकना, उल्टा सोना आदि कार्य गर्भवती स्त्री के लिए वर्जित है।

---

229 गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्॥ *च०सं०*, सू० 25/40
--------- न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमेवसेचयेत् ------॥ *च०सं०*, शा० 8/22 ; *च०सं०*, शा० 4/18

230 *हा०सं०* 49/6-7

231 आमिषस्याशनं यत्नात्प्रमदा परिवर्जयेत्। देवारामनदीयानं प्रयोगं पुरुषस्य च॥ *भा०प्र०*,पू० 5/305-306

232 *सु०सं०*, शा० 10/3

233 *अ०ह्र०*, शा० 1/44-47 ; *अ०सं०*, शा० 2/60

काश्यपसंहिता में कहा गया है कि उसे छोटा होते हुए चाँद एवं अस्त होते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए- **"क्षीयमाणं च शशिनमस्तं यान्तं च भास्करम्।"**[234] यदि घर पर कोई अतिथि आ जाए तो उससे गर्भिणी को द्वेष नहीं करना चाहिए, अपितु उसे सम्मानपूर्वक आसन ग्रहण करवाए, पानी, दूध आदि पेय पदार्थ पीने के लिए दे। यदि भोजन का समय है तो उन्हें भोजन करने के लिए अवश्य पूछे एवं भोजन करवाएँ। अतिथि को वापस जाते समय कोई न कोई भेंट अवश्य दें, क्योंकि उसका घर से खाली हाथ वापस जाना अशुभ माना गया है। यदि उसके द्वार पर कोई साधु-संत आ जाए तो उनका निरादर न करें, अपितु सम्मानपूर्वक उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन, वस्त्र, धनादि भिक्षा के रूप में देना चाहिए। उसे जल से भरे हुए घड़े, माला, घी एवं दही से भरे हुए बर्तन आदि किसी वस्तु का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए। जब घर में शान्तियज्ञ करवाया जा रहा हो, तब प्रज्वलित अग्नि में घी की आहुति स्वयं गर्भिणी को देनी चाहिए। कश्यप[235] अन्य स्थान पर कहते हैं कि उसे बहुत ऊँचा उठना, बहुत अधिक झुकना, अधिक समय तक वजनयुक्त वस्तुओं को उठाना, काँपना, अधिक हँसना एवं चोट का त्याग करना चाहिए, क्योंकि इन्हें करने से गर्भपात की सम्भावना बढ़ जाती है। हारीत[236] गर्भिणी को अत्यधिक परिश्रम-मैथुन-क्रोध-शोक एवं चक्रमण का त्याग करने के लिए कहते हैं, जिसके त्यागने पर उसे सुखप्रसव होता है।

2.5.1 गर्भिणी पर वर्जित आहार-विहार का प्रभाव :- यदि गर्भवती स्त्री अज्ञानतावश उपर्युक्त असद्वृत्त का पालन करती है तो उसका प्रभाव गर्भिणी के साथ-साथ गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है। *अष्टाङ्गसंग्रह* में वृद्ध वाग्भट[237] ने गर्भिणी के वर्जित दिनचर्या को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

प्रतिदिन शराब पीने वाली स्त्री को तृष्णालु संतान, कम यादाश्त वाली अथवा चंचल मन वाली संतान की उत्पत्ति होती है, प्रतिदिन गोह के मांस का सेवन करने वाली स्त्री को

---

[234] *का०सं०*, शा० जाति० 15 ; न द्विष्यादथितिं भिक्षां दद्यान्न प्रतिवारयेत्। *का०सं०*, शा० जाति० 17-18

[235] नैवोन्नता न प्रणता न गुरुं धारयेच्चिरम्। उद्वेजनं तथा हास्यं चापि वर्जयेत्॥ *का०सं०*, गर्भिणीचि०

[236] व्यायामं मैथुनं रोषं शोफं चक्रमणं तथा। वर्जयेद् गुर्विणीनाञ्च सुखसम्पदः॥ *हा०सं०* 49/9

[237] *अ०सं०,* शा० 2/61

पत्थरी के रोग वाली संतान अथवा शनैः-शनैः मूत्र त्याग करने वाली संतान उत्पन्न होती है, सूअर के मांस का सेवन करने वाली स्त्री को लाल आँखों वाली सन्तान, सोते हुए नाक से खर्राटे भरने वाली सन्तान अथवा अधिक सख्त रोम वाली सन्तान पैदा होती है, प्रतिदिन मछली का मांस खाने वाली गर्भिणी को देर में पलक झपकने वाली अथवा पलक न झपकने वाली संतान पैदा होती है, प्रतिदिन मधुर पदार्थ खाने वाली स्त्री को प्रमेह रोग, गूँगी अथवा बहुत मोटी संतान पैदा होती है, प्रतिदिन खट्टे पदार्थों का सेवन करने वाली स्त्री को रक्तपित्त रोग वाली संतान अथवा त्वचा या नेत्ररोग वाली संतान की उत्पत्ति होती है। अधिक नमक का सेवन करने वाली गर्भिणी को शीघ्र झुर्रियाँ पड़ने वाली या समय से पूर्व बाल सफेद हो जाने वाली अथवा केशों से रहित संतान उत्पन्न करती है।

जो अधिक तीखे पदार्थों को खाती है उसे शोष रोग से ग्रस्त, निर्बल अथवा थोड़ा ही भार उठाने योग्य संतान पैदा होती है, प्रतिदिन कड़वे पदार्थों का सेवन करने वाली स्त्री को कमजोर, कम शुक्र वाली संतान पैदा होती है, प्रतिदिन कसैले पदार्थों को खाने वाली गर्भिणी को श्यामवर्ण, आनाह रोगी अथवा उदावर्त रोग वाली संतान पैदा हो जाती है। गर्भवती स्त्री जिस-जिस रोग को पैदा करने वाले जिन-जिन कारणों से युक्त भोज्य पदार्थों का सेवन करती है, प्रायशः उन्हीं रोगों से युक्त संतान की उत्पत्ति होती है।

गर्भिणी द्वारा लगातार उल्टे सोने से गर्भ की नाभि में लगी नाड़ी गर्भस्थ शिशु के गले में लिपट कर कष्ट पैदा करती है, रात को घूमने वाली गर्भवती नारी से पागल संतान पैदा होती है, जिसका झगड़ालू स्वभाव हो, वह अपस्मार रोग से ग्रस्त सन्तान पैदा करती है, जो मैथुन अधिक करती है उससे निर्लज्ज या स्त्री स्वभावयुक्त संतान की उत्पत्ति होती है, जो शोकग्रस्त होती है वह भयभीत या दुर्बल शरीर वाली या कम आयु वाली संतान पैदा करती है, चोरी करने वाली स्त्री को बहुत जल्दी थकने वाली, शत्रुता रखने वाली अथवा कामचोर संतान पैदा होती है, किसी मनुष्य की बात न सहन करने वाली स्त्री को चण्ड और कपट से निर्वाह करने वाली संतान पैदा होती है, जो रात-दिन सोती रहती है उससे निद्रालु, मूर्ख या मन्दाग्नि युक्त संतान की उत्पत्ति होती है।

वृद्धवाग्भट[238] ने अन्यत्रस्थान पर वर्जित आहार का निरन्तर सेवन करने से अनेक दोषानुसार व्याधियों की उत्पत्ति बताई है- जो गर्भिणी लगातार वातदोष को बढ़ाने वाली पदार्थों का सेवन करती है। उसके शरीर में वात कुपित होकर गति करता हुआ गर्भाशय में रूककर गर्भ में जड़ता, बहरापन, गूँगापन, नाक से बोलना, भारी आवाजयुक्त, लंगड़ा, कुबड़ापन, बौनापन, अंगों की कमी, अंगों का आधिक्य अथवा वातरोग को पैदा करती है। जो गर्भवती स्त्री पित्तदोष को बढ़ाने वाले आहार का लगातार सेवन करती है। उसके शरीर में पित्त कुपित होकर गति करता हुआ वायु की तरह गर्भाशय में रूककर बालों का गिरना, बालों का समय से पहले सफेद होना, दाढ़ी-मूँछ के बालों का न आना, त्वचा, नाखून एवं बालों में पीलापन पैदा होता है।

जो स्त्री कफकारक वस्तुओं का निरन्तर सेवन करती है, उसके शरीर में प्रकुपित कफ गति करता हुआ गर्भाशय में रूककर कुष्ठ, किलास, गर्भ में ही शिशु के दाँत निकलना आदि कफजनित व्याधि पैदा होती है। उपर्युक्त त्रिविध दोषों में बताए गए विकार प्रसवोपरान्त शिशु में दिखाई देते हैं। अतः गर्भवती को किसी एक दोष से सम्बन्धित आहार का सेवन नहीं करना चाहिए, अपितु षड् रसों से युक्त आहार का सेवन करना, उसके लिए एवं गर्भस्थ शिशु के लिए हितकर होता है। चरक[239] ने भी गर्भवती स्त्री द्वारा निषेध किए आहार-विहार का निरन्तर सेवन करने से विकारयुक्त सन्तान का पैदा होना बताया है- जो गर्भिणी प्रायः खुले स्थान पर निर्वस्त्र सोती है, उससे पागल संतान पैदा होती है।

गर्भिणी द्वारा अपथ्य का सेवन करने से गर्भावस्था के दौरान वातादि दोष कुपित होकर विविध व्याधियों को उत्पन्न करता है, उनमें कुछ सामान्य व्याधियाँ होती हैं, जो सभी मनुष्यों को होती हैं। कुछ विशिष्ट रोग होते हैं, जो केवल गर्भवती नारी को ही होते हैं। अतः अग्रिम अध्याय में गर्भिणी को होने वाले सामान्य रोगों के निदान एवं चिकित्सा का पर्यालोचन किया जाएगा।

---

[238] *अ०सं०*, शा० 2/54-56

[239] *च०सं०*, शा० 8/21

तृतीय अध्याय

गर्भिणी को नौ मासों में आहार-विहार एवं ऋतुपरिवर्तन के कारण अनेक शारीरिक-मानसिक व्याधियाँ हो जाती हैं, जिनके कारण गर्भिणी एवं गर्भस्थ शिशु दोनों क्षतिग्रस्त होते हैं। इन विकारों में कुछ सामान्य विकार होते है, जिससे प्रमुखतः गर्भिणी को शारीरिक कष्ट होता है एवं कुछ विशिष्ट रोग होते हैं, जिससे गर्भ में विद्यमान शिशु की मृत्यु, भ्रूण का प्रथम तीन मास में स्राव आदि हो जाता है। इसलिए गर्भावस्था के दौरान गर्भिणी को सामान्य, विशिष्ट व्याधियों से बचाना ही आयुर्वेद का परम ध्येय है। अतः सर्वप्रथम रोग एवं चिकित्सा का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

3.1.1 रोग का सामान्य परिचय :- आयुर्वेद में स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य का रक्षण एवं रोगियों की चिकित्सा करना मुख्य लक्ष्य है। आयुर्वेदज्ञों ने शारीरिक-मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टया मनुष्य को स्वस्थ स्वीकार किया है। वह मनुष्य शारीरिक दृष्टया स्वस्थ होता है, जिसके दोष-धातु-मल एवं अग्नियाँ साम्य अवस्था में हो। इसलिए आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ मनुष्य के त्रिविध दोष, सप्त धातु, मल एवं अग्नियों को साम्य अवस्था में लाना और उसके मन, इन्द्रियों तथा आत्मा को प्रसन्न रखना। इसके विपरीत इन भावों की वैषम्यावस्था ही रोग है, क्योंकि यह वैषम्यावस्था दुःख का कारण होती है-

"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यरोगता।"[240]

इसलिए रोग का तात्पर्य उस स्थिति से है, जिसके संयोग से मानव को दुःख की अनुभूति होती है। चरक ने रोग के लक्षण को अधिक स्पष्टरूप से बताया है-

"विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च॥"[241]

---

[240] *वा०सू०* 1/20 ; सुखसंज्ञक आरोग्यं, विकारो दुःखमेव च॥ *च०सं०*, नि० ¼

तद्दुःखसंयोगा व्याध्य उच्यन्ते। सु०सं, सू० 1/22 ; रोगस्तु दोषवैषम्यम्। *अ०हृ०*, सू० 1/20

[241] *च०सं०*, सू० 9/4

अर्थात् त्रिविध दोष एवं सप्तधातु का बढ़ना या न्यून होना रोग कहलाता है। धातुओं का अपने परिमाण एवं स्वरूप में बने रहना प्रकृति कहलाती है। अतः मानव को रोग न होने से सुखानुभूति और रोग होने से दुःखानुभूति होती है। इसके आमय-व्याधि-आतंक-गद-पाप्मा-ज्वर-रोग-आबाध-विकार-तम तथा दुःख आदि शब्द पर्याय हैं।[242] इन सभी पर्यायवाचक शब्दों में आमय शब्द महत्त्वपूर्ण है।

चक्रपाणि के अनुसार अधिकतर रोगों के आम-दोष-जन्य होने के कारण रोग सामान्य हेतु 'आमय' प्रयोग हुआ है। विकारों के आश्रय, हेतु एवं उत्पत्ति की दृष्टि से अनेक भेद होते हैं। यथा- उत्पत्ति दृष्टया- पापज एवं कर्मज, हेतु-आश्रय दृष्टया- स्वाभाविक, शारीरिक-मानसिक, आगन्तुज, एवं निज।

अथर्ववेद[243] में रोग के दो भेद बताए गए हैं- शपथ्य एवं वरुण्य। इनमें प्रथम आहार से एवं द्वितीय शापादि जनित रोग है। केशवपद्धति के अन्तर्गत रोग के दो प्रकार हैं- आहारनिमित्त, अन्य जन्मपापनिमित्त। निज एवं आगन्तुज रोगों को भी 'रोग' एवं 'आस्राव' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। रोग दोष प्रकुपित जनित विकार है तथा आस्राव अभिघात अर्थात् चोट आदि से व्यथापूर्वक रोग पैदा होता है। रोग एवं आस्राव शब्दों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।[244] रोग शब्द का अर्थ वेदना है। वाग्भट के शब्दों में कह सकते हैं कि दोषों की वैषम्यता से रोग कहलाता है। अतः स्पष्ट होता है कि अथर्ववेदकाल में भी त्रिदोष से विकारों की उत्पत्ति होती थी।

3.1.2 चिकित्सा का सामान्य परिचय :- रोग को सम्यक् जानकर पीड़ित मनुष्य के दुःख का निवारण उपचार है। चिकित्सा की निष्पत्ति **"कित् रोगापनयने"** धातु से होती है, जिसका तात्पर्य - व्याधि को नष्ट करने वाले उपायों का प्रयोग।

---

[242] *च०सू०*, नि० 1/5 ; रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः। यक्ष्मातंकगदाबाधाः शब्दाः पर्यायवाचिनः॥
अ०हृ०, नि० 1/1

[243] मुञ्चन्तु मां शपथ्यादथो वरुण्यादुत। *अ०व०*, शौ० 6/95/2

[244] एवा रोगं चाद्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्च इत्॥ *अ०वे०*, शौ० 1/2/4
तदास्रावस्य भेषजं तदुरोगमनीनशत्॥ *अ०वे०*, शौ० 2/3/4

वैद्यकशब्दसिन्धु में इसका आशय **"व्याधि-निदान-प्रतिकार"**[245] है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में चिकित्सा शब्द के अधोलिखित पर्यायवाची शब्द हैं- वैद्यककर्म-क्रिया-प्रतिषेध-कर्म-भिषक्कर्म-रोगापनयन-प्रतिकर्म-चिकित्सित-प्रतीकार-प्रशमन-शमन-औषध-साधन-व्याधिहर-रोगोन्मूलन-प्रायश्चित-पथ्य-प्रकृतिस्थापन-उपचार-निग्रह एवं उपक्रम।[246]

शरीर में दोष-धातु-मलों के अधिक या न्यून होने पर उनको सम अवस्था में लाने हेतु चिकित्सक जो प्रयत्न करता है, उसे रोगोपनयन कहते हैं। इसलिए उपचार को एक प्रवृत्ति कहा गया है। इसलिए जिस क्रिया द्वारा शरीर की सभी धातुएँ साम्य होती है, चिकित्सा कहलाती है और वही उपचारक का वास्तविक कर्म है। जो मनुष्य के आमय का शमन करे, वही सर्वोत्कृष्ट वैद्य होता है। वस्तुतः चिकित्सक का जीवन-मृत्यु पर अधिकार नहीं है, लेकिन उसके अधिकार में केवल रोग-जनित पीड़ा को दूर करना है। अतः कहा गया है कि रोगी के कण्ठ में जब तक प्राण रहे, तब तक वैद्य को उसकी व्याधि का उपचार करते रहना चाहिए। अतः आयुर्वेद की संहिताओं के अन्तर्गत उपचारक को रोगोन्मूलन के चारों पादों में सम्मिलित किया गया है-

"भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत् कारणं ज्ञेयमं विकारव्युपशान्तये॥"[247]

अर्थात् उपचार के वैद्य, औषधद्रव्य, परिचार एवं रोगी नामक चार चरण हैं। ये सभी अपने-अपने गुणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ सम्पूर्ण रोगों का शमन करने में निदान होते हैं।

कर्मकुशल एवं शुचि चिकित्सक ही अपने कर्म में सफल हो सकता है। अतः ऐसे वैद्य को *अथर्ववेद* में 'भिषक्तम' (श्रेष्ठतम चिकित्सक) कहा गया है।[248] प्राचीन समय में वैद्य अपनी औषधी स्वयं बनाता था।

---

[245] या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते। *वै०श०सि०*

[246] चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चितं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्॥ *च०सं०*, चि० 1/2

[247] *च०सं०*, सू० 9/3

[248] यश्चकार स निष्करत सर्व सुभिषक्तमः। स एवं तुभ्यं भेषजानि कृणवद भिषजा शुचिः॥ *अ०वे०*, शौ० 2/9/5

अथर्ववेद की शौनकीय शाखा में वर्णित है- **'त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्त्ता।'**[249] अतः उत्तरवैदिककाल में औषधियों का क्रय-विक्रय होता था। सम्भवतः उस समय बाहरी देशों से भी औषधियों का आवागमन होता था। *अथर्ववेद* में उत्तम भूमि पर भेषजसंग्रहण का भी निर्देश मिलता है।[250] आयुर्वेदानुसार दोषवैषम्य के कारण गर्भवती स्त्री में उन सभी विकारों का उद्भव हो सकता है, जो सामान्यरूप से अन्य मनुष्यों को पीड़ित करती हैं। लेकिन इस अवस्था में उनका चिकित्सारूप भिन्न होता है, उपचार की प्रक्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। अतः सामान्य व्याधियों का पर्यालोचन निम्नोक्त है-

3.2.1 गर्भिणी ज्वररोग :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में ज्वर व्याधि एक प्रमुख रोग है। यह अनेक व्याधियों का लक्षण है एवं प्रत्येक संहिता में एक स्वतन्त्र आमय के रूप में विवेचित है। शरीर में पैदा होने वाली व्याधियों में ज्वरोत्पत्ति का वर्णन सर्वप्रथम किया गया है। *चरकसंहिता* में ज्वररोग को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

"इह खलु ज्वर एवादौ विकारानामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारीणाम्।"[251]

सुश्रुत[252] भी इसे सम्पूर्ण व्याधियों का राजा स्वीकार करते हैं। इस रोगोत्पत्ति में पाचन-संस्थान का वैकृत होना प्रमुख माना गया है। शरीर को तपाने के कारण इसे 'ज्वर' कहते हैं। इसमें अनेक उपद्रव सम्मिलित हैं, जिसकी चिकित्सा करना कठिन होता है। यह व्याधि सम्पूर्ण जीवों के जन्मकाल एवं मृत्युकाल में अवस्थित होती है। अतः जीव ज्वरसहित उत्पन्न होते हैं तथा उनकी मृत्यु भी ज्वर सहित ही होती है। चरक द्वारा ज्वररोग की विवेचना इस प्रकार की गई है- **"सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एवं जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च"।**[253]

आयुर्वेद में इस रोगोत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न दृष्टान्त मिलता है। चरक के अनुसार त्रेतायुग में भगवान् शिव 'अक्रोध' तप हेतु सहस्र वर्ष तक ध्यानमग्न थे। तत्क्षण ऋषियों के कार्यों में राक्षसों ने विघ्न-बाधाएँ उत्पन्न कर दीं। इस स्थिति से अवगत होने के उपरान्त दक्ष

---

249 *अ०वे०*, शौ० 5/29/1

250 इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा। तासामधि त्वचो अहं भेषजं समुजग्रभम्॥ *अ०वे०*, शौ० 6/21/1

251 *च०सं०*, नि० 1/16

252 जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्। अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः॥ *सु०सं०*, उ० 39/10

253 *च०सं०*, नि० 1/35

प्रजापति द्वारा असुरों का विनाश नहीं किया गया तथा उन्होंने ऋषिगणों की रक्षा भी नहीं की। द्वितीय तथ्य यह है कि तत्काल उनके द्वारा यज्ञ प्रारम्भ किया गया तथा उस यज्ञ में भगवान् शम्भू को उनका हिस्सा नहीं दिया गया। तृतीय तथ्य यह है कि दक्ष प्रजापति ने यज्ञ के सफल होने के क्रम भगवान् शंकर का मंत्रोच्चारण नहीं करवाया तथा उन्हें हविष्य भी नहीं दी गई।

भगवान् शम्भू ने अपने तप को पूर्ण किया, तो उनको दक्ष प्रजापति के द्वारा करवाए गए कार्यों की स्मृति हुई। इसके उपरान्त भगवान् शंकर ने रौद्र रूप धारण किया तथा उनकी तीसरी आँख खुल गई एवं उस नेत्र के तेजपुंज से असुरों का विनाश हो गया। उसके बाद याग को विनष्ट करने हेतु, क्रोधाग्नि द्वारा संतप्त बालक की उत्पत्ति हुई, जिसने दक्ष प्रजापति के यागादि को ध्वंस कर दिया। इस रोद्राग्नि रूप को देखकर पीड़ा एवं जलन से त्रस्त देवतादि एवं ऋषिगण पागलों के सदृश इधर-उधर भागने लगे। तत्पश्चात् भयानक असहनीय दुःखद स्थिति को देखकर देव एवं सप्तर्षियों ने मिलकर, रौद्ररूप की कठोर अराधना की, जिससे रुद्र स्वयं सभी प्राणियों के लिए कल्याणकारक बन गए। क्रोध की अग्नि से युक्त बालक ने शिव को शान्त स्वभाव में देखा, तो उसने शिव से विनम्र निवेदन करते हुए पूछा- हे प्रभु ! अब मेरा क्या कार्य है ? भगवान् शंकर ने आदेश दिया कि तुम जीवों के जन्म तथा मृत्यु काल में, वर्जित आहार-विहार करने के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर 'ज्वर' नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे।[254] अतः इस दृष्टान्त को ज्वरव्याधि का रूपक स्वीकार कर क्रोध द्वारा ज्वरोत्पत्ति माननी चाहिए। *चरकसंहिता* में वर्णित है- कि क्रोध द्वारा पित्तदोष की वृद्धि[255] होती है। अतः क्रोध को आग्नेय स्वीकार करके पित्त एवं अग्नि को अभेद माना गया है।

अथर्ववेद में रुद्र को ज्वर व्याधि के लिए वज्र कहा गया है- **"नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषिमते। नमो दिवे नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यः॥"**[256] अर्थात् आप रुलाने वाले रुद्र ज्वरव्याधि के लिए वज्र हो, तक्मा के लिए वज्र हो। दीप्तिमान राजा वरुण, द्युलोक, पृथिवी एवं औषधियों के लिए आदर करते हैं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में एवं

---

[254] *च०सं०*, चि० 3/15-25

[255] क्रोधात् पित्तम्। *च०सं०*, चि० 3/115

[256] *अ०वे०* 6/20/2

आयुर्वेदोक्त प्रसंग में विरोधाभास हो रहा है, क्योंकि यहाँ पर रुद्र ज्वर रोग का शमन करते हैं और आयुर्वेद में रुद्र की क्रोधाग्नि से ज्वर नामक बालक उत्पन्न हुआ है।

कश्यप ने गर्भवती स्त्री के सामान्य रोगों में ज्वर को सबसे अधिक कष्टकारक व्याधि के रूप में स्वीकार किया है-

"गर्भिणीनां ज्वरः कष्ट सर्वव्याधिषु पार्थिव ! ।

ज्वरोष्मणाऽभितप्तस्तु गर्भो यात्येव विक्रियाम्॥

तस्माज्ज्वरचिकित्सां तु पूर्वमेव निबोध मे।"[257]

अर्थात् गर्भिणी के सम्पूर्ण विकारों में ज्वरविकार सबसे अधिक कष्टदायी विकार होता है। इस की ऊष्मा से पीड़ित हुए गर्भ में विकार पैदा हो जाता है। इसलिए सर्वप्रथम तुम ज्वरव्याधि की चिकित्सा सुनो।

3.2.2 गर्भिणी ज्वर-निदान :- आयुर्वेद में गर्भवती स्त्री को होने वाले ज्वरव्याधि के कारण केवल *काश्यपसंहिता* में ही स्पष्टरूप से बताए गए हैं। अन्य *चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टाङ्गहृदय* में गर्भिणी ज्वर निदान का वर्णन सामान्य ज्वर के अन्तर्गत ही किया गया है। कश्यप ने ज्वर-निदान को परिभाषित करते हुए बताया है-

"क्षुच्छ्रनाभ्यञ्जनाद्रौक्ष्यादौष्ण्यापक्वविधारणात्॥

स्नेहस्वेदौषधानां च विभ्रमात्तेजसोऽपि च।

सन्तापान्मनसश्चापि पर्वतानां तथैव च॥

गन्धाच्च तृणपुष्पाणां गर्भिण्या जायते ज्वरः।"[258]

अर्थात् गर्भिणी को किसी कारणवश भूखे रहने से, अधिक परिश्रम, रूक्षता, उष्णता, अपच के धारण से स्नेहन, स्वेदन, औषधियों, तेज के विभ्रम, मन के सन्ताप से, पहाड़ों पर चढ़ने से,

---

[257] *का०सं०*, खि० 10/4-5

[258] *का०सं०*, खि० 10/5-7

तृण एवं पुष्पों की गन्ध इत्यादि से ज्वररोग हो जाता है। बृहत्त्रयी में गर्भिणी को होने वाले ज्वर के कारणों का वर्णन नहीं मिलता है।

अथर्ववेद में ज्वरादि समस्त रोगों का प्रथम एवं सामान्य कारण धातु वैषम्य अर्थात् वात, पित्त, कफ आदि धातुओं की वैषम्यता ही रोगोत्पादक निदान कहा गया है। *अथर्ववेद* में कथित है- **"यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन् सचतां पर्वताश्च॥"**[259] अर्थात् जिसकी उत्पत्ति वातदोष जनित होती है वह वातिक रोग, जिसकी उत्पत्ति पित्तदोष जनित होती है वह पैत्तिक रोग तथा जिसकी उत्पत्ति कफदोष जनित होती है, वह श्लैष्मिक रोग कहलाता है। अतः *अथर्ववेद* में प्रमुख रूप से वात, पित्त एवं कफ आदि की विषमता ही ज्वरव्याधि का मुख्य कारण है।

अथर्ववेद में त्रिविध दोषों को ज्वर व्याधि का प्रमुख कारण बताते हुए कहा गया है कि- **"यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः। भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः॥"**[260] अर्थात् हे ज्वर जो कि तुम शीत पहुँचाने वाले कफ प्रधान, अग्नि के समान शरीर को तपाने वाले पित्त प्रधान और खाँसी के साथ शरीर को कँपाने वाले वात प्रधान दोष है। तुम्हारे शस्त्र घातक आक्रमण करने वाले हैं। अतः हमें इनसे मुक्त करो। इस प्रकार त्रिविध दोषों के वैषम्य होने पर ज्वररोग का प्रादूर्भाव होता है, ऐसा स्पष्ट रूप से *अथर्ववेद* में वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद में ऋतुओं के कारण भी ज्वरोत्पत्ति का वर्णन समुपलब्ध होता है- **"तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्। तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥"**[261] अर्थात् तीसरे दिन आने वाले तृतीयक ज्वर, तीन दिन छोड़कर चौथे दिन आने वाला विपरीत ज्वर, प्रतिदिन रहने वाला, कष्ट देने वाला और शरद् ऋतु, वर्षा ऋतु एवं ग्रीष्म ऋतु में होने वाले ज्वर का शमन करो। अतः स्पष्टतया प्रतीत होता है कि ऋतु परिवर्तन के बाद शरीर में संचित हुए दोषों के कारण मनुष्य ज्वररोग से पीड़ित होता है। *अथर्ववेद* में शोक एवं मोह के कारण संतप्त हुए मनुष्य में ज्वरोत्पत्ति हो जाती है- **"यदि शोको यदि वाभिऽशोको यदि वा**

---

[259] *अ०वे०*, शौ० 1/12/3 ; शुष्मः शोषकः पित्तविकारजनित अभ्रजाः श्लेष्मरोगः॥ *सा०भा०*

[260] *अ०वे०*, 5/22/10

[261] *अ०वे०*, 5/22/13

राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः। ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥"[262] अर्थात् हे जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! यदि आप शरीर को कष्ट देने वाले हैं अथवा सम्पूर्ण शरीर में वेदना पैदा करने वाले हैं या दुर्व्यवहार करने वाले को दण्ड देने वाले हैं तो हे वरुण देव के पुत्र ! आपका नाम ह्रूडु है। आप अपने कारण अग्नि को जानकर, हमें इस व्याधि से मुक्त कर दो।

अतः जिस प्रकार हवा के विकृत होने से आँधी, तूफान आदि आकर पर्यावरण को हानि पहुँचाते हैं, उसी प्रकार वात दोष भेदों सहित सारे शरीर में फैल जाती है और जब ज्वररोग पैदा होता है तब वात ही सम्पूर्ण देह में वेदना उत्पन्न करके हानि पहुँचाती है।

अथर्ववेद में ज्वर के लक्षणों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- "जैसे अग्नि देह को तपाती है वैसे ही ज्वर पूरे शरीर में व्याप्त होकर तपाता है। यह पागल की तरह प्रलाप करता हुआ, परलोक गमन करता है अर्थात् जब ज्वर शरीर में अत्यधिक फैलता है, मानव के सिर में पहुँच जाता है तब वह मनुष्य को मार देता है। यदि ऐसा ज्वर किसी अनियमित व्यक्ति के पास चला जाए, तब तपाने वाले अस्त्र से मारने वाले एवं दुःखी करने वाले को हमारा नमस्कार है। अतः मानव की देह में ऊष्मा का अत्यधिक बढ़ना इसका प्रमुख कारण है।

"अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।

अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥"[263]

यह ज्वर शरीर के सम्पूर्ण अंगों, इन्द्रियों एवं मन को संतप्त करता है, सम्पूर्ण अंगों के रूपों को हरा एवं पीला करता है, ज्वर द्वारा संतप्त हुए शरीर एवं मुख को लाल बनाते हुए, शरीर की शक्ति को क्षीण करते हुए एवं दूषित जल से पैदा होने वाले, उस ज्वर को नमस्कार है।[264] इस प्रकार ज्वररोग के बढ़ने पर काय के सारे अंग तप्त होते हैं, मुख लाल हो जाता है,

---

[262] *अ०वे०* 1/25/3

[263] *अ०वे०* 6/20/1

[264] अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि। तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥ *अ०वे०* 6/20/3

मनुष्य की इन्द्रियाँ एवं मन भी ग्रस्त हो जाता है, जिसका प्रधान कारण मनुष्य द्वारा दूषित जल का सेवन करना है।

3.2.3 ज्वररोग का शमन :- यदि इन कारणों से गर्भिणी ज्वररोग से पीड़ित हो जाती है तब कश्यप ने उसे उपवास करने के लिए कहा है- ज्वरयुक्त गर्भवती स्त्री को सर्वप्रथम पहले दिन उपवास करना चाहिए, तदुपरान्त उसे नमक एवं स्नेह से रहित पेया देनी चाहिए।[265] उपचारक द्वारा गर्भिणी की बलावस्था देखने के बाद ही लंघन कराना हितकर है। वह दुर्बलावस्था में है, तब उसको अल्पाहार दे। चरक भी सामान्य ज्वररोग की चिकित्सा करते हुए सर्वप्रथम उपवास करने का निर्देश करते हैं। चरक ने दो से छह दिन के मध्य में ज्वररोग होने पर उपवास करने के लिए कहा है- **"ज्वरे लङ्घनमेवादावौ उपदिष्टमृते ज्वरात्। क्षयानिलेभयक्रोधकामशोकश्रमोद्वात्"॥**[266] अर्थात् ज्वरव्याधि के नवीन होने पर अर्थात् इस रोग के दो से छह दिन बीतने पर, मानव को सर्वप्रथम उपवास कराना चाहिए। किन्तु पीड़िता भयज-कामज-क्षयज-क्रोधज-वातज-शोकज एवं श्रमजन्य ज्वर से आक्रान्त हो, तो ऐसी परिस्थिति में पीड़िता को लंघन नहीं कराना चाहिए। वाग्भट भी सामान्य ज्वरव्याधि का उपचार करते हुए रोगी को उपवास करने के लिए कहते हैं। यदि आमाशय में उपस्थित होकर त्रिविध दोषों में से कोई एक दोष जठराग्नि को मन्द कर देता है तब वह अपरिपक्व रससहित रसवाही स्रोतों को रोक देता है, जिसके कारण ज्वररोग की उत्पत्ति हो जाती है।

अतः पीड़िता में ज्वररोग के पूर्वरूप को देखने पर या ज्वरव्याधि के आरम्भ होने पर ही पीड़िता के बलाबल को जानकर उसे लंघन अथवा अल्प भोजन कराना चाहिए। पीड़िता को उपवास उतना ही करवाना चाहिए, जिससे उसकी शक्ति क्षीण न हो, क्योंकि आरोग्य का आधार मानव की शक्ति होती है, अतः आरोग्य प्राप्ति हेतु उपचार किया जाता है।[267]

गर्भिणी ज्वररोग में वृद्धि करने वाले आहार-विहार का परित्याग करे। *काश्यपसंहिता* में गर्भिणी ज्वर का उपचार बताते हुए कहा गया है कि-

---

[265] गर्भिणीं ज्वरितां नारीमेकाहमुपवासयेत्। ततो दद्यादलवणां पेयां स्नेहविवर्जिताम्॥ *का०सं०*, खि० 10/7

[266] *च०सं०, चि०* 3/139-140

[267] आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्। विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लङ्घनम्॥
प्राग्रूपेषु ज्वरादौ वा, बलं यत्नेन पालयन्। बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थः क्रियाक्रमः॥ *अ०हृ०, चि०* 1/1-2

"तीक्ष्णानि त्वन्नपानानि स्वेदायासमेव च।

वर्जयेज्ज्वरिता नारी यवागूं केवला पिबेत्।।"[268]

अर्थात् गर्भवती स्त्री को ज्वररोग हो जाने पर उसे तीखे अन्न एवं पेय, स्वेदन और परिश्रम वाले कार्यों का परित्याग करना चाहिए। गर्भवती स्त्री को केवल यवागू भोज्य रूप में दे। यदि यवागू द्वारा दोषों में कुछ कमी आ जाए, तब उसे यवागू के साथ अन्न का सेवन कराना चाहिए। उसके बाद यवागू द्वारा दोषों की कमी हो जाने पर उसे दूध एवं मांसरस का सेवन कराना चाहिए। यदि इसके बाद भी कुछ दोष का अनुबन्ध शेष रह जाए तो गर्भ के समय को देखकर चौथे मास के बाद वैद्य औषधी का सेवन करने के लिए गर्भवती स्त्री को दे सकता है। अतः गर्भिणी को यदि प्रथम तीन मासों में ज्वरव्याधि हो जाती है तब पूर्णतया औषधी का सेवन नहीं करना चाहिए। उसे केवल आहार-विहार को ध्यान में रखते हुए उपवास, यवागू आदि द्वारा ज्वररोग का प्रशमन करें।

आचार्य चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट सामान्य ज्वरव्याधि का वर्णन करते हुए यवागू देने का विधान बताते हैं। गर्भिणी को उपवास कराने के उपरान्त यवागू देने के लिए बृहत्त्रयी में कहा गया है। चरक ने ज्वरव्याधि की चिकित्सा करते हुए कहा है-

"लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत्। यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः॥

यावज्जवरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः। तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः॥"[269]

अर्थात् गर्भवती स्त्री को भोजन के समय ज्वरव्याधि का शमन करने हेतु औषध-क्वाथ में माण्ड मिलाकर यवागू पीने के लिए दे। गर्भिणी का ज्वर क्षीण होने तक अथवा छह दिनों तक यवागू सेवन के लिए दें। यदि गर्भिणी वैद्य के अनुसार यवागू का सेवन करती है तब उसकी जठराग्नि शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है।

सुश्रुत तथा वाग्भट[270] द्वारा सामान्य ज्वररोग में यवागू सेवन का विधान बताया गया है। वाग्भट एक उत्तम दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे छोटी-छोटी लकड़ियों को चूल्हे

---

[268] *का०सं०*, खि० 10/8

[269] *च०सं०, चि०* 3/149-150

[270] *सु०सं०, उ०* 39/110 ; *अ०हृ०, चि०* 1/24-26

में रखने पर अग्नि शीघ्रातिशीघ्र प्रदीप्त होती है, वैसे ही यवागू का सेवन नित्य छह दिनों तक ज्वररोग के शमन हेतु करना चाहिए।

गर्भवती स्त्री के ज्वर शमन हेतु स्वेदन, अभ्यङ्ग, नस्य, धूम्रपान, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण एवं बस्ति आदि का प्रयोग न करे। चरक ने ज्वरव्याधि के सन्दर्भ में कहा है कि "**न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालं च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद् व्याधेः।**"[271] अर्थात् गर्भवती स्त्री को वमन, विरेचन और नस्य का प्रयोग न कराएँ, रक्तमोक्षण न कराएँ, प्रत्येक क्षण आस्थापन या अनुवासन बस्ति का भी प्रयोग न करें।

चरकसंहिता में अन्यत्रस्थान पर नस्य का निषेध करते हुए कहा गया है कि- जब विरेचित गर्भवती स्त्री को नस्य दिया जाता है तब वायु प्रकुपित होकर वातजनित आमयों को उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार को स्नेहन तथा बृंहण उपचार करना चाहिए तथा स्वेदन आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि गर्भवती स्त्री को कोई वात रोग हो तो उसे घी एवं दुग्ध का सेवन कराना चाहिए। ज्वर से आक्रान्त मानव जब नस्य का प्रयोग करते हैं, तो उन्हें तिमिरनेत्र रोग हो जाता है।[272] यदि अज्ञानतावश उपचारक गर्भिणी को नस्य कर्म दे देता है तो उसके गर्भ में स्थित शिशु में भी व्याधि की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिए चरक ने गर्भवती स्त्री के लिए नस्य कर्म का निषेध करते हुए कहा है कि- **"गर्भिण्या गर्भं स्तम्भयेत्, स काणः कुणिः पक्षहतः पीठसर्पी वा स्यात्।"**[273] अर्थात् गर्भिणी को दिया हुआ नस्य गर्भस्थ शिशु को जकड़ लेता है, जिसके कारण वह बहरा, कुबड़े हाथों वाला, पंगु उत्पन्न होता है। चरक ने गर्भिणी को ज्वररोग होने पर आठवें मास तक औषधी न देने के लिए कहा है। *सुश्रुतसंहिता* तथा *अष्टाङ्गहृदय* में गर्भिणी को ज्वररोग होने पर कोई विशेष चिकित्सा नहीं मिलती है। कश्यप ने कहा है कि गर्भवती स्त्री के दोषों को नस्य द्वारा नहीं निकालना चाहिए अर्थात् उसे नस्य कर्म नहीं देना चाहिए, क्योंकि नस्य कर्म देने से उस गर्भिणी की मृत्यु हो सकती है-

---

[271] *च०सं०*, शा० 8/22

[272] *च०सं०*, सि० 9/113-114

[273] *च०सं०*, सि० 2/21

"गर्भिणीनां तु नारीणां नस्ततो नानुसेचयेत्। नस्यदानेन गर्भिण्याः प्राणस्तु परिहीयते॥"[274]

3.2.4 ज्वररोग में औषधी प्रयोग :- यदि गर्भवती स्त्री चतुर्थ मास में ज्वररोग से पीड़ित होती है तो *काश्यपसंहिता*[275] में इस मास में औषधी देने का विधान मिलता है- गर्भिणी का प्रथम तीन मासों में गर्भ स्थिर नहीं होता है। यदि इन तीनों मासों में औषधी का सेवन गर्भवती स्त्री द्वारा किया जाए तो गर्भपात/गर्भस्राव होने का भय रहता है। इसलिए गर्भिणी को चतुर्थ मास में औषधी देनी चाहिए।

चरक[276] ने तो अष्टम मास से पहले कोई भी औषधी नहीं देने के लिए कहा है। यदि गर्भिणी आठवें मास में रोगी हो तो उसके लिए वमन, विरेचन या नस्य का प्रयोग लाभदायक होता है। अतः ऐसी स्थिति में उसके लिए मृदु वमनकारक, मृदु विरेचनकारक या मृदु नस्य का प्रयोग हितकर है। जैसे तेल से लबालब भरे हुए पात्र को हाथ में उठाने पर हाथ अकम्पित अर्थात् स्थिर रखते हैं, वैसे ही चिकित्सक गर्भवती नारी की चिकित्सा सावधानीपूर्वक करे।

सुश्रुत ने किसी मास एवं रोग का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु किसी तीव्र रोग होने पर वमन[277] एवं अनुलोमनार्थ प्रयोग करने के लिए कहा है- यदि गर्भवती स्त्री किसी व्याधि से पीड़ित हो तब उसे मधुर और अम्ल आहार द्रव्यों से वमन कराएँ एवं अनुलोमन का प्रयोग कराना चाहिए। उसके लिए संशमन एवं अन्नपान भी मृदु ही होनी चाहिए। उसे खाने के लिए प्रायः मृदुवीर्य, मधुर एवं गर्भानुकूल पदार्थ देना चाहिए। उसकी अन्य क्रियाएँ भी गर्भ के अनुकूल एवं मृदु ही होनी चाहिए।

सुश्रुतसंहिता में ज्वररोग के उपचार में विरेचन तथा नस्यादि देने का वर्णन नहीं मिलता है। वाग्भट ने गर्भिणी को ज्वररोग होने पर वमन, विरेचन आदि पंचकर्म का वर्णन नहीं किया है। *भावप्रकाश*[278] में भी कहा गया है कि गर्भवती स्त्री को ज्वरव्याधि होने पर,

---

[274] *का०सं०*, खि० 10/19

[275] अनुबन्धे तु दोषस्य गर्भकालमपेक्ष्य च। मासाञ्चतुर्थात् प्रभृति भिषग्भेषजमाचरेत्॥ *का०सं०*, खि० 10/11

[276] *च०सं०*, शा० 8/21

[277] *सु०सं०*, शा० 10/67

[278] मधुकं चन्दनोशीरसारिवापद्मपत्रकैः। शर्करामधुसंयुक्तैः कषायो गर्भिणीज्वरे॥ *भा०प्र०*, चि० 8/65

उसे मुलेठी, लालचन्दन, खश, अनन्तमूल एवं कमल का पत्ता इन सभी द्रव्यों के काढ़े में मिश्री एवं शहद मिलाकर पिलाना चाहिए, जिससे इसका शीघ्र प्रशमन होता है।

अथर्ववेद में सोम औषधी का सेवन ज्वर विकार के उपशमन हेतु करने के लिए कहा गया है- **"अग्नितक्मानमप बाधतामितः सोमो वरुणः पूतदक्षाः। वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥"**[279] अर्थात् सोम औषधी को शुद्ध जल के सहयोग से पत्थर के साथ पीसना चाहिए। उसके स्वरस का होम तथा पके कषाय को पीने या खाने पर ज्वररोग में आराम मिलता है एवं पीड़िता शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है। इस रोग की चिकित्सा करते हुए अभ्रक औषधी के सेवन के संदर्भ में कहा गया है- यह बहुत भयंकर व्याधि है, बलवान् मनुष्य को शक्तिहीन बना देता है। जिन क्षेत्रों में अत्यधिक वर्षा अथवा अत्यधिक वर्षा से भरे हुए जलाशय होते हैं, वहाँ के निवासियों को यह व्याधि बारम्बार होती रहती है। अतः इन क्षेत्रों में होने वाली व्याधि का शमन अभ्रक औषधी के सेवन से किया जा सकता है।[280]

अथर्ववेद के अन्य सूक्त में ज्वररोग को शमन करने हेतु कचूर, पिप्पली आदि औषध देने का विधान बताया गया है- **"गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः। प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥"**[281] अर्थात् गंधार देशवासियों, मूंजवान, अंग तथा मगध देशों के लोगों के लिए ज्वररोगों को उपहारस्वरूप दिया जाता है। जैसे- विदेश जाने वाले व्यक्ति को धन दिया जाता है। अतः इस मन्त्र में गन्धारि, मूंजवान, अंग एवं मगध शब्द ज्वर व्याधि का शमन करने वाली औषधियों के वाचक हैं, जो कचूर, सोम, बोल एवं पिप्पली औषधियों प्रयोग करना चाहिए। अतः उपर्युक्त औषधियों के सेवन करने से रोगी को ज्वररोग में शान्ति मिलती है।

3.2.5 वातज ज्वरव्याधि का शमन :- गर्भिणी के वातज ज्वर रोगोपनयन का वर्णन केवल *काश्यपसंहिता* में ही मिलता है। बृहत्त्रयी में इसके उपचार का वर्णन नहीं मिलता है। कश्यप वातजज्वर के उपचार को विवेचित करते हुए कहते हैं कि पीड़िता की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को जानने वाले वैद्य सम्यक् प्रकार से विचार-विमर्श कर गर्भिणी को विदारीगन्धा,

---

279 *अ०वे०* 5/22/1

280 अधराञ्चं प्रहिणोमि नमः कृत्वा तक्मने। शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान्॥ *अ०वे०* 5/22/4

281 *अ०वे०* 5/22/14

पृश्निपर्णी, एरण्ड, मुलहठी तथा देवदारु के काढ़े में शर्करा सहित बिजौरा नीम्बू का रस मिलाकर सेवन कराएँ। यह औषध वातज्वर को शान्त करती है।[282]

अथवा गर्भवती स्त्री को विदारीगन्धा वर्ग की औषधियों का काढ़ा पकाकर, उसमें देवदारु मिलाकर गुनगुना करके देने पर वातज ज्वररोग का शमन हो जाता है। अथवा गर्भिणी को छोटी एवं बड़ी कटेरी, वरुण, एरण्ड, मुलहठी एवं रास्नादि कल्क द्रव्यों का क्वाथ बनाकर सेवन के लिए देने पर वातज्वरव्याधि दूर होती है या गर्भवती स्त्री को दोनों पञ्चमूल के काढ़ा में रास्नाकल्क मिलाकर गुनुगुने रूप में सेवन के लिए दे। इसके सेवन से गर्भवती नारी शीघ्रातिशीघ्र वातज्वर रोग से स्वस्थ हो सकती है।[283] कश्यप इन त्रिविध औषधियों को देने के लिए कहते हैं परन्तु इन्हें कब एवं कितनी मात्रा में देना चाहिए, यह नहीं बताया है अर्थात् इस क्वाथ को प्रातः या सायंकाल में देना है या कितनी मात्रा में देना है, इसका वर्णन नहीं मिलता है।

कश्यप ने इन औषधियों के अतिरिक्त गर्भवती स्त्री के बाह्य अंगों पर स्नेहन कर्म करने के लिए कहा है- गर्भिणी को भोजन के जीर्ण होने पर पतली एवं नमक से रहित पेया देनी चाहिए, जिससे उसके ताप की वृद्धि न हो एवं भोजन का शीघ्र पाचन हो जाए। उसके सारे शरीर की सिद्ध तैल द्वारा मालिश करनी चाहिए, जिससे शीघ्र ही वातज्वर शान्त हो जाता है। स्नेहन कर्म के लिए तैल निम्नोक्त है- कुष्ठ मधुयष्टि, रास्ना, भूकदम्ब, सौंफ, पद्माख, सारिवा, खश, नीलकमल, नागरमोथा, पृश्निवर्णी, करविन्दी, बच, क्षीरविदारी, हंसपादी एवं नागकेसर। प्रत्येक द्रव्य 1 कर्ष लेकर इन्हें दही वाले पानी के साथ पीसें। इन सभी पदार्थों का काढ़ा बना लेना चाहिए। फिर दशमूल २ पल, बला तथा अतिबला आधा २ पल, कोरण्ड, मीठा सहिजन, मेंहदी, यव, कोल तथा कुलत्थ प्रत्येक १ प्रस्थ। उसके बाद उसमें दूध, गोमूत्र, मद्य एवं दही प्रत्येक १ कुडव तथा तिल तैल डालकर पकाना चाहिए। तत्पश्चात् तैलसिद्ध होने पर उसे अग्नि से उतार लेना चाहिए। इस उष्ण तैल से सारे शरीर की मालिश करनी चाहिए। गर्भिणी द्वारा तीन दिन तक शरीर की मालिश करने पर वातज्वरव्याधि का प्रशमन

---

[282] विदारिगन्धां कलशीं तथा गन्धर्वहस्तकम्॥

मधुकं भद्रदारुं च क्वाथः शर्करया युतः। वातज्वरहरो देयो मातुलुङ्गरसाप्लुतः॥ *का०सं०*, खि० 10/29-30

[283] *का०सं०*, खि० 10/31-33

हो जाता है।[284] बृहत्त्रयी में भी सामान्य ज्वररोग का विवेचन करते हुए रोगी को अभ्यङ्ग लगाने के लिए कहा गया है। परन्तु गर्भवती स्त्री को होने वाले वातज्वर की चिकित्सा का वर्णन नहीं मिलता है।

3.2.6 पित्तज ज्वरव्याधि का शमन :- यदि गर्भवती स्त्री पित्तज ज्वररोग से पीड़ित होती है तो उसे पित्तदोष को साम्य करने के लिए औषधियों एवं सद्वृत्त का सेवन कराना चाहिए। *काश्यपसंहिता* में कहा गया है कि-

"अथ पित्तकृते चापि क्वथित् सारिवादिकम्।

शर्करामधुसंयुक्तं पाययेत् कल्यमुत्थितम्। पयस्या क्षीरकाकोली मृद्वीका मधुकानि च॥

शर्करामधुसंयुक्तं पानकं पैत्तिके ज्वरे।"[285]

अर्थात् गर्भिणी को यदि ज्वरव्याधि में पित्त का प्रकोप अधिक बढ़ गया हो, तो उस अवस्था में उसे सारिवा आदि के काढ़े में शक्कर एवं शहद मिलाकर प्रातःकाल पीना चाहिए या उसे पयस्या, क्षीरकाकोली, मुनक्का, मुलहठी, शक्कर एवं शहद मिलाकर शर्बत देना चाहिए। अथवा उसे नीलकमल, पयस्या, सारिवा, मुलहठी, मधु, पिप्पली, मरिच, खस, लोध्र, धान की खील एवं चीनी द्रव्यों को दूध में मिलाकर अच्छी प्रकार से मथना चाहिए, तत्पश्चात् इसका सेवन पीड़िता को करवाएँ। इस प्रकार गर्भिणी द्वारा औषधियों का सेवन करने से पैत्तिकज्वर का शीघ्र शमन होता है। इन सिद्ध औषधियों के अतिरिक्त कश्यप ने पित्तज्वर में गर्भिणी को स्नेहन कर्म करने के लिए कहा है- नड़, बेंत, गुन्द्रा के मूल, सहा, सहदेवा, मकोय, पाटली, क्षीरी वृक्ष, आम, जामुन के नए पत्ते, कमल, सारिवा, खस, चन्दन एवं पद्मपत्रक इन सभी को महीन पीस लेना चाहिए तत्पश्चात् उसमें घी मिला लेना चाहिए। उसके बाद गर्भिणी को अपने शरीर पर इसका लेप लगाना चाहिए। यह प्रलेप गर्भवती स्त्री के पित्तजज्वर का शमन करता है। अथवा पिसे हुए जौ १ कुडव, मंजीठ आधा पल, कांजी १०० प्रस्थ, तिल तैल १ प्रस्थ इन सभी द्रव्यों को तैलपाक विधि से तैल को सिद्ध करना चाहिए। अतः इस सिद्ध तैल का प्रयोग गर्भिणी द्वारा सम्पूर्ण शरीर पर करना चाहिए। यह तैल जलन

---

[284] *का०सं०*, खि० 10/34-42

[285] *का०सं०,* खि० 10/44-45

एवं ज्वर का प्रशमन करता है।[286] *चरकसंहिता* में भी सामान्य ज्वररोग का वर्णन करते हुए अभ्यंग लगाने का विधान मिलता है। चरक ने कहा है कि जब ज्वररोग होने पर देह में दाह अधिक हो रही हो तो उसे शान्त करने हेतु सहस्रधौत घी या चन्दनादि तैल से सम्पूर्ण शरीर का मर्दन करें।[287] वाग्भट सहस्रधौत गोघृत द्वारा ज्वरविकारी को अभ्यंग करने के लिए कहते हैं **"दाहे सहस्रधौत सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत्।"**[288] अतः गर्भिणी को पित्तज ज्वरव्याधि में देह पर लेप लगाने से भी आराम मिलता है।

इन औषधियों के साथ-साथ गर्भिणी को पथ्य का सेवन भी करना चाहिए। कश्यप ने कहा है कि- **"पित्तज्वरे हिमा पेया पथ्या क्षीमथापि च। जीर्णे पित्तहरैः पक्वो यूषस्तु चणकैस्तथा॥"**[289] अर्थात् पित्तजज्वरव्याधि में गर्भिणी के लिए पेया अथवा दूध पथ्य होता है। इसी प्रकार जीर्ण पित्तजज्वर में पित्त का शमन करने वाली औषधियों द्वारा पकाया हुआ तथा चने का यूष पथ्य रूप में देने के लिए कहा गया है।

3.2.7 कफज ज्वरव्याधि का शमन :- यदि गर्भिणी को होने वाले ज्वर में कफ दोष की अधिकता हो, तो उसे रास्ना के क्वाथ को ठण्डा करके उसमें शहद मिलाकर देना चाहिए। तदुपरान्त उसका सेवन गर्भिणी को कराना चाहिए। कश्यप ने ज्वररोग की चिकित्सा बताते हुए कहा है-

"भद्रदारुकनिष्क्वाथो रास्नाक्षौद्रसमायुतः। अथवा चन्दनक्वाथः पिप्पलीक्षौद्रसंयुतः॥

श्लेष्मज्वरहरः पेयो रास्नावासाऽमृताशृतः।"[290]

अर्थात् जब गर्भिणी को कफजज्वरव्याधि हो जाए, तब उसे रास्ना तथा मधु के मिश्रण से युक्त देवदारु का काढ़ा, पिप्पली एवं मधु के मिश्रण से युक्त चन्दन का क्वाथ तथा रास्ना, बासा और गिलोय का काढ़ा सेवन कराएँ, तदुपरान्त जल्द ही कफजज्वर में शान्ति मिलती है। इस दोष

---

[286] *का०सं०*, खि० 10/48-52

[287] *च०सं०,* चि० 3/257

[288] *अ०हृ०,* चि० 1/130

[289] *का०सं०*, खि० 10/58

[290] *का०सं०*, खि० 10/56

से सम्बन्धित ज्वररोग में प्रलेप का वर्णन नहीं मिलता है। सम्भवतः इस ज्वर में गर्भिणी को ठण्ड लगती है। इसलिए कश्यप ने प्रलेप का वर्णन नहीं किया है।

कश्यप[291] ज्वररोग में इस प्रकार की वस्तुओं का सेवन कराने के लिए कहते हैं, जो गर्भिणी के लिए सात्म्य हो। अतः उसे सुखोष्ण पेया, मूँग का यूष अथवा मूली का रस देना चाहिए। बृहत्त्रयी में गर्भवती स्त्री को होने वाले कफजज्वरव्याधि का वर्णन नहीं मिलता है।

3.2.8 कफपैत्तिक ज्वरव्याधि का शमन :- गर्भिणी को कई बार दो दोषों के बढ़ने या क्षीण होने पर व्याधि हो जाती है। अतः सर्वप्रथम इस अवस्था में उसके दोषों को साम्य करना चाहिए। कश्यप कफपैत्तिक ज्वरव्याधि को परिलक्षित करते हुए कहते हैं कि-

"श्रीपर्णिकामृतानां तु निष्क्वाथो मधुयोजितः।

पेयः सयष्टीमधुको ज्वरे श्लैष्मिकज्वरेपैत्तिके॥"[292]

अर्थात् गर्भिणी को इस ज्वररोग के होने पर गंभारी, गिलोय एवं मधुयष्टि के काढ़े में शहद मिलाकर देना चाहिए।

3.2.9 श्लेष्मवातिक ज्वरव्याधि का शमन :- यदि गर्भवती स्त्री को कफ एवं वात दोष से ज्वररोग हो जाए, तो ऐसी परिस्थिति में उसे बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गंभारी के काढ़ा में रास्ना का कल्क मिलाकर प्रातःकाल सेवन करवाएँ।[293] इसका लगातार सेवन करने पर कफवातिक ज्वररोग का शीघ्र ही प्रशमन होता है।

3.2.10 वातपित्तज ज्वरव्याधि का शमन :- जब गर्भवती स्त्री वातपित्त दोष के प्रकुपित होने के कारण ज्वरव्याधि से पीड़ित हो जाती है तो उस अवस्था में उसे विदारीगन्धादि गण की औषधियों के क्वाथ में शहद मिलाकर पिलाएँ।[294] अतः इस काढ़े का सेवन करने पर गर्भिणी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है। गर्भिणी को होने वाले ज्वरव्याधि का वर्णन एकमात्र *काश्यपसंहिता* में मिलता है। इसका विवरण बृहत्त्रयी में स्पष्टतया नहीं मिलता है।

---

[291] श्लेष्मज्वरे सुखोष्णा तु पेया नार्याः प्रशस्यते॥

तथैव मुद्गयूषोऽथ मौलको रस एव च। सुसात्म्यश्चेति कर्तव्यो व्याधावस्मिन् विशेषतः॥ *का०सं०*, खि० 10/59-60

[292] *का०सं०*, खि० 10/55

[293] महतः पञ्चमूलस्य क्वाथः श्लैष्मिकवातिके। रास्नाकल्कसमायुक्तः पेयः कल्यमिति स्थितिः॥ *का०सं०*, खि० 10/56

[294] *का०सं०*, खि० 10/57

3.3.1 गर्भिणी पाण्डुरोग :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाण्डु तथा कामला आमय का एकसाथ वर्णन मिलता है। इसका कारण यह है कि शरीर में रक्त की कमी से पाण्डु तथा कामला जन्य पीतता त्वचा में विकृति हो जाती है। वस्तुतः इसमें रक्त की विकृति प्रमुख होती है। अतः पित्तदोष का विकृत होना ही पाण्डुरोग का हेतु है।

इसको नवयुगीन वैद्यक अनीमिया रोग के रूप में स्वीकारते हैं, क्योंकि इसमें रक्त की कमी होती है। शरीर में रक्त का प्रणयन कम होने के कारण पाण्डुता होती है। इस रोग का प्रमुख कारण भोजन में लौह तत्त्वों की मात्रा कम होना, विटामिन-सी को बढ़ाने वाले फलों का सेवन न करना, थाईरॉक्सीन की मात्रा में कमी आदि हैं। मानव की देह में संक्रमण की विद्यमानता, एक्स-रे, रेडियम के दुष्प्रभाव से अस्थिमज्जा के रक्तकण-निर्माण में कमी आ जाती है। मनुष्य के काय में ल्यूकीमिया आदि रोगों की उपस्थिति, रक्तसंलयन, जैसे- अन्तर्वाहिका विनाश आदि पाण्डुरोग के हेतु हैं।

विश्व स्वास्थ्य-संगठनानुसार गर्भावस्था में हीमोग्लोबिन की मात्रा ग्यारह ग्राम/सौ मिलीलीटर से कम होने पर गर्भिणी को पाण्डुरोग से पीड़ित माना गया है।[295] वर्तमान समय में सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के कारण विकासशील एवं अविकसित देशों के लिए यह ग्यारह ग्राम की सीमा घटाकर दस ग्राम कर दी गई है।

3.3.2 पाण्डुरोग का निदान :- जब मनुष्य पाण्डुव्याधि से आक्रान्त होता है तब उसके पूर्व शरीर में अनेक लक्षण दिखाई देते हैं। *चरकसंहिता*[296] में कहा गया है कि- गर्भिणी को पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाने पर कानों में ध्वनि सुनाई देना, जठराग्नि मन्द होना, दुर्बलता, शरीर की शिथिलता, भोजन में अरुचि, थकावट एवं चक्कर आते हैं। इस व्याधि से पीड़ित गर्भवती स्त्री के अंगों में ज्वर- भारीपन-पीड़ा-श्वास एवं उसे किसी भी कार्य में रुचि नहीं होती, जैसे- उसे ऐसा अनुभव होता है कि किसी ने उसके अंगों को मसल दिए हों, ऐसी वेदना प्रतीत होने लगती है। उसकी आँखों की पुतली में सूजन, त्वचा में हरापन, रोओं का टूटना, मुख मलिन दिखाई देना, अकारण क्रोध आना, ठण्डे पदार्थों से ईर्ष्या करना, सूर्योदय

---

[295] *प्र०त०*, पृ० 224

[296] *च०सं०*, चि० 16/13-16

होने के बाद भी सोना एवं लगातार थूकते रहना, ये सभी लक्षण दिखाई देते हैं। इससे भिन्न पीड़िता मितभाषी होती है, पिण्डलियों में ऐंठन पड़ जाती है, कमर- ऊरुप्रदेश-पाँवों में अत्यधिक वेदना होती है एवं पर्वतादि ऊँचे स्थान पर चढ़ने से थक जाती है। वाग्भट[297] चरक द्वारा उक्त पाण्डुरोग के लक्षणों को मानते हैं।

काश्यपसंहिता में भी पाण्डुविकार के सामान्य लक्षणों का विवेचन सूत्रस्थान में प्राप्त होता है-

"नाभ्यां समन्ततः शोथः श्वेताक्षिनखवक्रताः।

पाण्डुरोगेऽग्निसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकूटयोः॥"[298]

अर्थात् गर्भिणी जब इस व्याधि से पीड़ित होती है तब उसकी नाभि के चारों ओर सूजन हो जाती है। उसका मुँह, आँखें एवं नाखून का रंग सफेद हो जाता है एवं जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। गर्भवती स्त्री की आँखों के चारों ओर सूजन दिखाई देता है।

प्रायशः गर्भवती स्त्रियाँ गर्भावस्था के पूर्व ही पाण्डु से पीड़ित रहती हैं। इसके सम्भाव्य कारण निम्नोक्त हैं-

- लगभग १५ मिलीग्राम तक लौहतत्त्व प्रतिमाह स्वेद के साथ निकलता है।
- ऐसा स्वीकार किया जाता है कि गर्भधारण, प्रसव तथा स्तनपान में स्त्री लगभग १००० मिलीग्राम लौह खर्च करती है। अतः इसके शरीर में संचय पूरा करने के लिए लगभग दो वर्ष का समय लगता है। यदि इससे कम अन्तराल में स्त्री पुनः गर्भवती हो जाती है तब वह पाण्डु रोग से अवश्य पीड़ित होगी।
- ऋतुकाल में रक्त का अधिक स्राव।
- जब गर्भ में युग्म शिशु अवस्थित हो तो उसे लौहतत्त्व की आवश्यकता अधिक होती है।
- जब स्त्री २१ वर्ष की अपेक्षा १७ वर्ष की अवस्था में गर्भधारण कर लेती है तो उसे २७० मिलीग्राम लौहतत्त्व की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अथर्ववेद में पाण्डु आमय के कारणों का वर्णन नहीं मिलता है।

---

[297] *अ०हृ०*, 13/4-6 ; *अ०सं०*, नि० 13/6-8

[298] *का०सं०*, सू० 25/34

3.3.3 पाण्डुरोग के भेद :- आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाण्डुव्याधि के प्रकारों में मतभेद हैं। चरक ने पाँच भेद, सुश्रुत ने चार भेद, हारीत ने आठ भेद एवं वाग्भट ने पाँच भेद स्वीकार किया है। चरक ने कहा है कि- **"पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः॥"**[299] अर्थात् इसके वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज एवं मृदभक्षणजन्य भेद हैं। वाग्भट भी इन्हीं प्रकारों को स्वीकार करते हैं। लेकिन सुश्रुत मृदभक्षणजन्य भेद को सन्निपातज के अन्तर्गत ही स्वीकारते हैं। अतः सुश्रुत इसके चार भेद[300] स्वीकार करते हैं।

3.3.4 वातज पाण्डुरोग :- नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञानानुसार जब गर्भवती स्त्री में लौहतत्त्व एवं प्रोटीन की मात्रा में कमी होती है तब उसमें वातज पाण्डु के लक्षण दिखाई देते हैं। गर्भिणी में वातवर्धक आहार-विहार, अपथ्य भोजन, अतिसार या कृमि के कारण आन्त्र से असम्यक् चूषण, रक्तप्रदर का इतिवृत्त, निरन्तर अल्प अन्तराल में गर्भाधान आदि से पाण्डुरोग के कारण स्पष्ट होते हैं। *चरकसंहिता* में कथित है कि-

"आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः। जनयेत्कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम्॥"[301]

अर्थात् गर्भिणी द्वारा वर्जित आहार-विहार के ग्रहण करने से कुपित वायु शरीर के अंगों में कालापन, पाण्डुता, रूक्षता एवं लालिमा उत्पन्न करती है। अतः यह वायु शरीर के अंगों में पीड़ा, सुई चुभने जैसा दर्द, कम्पन, पार्श्वशूल, शिरःशूल, पुरीष का शोषण, मुख में स्वाद का नाश, सूजन, आनाह एवं बल का नाश, इन लक्षणों को उत्पन्न करती है। सुश्रुत एवं वाग्भट[302] ने भी इसके लगभग यही लक्षण स्वीकार किए हैं।

अथर्ववेद में पाण्डुरोग से पीड़ित मनुष्य के लिए सूर्यचिकित्सा का वर्णन समुपलब्ध होता है- **"अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते। गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥"**[303] अर्थात् हे पीड़ित मनुष्य ! तुम्हारे हृदय की धड़कन, हृदयशूल आदि हृदयरोग

---

[299] *च०सं०*, चि० 16/3 ; *अ०हृ०*, नि० 13/7 ; *अ०सं०*, नि० 13/9

[300] पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक्समस्तैर्युगपच्च दोषैः॥ *सु०सं०*, उ० 44/4

[301] *च०सं०*, चि० 16/17

[302] *सु०सं०*, उ० 44/7 ; *अ०हृ०*, नि० 13/10 ; *अ०सं०*, नि० 13/11

[303] *अ०वे०* 1/22/1

और हलीमक, पाण्डु तथा कामला व्याधि सूर्य के तेज द्वारा शरीर से निसरण हो जाए। इसलिए तुझे नारंगी सदृश सूर्योदय को देखना चाहिए। अतः इन रोगों से आक्रान्त मनुष्य को प्रातःकाल निकलते हुए सूर्य के सामने बैठाना चाहिए एवं उस पर सूर्य की लालिमा पड़नी चाहिए। यदि ग्रीष्म ऋतु हो, उस समय नग्न शरीर एवं शरद् ऋतु में हल्के सूती वस्त्र रोगी को पहना कर बैठाना चाहिए।

यदि किसी कारणवश सूर्य की किरणें सुलभता से उपलब्ध न हो सके तो उस अवस्था में रोगी को कृत्रिम किसी नारंगी रंगवाले काँच, अभ्रकपटल या परदे आदि साधन द्वारा बनाई हुई नारंगी रंग की किरणें शरीर पर डालने से लाभ मिलता है। अतः *अथर्ववेद* में कहा गया है -

"शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि॥"[304]

3.3.5 पाण्डुरोग का गर्भ पर प्रभाव :- यदि गर्भस्थ शिशु के जन्म के समय माता के रक्त में लौहतत्त्व की मात्रा में कमी हो जाती है तथा माता के दूध में भी लौहतत्त्व की कमी हो तो वह शिशु, बचपन से ही पाण्डु रोग से पीड़ित हो जाता है। इससे पीड़ित गर्भिणी के शिशु का जन्म के समय वजन सामान्य गर्भिणी के शिशु के वजन से प्रायशः कुछ कम ही होता है। इसमें वैद्यक द्वारा उपचार व्याधि की तीव्रता एवं गर्भावस्था को ध्यान में रखकर करनी चाहिए। उसे मुख द्वारा औषधी सेवन, सूचीवेधन एवं रक्तदान से चिकित्सा करनी चाहिए। गर्भिणी के मुख द्वारा औषधी सेवन तब करवाई जाती है, जब व्याधि तीव्र नहीं है और उसके प्रसव में अभी लगभग सौ दिन शेष है तो उसे आयरन की गोली दी जा सकती है। इस गोली की मात्रा एक सौ बीस से दो सौ चालीस मिलीग्राम प्रतिदिन होनी चाहिए।[305] गर्भिणी द्वारा लौहतत्त्व की गोली भोजन से पूर्व भी ली जा सकती है।

3.3.6 वातज पाण्डुरोग का उपचार :- इस दोष के विकृत होने पर गर्भिणी को होने वाले पाण्डुरोग में स्नेहप्रधान औषधियाँ देनी चाहिए। चरक ने पाण्डुव्याधि के उपचार को लक्षित करके कहा है कि- **"वातिके स्नेहभूयिष्ठम्"** अर्थात् वातज पाण्डुव्याधि में स्निग्धगुण विशिष्ट औषधी का सेवन करना चाहिए। अतः गर्भिणी को इस व्याधि में पञ्चगव्यघृत-महातिक्तघृत

---

304 *अ०वे०* 1/22/3

305 *अ०प्र०त०*, पृ० 177

तथा कल्याणघृत का सेवन करना चाहिए।[306] वाग्भट[307] भी इससे पीड़ित रोगी को घी का सेवन करने का विधान बताते हैं।

3.3.7 वातज पाण्डुरोग में पथ्य सेवन :- आयुर्वेद की संहिताओं में इस रोग से पीड़ित रोगी को सद्वृत्त का पालन करने का वर्णन मिलता है। चरक[308] ने कहा है कि- इस व्याधि से ग्रस्त गर्भिणी को पानी पीने के लिए अथवा भोजन बनाने के लिए पृश्निपर्णी, शालिपर्णी छोटी कटेरी-बड़ी कटेरी एवं गोखरु द्वारा सिद्ध किए हुए जल का प्रयोग करना चाहिए। उसे स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग, गेहूँ, मूँग, अरहर का यूष, जाङ्गल, पशु-पक्षियों का मांसरस, जीवन्ती शाक, चौलाई तथा पालक का शाक, पटोल, पुनर्नवा, प्याज का दण्ड, आँवला, अनार, द्राक्षा, हल्दी, नाशकेशर तथा पचनीय द्रव्य का सेवन करना चाहिए। उसे तीक्ष्ण पदार्थ, गर्म जल, विरुद्ध भोजन, अम्ल द्रव्य, तिल की खली, सरसों का शाक, मिट्टी-भक्षण आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।

3.3.8 पित्तज पाण्डुरोग का निदान एवं शमन :- यदि पित्तज दोष की प्रकृति वाली स्त्री के शरीर में पित्त प्रकोपक कारणों से सञ्चित हुए पित्त द्वारा, रक्त-रस-मज्जादि धातुओं को प्रदूषित करके पाण्डुव्याधि की उत्पत्ति होती है। *चरकसंहिता* में कथित है कि- इसमें पीड़ित रोगी पीली अथवा हरी कान्तियुक्त हो जाता है। उसमें ज्वर, प्यास, दाह, मूर्च्छा आदि उपद्रव भी हो जाते है एवं मल-मूत्र का रंग भी पीला हो जाता है। उसके शरीर से स्वेद अधिक निकलता है तथा शीतल वायु या स्थान अच्छे लगते हैं। उसे भोजन में रुचि नहीं रहती। उसके मुख का स्वाद कसैला हो जाता है। उसे अधिक गर्म तथा खट्टे पदार्थ प्रिय नहीं लगते हैं। खट्टी डकारें अधिक आती हैं तथा अन्न के विदग्धाजीर्ण होने पर उदर तथा देह में जलन हो जाती है। उसके शरीर से अच्छी गन्ध नहीं आता, मल पतला-पतला आता है, दुर्बलता एवं उसके नेत्रों के समक्ष अँधेरा छाने लगता है।[309] इस दोष के विकृत होने पर पाण्डुरोग में तिक्तरसयुक्त औषधियाँ गर्भवती स्त्री को देनी चाहिए। चरक ने पाण्डुरोग का उपचार बताते

---

[306] पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा। स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥ *च०सं०*, चि० 16/43

[307] *अ०हृ०*, चि० 16/1

[308] स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते पाण्डूनाम्। *च०सं०*, चि० 16/114

[309] *च०सं०*, चि० 16/19-22

हुए कहा है- **'पैत्तिके तिक्तशीतलम्'** अर्थात् पित्तज पाण्डुरोग में तिक्तरसयुक्त औषधियाँ रोगी को दें। चरक[310] ने अन्यत्रस्थान पर अधिक विस्तार से इस व्याधि के उपचार का विवेचन करते हुए कहा है- कुटकी, हर्रे, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, परवर की पत्ती, लालचन्दन, मूर्वा, त्रायमाण, धमासा, पीपर, पित्तपापड़ा, नीम की गीली छाल, चिरायता तथा देवदारु इन द्रव्यों को एक-एक कर्ष लेकर कल्क बना लें। तदुपरान्त उसे एक प्रस्थ गोघृत को चार प्रस्थ गोदुग्ध के साथ मिलाकर मन्दाग्नि में विधिवत् घी का पाक करें और सिद्ध हो जाने पर छान कर सुरक्षित रख लेना चाहिए। तत्पश्चात् इसकी एक कर्ष की मात्रा पीड़ित को पीने के लिए देनी चाहिए। इसके प्रतिदिन सेवन से पित्तज पाण्डुव्याधि का शमन होता है। आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट ने इस व्याधि के उपचार का वर्णन नहीं किया है।

3.3.9 कफज पाण्डुरोग :- यदि मनुष्य कफदोष में वृद्धि करने वाले आहार, विहार का प्रतिदिन सेवन करता है तो इससे बढ़ा हुआ कफ रक्त-त्वचा और मांस धातुओं को प्रदूषित करके पाण्डुव्याधि को पैदा करता है।

वर्तमानकालिक चिकित्सकों का मत है कि विटामिन बी-१२ एवं फॉलेट, किसी एक या दोनों की कमी से उत्पन्न बृहदाकृति लोहितकण वाले पाण्डु का समावेश होता है। इस मेगैलॉब्लास्टिक पाण्डु में बी-१२ अथवा फॉलेट की कमी से डी०एन०ए० के संश्लेषण में विकृति होने से अस्थिमज्जा में लोहितकणों का निर्माण और परिपक्वता पर प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः केवल विटामिन बी-१२ की कमी बहुत कम मिलती है, क्योंकि यह शरीर में लम्बे समय तक संचित रहता है। इसलिए गर्भावस्था में फॉलिक अम्ल की न्यूनता से पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है।[311]

चरक[312] कफज पाण्डुव्याधि के कारणों को परिलक्षित करते हुए कहते हैं कि- मानव की देह में कफदोष विकृति होने पर भारीपन, तन्द्रा, वमन, शरीर के वर्ण में सफेदी, मुख में लालास्राव, रोमाञ्च, थकावट, मूर्च्छा, चक्कर आना एवं इन्द्रियों द्वारा विषयों को पहचानने में असमर्थता आ जाती है। उसकी श्वास, खाँसी, आलस्य, अरुचि, स्वर अवरुद्ध, मूत्र, नेत्र तथा

---

310 *च०सं०*, चि० 16/47-49

311 *प्र०त०*, अ०10, पृ० 240

312 *च०सं०*, चि० 16/23-25

मल में सफेदी, कड़वे-रूक्ष एवं उष्ण पदार्थों के खाने-पीने की इच्छा, सूजन एवं मुख के मीठेपन से कफज पाण्डुरोग समझना चाहिए। वाग्भट[313] कफज पाण्डुरोग के लक्षणों में चरक द्वारा कहे हुए लक्षणों को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु इन्होंने रोगी के मुख स्वाद को नमकीन युक्त कहा है। सुश्रुत[314] ने भी कफज पाण्डुरोग से पीड़ित रोगी के नेत्रों का सफेद वर्ण, सिराओं का सफेद रंग, मूत्र, पुरीष एवं चेहरे का सफेद रंग बताया है।

कफज पाण्डुव्याधि की चिकित्सा :- आचार्य चरक ने कफज पाण्डुव्याधि का उपचार करते हुए कहा है कि इस दोष से पीड़ित गर्भिणी को हरीतकी औषधी गोमूत्र में भिगोकर तथा कल्क बनाकर गाय के मूत्र के साथ ही खाने के लिए दें,[315] जिसके सेवन करने से गर्भिणी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है। अथवा उसे कटु एवं तिक्तरस और उष्णवीर्य औषधियों का सेवन करें। आचार्य वाग्भट[316] भी कफज पाण्डुव्याधि के लिए कटुरसयुक्त, रूक्ष गुण वाले और उष्णवीर्य प्रधान औषधियों का सेवन करने के कहते हैं।

3.3.10 सन्निपातज पाण्डुव्याधि :- कभी-कभी मनुष्य तीनों दोषों के बढ़ने या क्षय होने के कारण रोगी होता है। *चरकसंहिता*[317] में पाण्डुरोग के विषय में कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाला भोजन करता है तो उसके शरीर के त्रिविध दोष प्रकुपित होकर वातज, पित्तज एवं कफज पाण्डुरोग के लक्षणों से युक्त बड़ी कठिनाई से सहन करने योग्य त्रिदोषज पाण्डुरोग को पैदा करते हैं। वाग्भट भी उपरोक्त सन्निपातज कारणों को स्वीकार करते हैं। नवयुगीन चिकित्सा के अनुसार लौह, फॉलिक अम्ल, बी-१२ किसी तत्त्व की कमी से पैदा हुआ पाण्डु जब अतितीव्र लक्षणों वाला होता है तब वह सन्निपातिक पाण्डु के लक्षण प्रदर्शित करता है। विशेषतया बी-१२ की कमी से उत्पन्न एडीसॉनियन घातक पाण्डु इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं। रक्त-सीरम में फॉलिक की मात्रा 3mg/ml से कम तथा विटामिन बी-१२ की मात्रा 80mg/ml से कम है तो फॉलिक एसिड तथा विटामिन बी-१२ की कमी जाननी चाहिए।

---

313 *अ०हृ०*, चि० 13/11

314 *सु०सं०*, उ० 44/9

315 कफपाण्डुस्तु गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नां हरीतकीम्॥ *च०सं०*, चि० 16/58

316 *अ०हृ०*,चि० 16/34

317 *च०सं०*, चि० 16/26 ; निचयान्मिश्रलिङ्गोऽतिदुःसह॥ *अ०हृ०*, नि० 16/12 ; *अ०सं०*, नि० 13/14

सभी प्रकार के दोषों से होने वाले पाण्डुरोग के लिए मण्डूरभस्म का प्रयोग हितकारक है। चरक ने कहा है कि-

"गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान्। पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे॥"[318]

अर्थात् पाण्डुव्याधि से पीड़ित गर्भिणी के लिए पुरातन गुड़, सोंठचूर्ण, मण्डूरभस्म एवं काले तिल के चूर्ण का बराबर मात्रा में भाग तथा पीपरचूर्ण का २ भाग लेकर गोलियाँ बना ले और सूर्योदय से पहले एवं सूर्यास्त के बाद गोमूत्र के साथ रोगी को सेवन के लिए देना चाहिए। अथवा इस रोग का शमन करने हेतु लौहभस्म को सात दिनों तक गाय के मूत्र में भावना देकर एवं इसे २ रत्ती की मात्रा में लेकर रोगी को गोदूध के साथ प्रातः-सायंकाल सेवन के लिए दें।

3.3.11 मृद्भक्षणजन्य पाण्डुव्याधि :- मिट्टी खाने के स्वभाव होने पर मिट्टी के रसानुसार जैसे कषैली मिट्टी से वात, ऊसर मिट्टी से पित्त, मधुर मिट्टी से कफ बढ़कर रोग में परिवर्तित हो जाता है। मिट्टी पाचकाग्नि से पाक नहीं होने के कारण स्रोतस् को रोककर धातुओं का पोषण करके प्रभावित कर देती है। विभिन्न रस की मिट्टी रूक्षता के कारण धातुओं एवं अंगों को रूखी कर देती है। इसके सेवन से पेट में कीड़े, पाण्डु, रक्त एवं कफ मिश्रित अतिसार तथा पाण्डु के अन्य लक्षण मिलते हैं।

सामान्यतः अद्यतन गाँव में यह देखा जाता है- घर की महिलाओं को चूल्हे की मिट्टी, काली मिट्टी, मुल्तानी मिट्टी तथा चिकनी मिट्टी खाने की आदत होती है। कुछ स्त्रियाँ अज्ञानतावश गर्भिणी को भी मिट्टी खाने की सलाह देती है, जिससे गर्भवती स्त्री को मिट्टी खाने से हानि होती है। मिट्टी खाने से भूख समाप्त हो जाती है एवं उसे आवश्यक पोषक तत्त्व नहीं मिलते, साथ ही कृमि, विशेषतया अङ्कुश कृमियाँ पैदा हो जाती हैं, जिसके अन्तर्गत रक्त-स्रावकारक होने से पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है।

चरकसंहिता[319] में कथित है कि मृद्भक्षणजन्य पाण्डुव्याधि से पीड़िता के अक्षिकूट, भौंह, कपोलस्थल, पाँव, नाभि तथा गुप्तांग में सूजन आ जाती है। रोगी के उदर में कृमियाँ

---

[318] *च०सं०*,चि० 16/72

[319] *च०सं०*, चि० 16/30

उत्पन्न हो जाती है एवं साथ ही रक्त-कफयुक्त अतिसार व्याधि से भी पीड़ित हो जाती है। वाग्भट[320] भी चरक द्वारा कथित कारणों को स्वीकार करते हैं। इस व्याधि के उपचार में सर्वप्रथम व्याधि की वृद्धि करने वाले हेतुओं का त्याग करे अर्थात् मिट्टी नहीं खिलानी चाहिए। उसके बाद गर्भिणी को अवस्थानुसार मृदु विरेचन देना चाहिए। यदि गर्भिणी मिट्टी का सेवन बन्द न कर सके तो पाण्डुरोग का शमन करने वाली औषधियों से युक्त भावना देनी चाहिए।

चरक[321] ने पाण्डुरोग के विषय में कहा है कि- वैद्य को गर्भिणी की शक्ति का अच्छी प्रकार से विचार करके तीक्ष्ण संशोधन औषधियों का प्रयोग करके खाई हुई मिट्टी को शरीर से बाहर निकाले। तत्पश्चात् जब संशोधन करने के उपरान्त शरीर शुद्ध हो, तो पीड़िता के शरीर की शक्ति को बढ़ाने के लिए औषधयुक्त घी का सेवन करवाएँ। अथवा यदि गर्भिणी जिह्वा की लोलुपता के कारण मिट्टी खाना नहीं छोड़ सकती, तब उसे पाण्डुरोगनाशक औषधियों के रस की भावना दी हुई मिट्टी खिलाएँ, जिससे कारण उसे मिट्टी खाने में रुचि न रहे। अथवा उसे वायविडंग, इलायची, निम्बपत्र, पाठा, बड़ी कटेरी, कुटकी, इन्द्रजौ अथवा मूर्वा, इन द्रव्यों में से एक अथवा दो द्रव्यों के रस की भावना देकर उसे मिट्टी खाने के लिए दें।[322] वाग्भट[323] ने भी चरक द्वारा उक्त मृद्भक्षणजन्य पाण्डुव्याधि की चिकित्सा बताई है।

3.4.1 गर्भिणी कामलारोग :- *अथर्ववेद* में 'हरिमा' या 'हरिमन' नामक व्याधि प्राप्त होता है। वस्तुतः यह शब्द कामला एवं पाण्डु व्याधि दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। अद्यतन 'जॉण्डिस' आमय का विकसित रूप 'कामला' व्याधि के रूप में आयुर्वेद की संहिताओं में वर्णित है। इस रोग में भी रक्त मुख्यरूप से दूषित हो जाता है। इस आधारभूत समानता से अलग दोनों व्याधियों के कारण पीड़िता में लक्षणों की प्रतीति प्रमुखरूप से त्वक् में दिखती है।

चरक[324] ने पाण्डुरोग की प्रवर्धमान स्थिति को ही कामला व्याधि स्वीकार किया है- पाण्डुव्याधि से पीड़ित रोगी पित्तदोष को बढ़ाने वाले पदार्थों एवं द्रव्यों का अधिक मात्रा में

---

320 *अ०हृ०*, नि० 13/13-14 ; *अ०सं०*, नि० 13/15-17

321 *च०सं०*, चि० 16/117-118

322 *च०सं०*, चि० 16/121-122

323 *अ०हृ०*, चि० 16/35-39 ; *अ०सं०*, चि० 18/17-20

324 पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥ *च०सं०, चि० 16/34*

सेवन करता है। अतः उसका बढ़ा हुआ पित्तदोष रक्त तथा मांस धातु का दहन करके कामला रोग को पैदा करता है। *वाग्भट* ने भी कामलाव्याधि[325] के पूर्वोक्त कारण बताए हैं। कश्यप ने गर्भिणी में कामलारोग[326] के अधोलिखित लक्षण बताए हैं- गर्भिणी की आँखें, नाखून, मुख, मल एवं मूत्र पीले हो जाते हैं। इसके साथ ही गर्भिणी उत्साह शून्य हो जाती है, उसकी जठराग्नि का नाश हो जाता है और उसे रक्त की आवश्यकता अधिक पड़ती है।

नवयुगीन चिकित्सानुसार गर्भिणी में विशेषतया निम्न कारणों द्वारा कामला होने की सम्भावना होती है- यकृतान्तर पित्तसञ्चय या प्रासविक हिपेटॉसिस में पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति होती है। तीव्र प्राक् गर्भाक्षेपक, यकृत् की तीव्र पीत अपक्षय, उपेक्षित तीव्र गर्भिणी छर्दि, अन्तरिषाक्तताजन्य आघात। इसके साथ-साथ गर्भिणी में शाखाश्रित या कोष्ठाश्रित कोई भी कामला हो सकता है। गर्भिणी के नेत्र, त्वचा, मुख, नख, मल और मूत्र का वर्ण पीला या हरिद्रावत् हो जाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाती। दाह, अपचन एवं शरीर में शिथिलता आदि लक्षण होते हैं।[327] इससे प्रसवोत्तर तीव्र रक्तस्राव, यकृतजन्य मूर्च्छा एवं रक्तस्रावजन्य अन्य उपद्रव गर्भिणी को हो सकते हैं तथा साथ ही गर्भस्राव, गर्भपात, प्राक्कालिक प्रसव एवं गर्भाशयान्तर गर्भमृत्यु की सम्भावना हो सकती है।

3.4.2 कामलाव्याधि के भेद :- आयुर्वेद के आचार्यों ने कुम्भकामला या कुम्भसाह्व नामक भेद भी स्वीकार किया है। सुश्रुत कामलाव्याधि का विवेचन करते हुए उसके भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं कि- **"भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः"**[328] अर्थात् जिसमें अत्यधिक शोफ और तीव्र जोड़ों में पीड़ा होती है, वहाँ कुम्भकामला रोग होता है। परन्तु चरक ने सुश्रुत से अतिरिक्त कुम्भकामला का कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार दिया है- जब पाण्डुरोग अधिक दिनों तक शरीर में रह जाता है तब सभी धातुओं में रूक्षता आ जाती है, जिसके कारण कुम्भकामला व्याधि पैदा होती है।

---

[325] यः पाण्डुरोगी सेवेत पित्तलं तस्य कामलाम्॥ कोष्ठशाखाश्रयां पित्तं दग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत्। *अ०हृ०, नि०* 13/15-16

[326] पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्र कामलार्दितः। *का०सं०*, सू० 25/35

[327] *च०सं०*, नि० 16/35-36 ; अ०सं०, नि० 13/18-19 ; *मा०नि०* 8/17-18

[328] *सु०सं०*, उ० 44/11 ; कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला॥ *च०सं०*, चि० 16/37

अतः यह कष्टदायक रोग है। किन्तु वाग्भट[329] ने कहा है कि यदि कामलाव्याधि की समुचित चिकित्सा समय पर नहीं करने से शरीर में सूजन हो जाती है, तब इसे कुम्भकामला रोग कहते हैं। यहाँ पर वाग्भट ने यह व्यक्त नहीं किया है कि कुम्भकामला रोग में सूजन सम्पूर्ण शरीर में या शरीर के किसी अंग में या सन्धियों में होती है। वाग्भट ने स्पष्टतया कुम्भकामला के लक्षणों को नहीं बताया है। अतः बृहत्त्रयी में कुम्भकामला व्याधि के लक्षणों में मतभेद है।

3.4.3 कामलाव्याधि का शमन :- कश्यप खिलस्थान में गर्भिणी के व्याधियों का उपचार करते हुए कहते है कि- **"पिप्पल्यङ्कोठमूलानि वाजिलिण्डरसस्तथा। दधि माहिषमित्येतत् कामलायाश्चिकित्सितम्॥"**[330] अर्थात् गर्भिणी को कामलाव्याधि होने पर पिप्पली, अंकोठमूल, घोड़े की लीद (मल) का रस और भैंस के दूध से निर्मित दही को एक साथ मिलाकर सेवन करवाएँ। इसके अतिरिक्त कोई भी मंत्र कामला रोग से सम्बन्धित प्राप्त नहीं होता है। *योगरत्नाकर*[331] में गर्भिणी के लिए पृश्निपर्णी, बला एवं वासा का काढ़ा हितकारक माना गया है।

चरक ने कामला व्याधि से पीड़ित के लिए त्रिफलादि योग, धात्र्यवलेह योग का विवेचन बताया है। इन्हीं योगों द्वारा कामलारोग से पीडित गर्भवती स्त्री की भी चिकित्सा सम्भव है। *चरकसंहिता* में कथित है कि- आँवला, हर्रा, बहेड़ा, हल्दी, दारुहल्दी एवं कुटकी का चूर्ण तथा लौहभस्म, इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर तथा मिलाकर रख लें और पर्याप्त मात्रा में ४-६ रत्ती लेकर मधु एवं घी के साथ मिलाकर खिलाना चाहिए। अतः प्रतिदिन त्रिफलादि योग से कामला रोग का शमन हो जाता है। अथवा वंशलोचन, सोंठ, मुलहठी का चूर्ण २-२ पल, पीपर का चूर्ण १ प्रस्थ, पीसा हुआ मुनक्का १ प्रस्थ, चीनी आधी तुला, इन सभी द्रव्यों को आँवले के १ द्रोण स्वरस या काढ़े को कड़ाही में डालकर मन्द आँच पर अवलेह पकाना चाहिए। जब यह अवलेह अच्छी प्रकार से तैयार हो जाए, तब चूल्हे से नीचे उतार कर ठंडा होने पर उसमें १ प्रस्थ शहद डालकर ठीक से मिला लेना चाहिए। इस

---

329 उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला। *अ०हृ०*, नि० 13/18

330 *का०सं०*, खि० 10/127

331 पृश्निपर्णीबलावासानिर्यूहो रक्तपित्तिजित्। गर्भिण्याः कामला----॥ *यो०र०*, स्त्रीरो० चि०

प्रकार तैयार करके अवलेह को किसी जार के अन्दर घी लगाकर उसमें सुरक्षित रखना चाहिए। अतः इस अवलेह का १ कर्ष मात्रा प्रतिदिन सेवन करवाना चाहिए।[332]

वाग्भट ने भी कामला रोग से पीड़ित मानव के लिए चिकित्सा बताई है। इन्होंने कामला रोग[333] की चिकित्सा को परिलक्षित करते हुए कहा है कि- पीड़ित रोगी को त्रिफला-रस, गुरुच-रस, दारुहल्दी-रस अथवा नीम की कोमल पत्तियों का रस नित्य सूर्योदय से पहले शहद के साथ सेवन करवाएँ, जिससे शीघ्र ही कामला रोग शान्त हो जाता है। अथवा दन्तीचूर्ण २ पल लेकर ठण्डे पानी के साथ रोगी को पिलाएँ या निशोथचूर्ण को शहद में मिलाकर त्रिफला क्वाथरस के साथ सेवन के लिए देना चाहिए। अथवा रोगी को हल्दी, गेरू तथा आँवला का अंजन लगाना चाहिए। यह अंजन भी कामला व्याधि में लाभप्रद होता है।

इसी प्रकार कामला रोग में सुश्रुत भी त्रिवृत्चूर्ण को शक्कर के साथ देने के लिए कहते हैं- इससे पीड़ित रोगी को शक्कर मिलाकर त्रिवृत्चूर्ण देने से शीघ्र आराम मिलता है। या उसे इन्द्रायण तथा सोंठ की चूर्ण एवं गुड़ के साथ देना हितकर होता है। या कालेयक क्वाथ तथा कल्कसिद्ध घी और हल्दी के चूर्ण का प्रक्षेप डालना, इसमें लाभप्रद होता है।[334]

अथर्ववेद[335] में कामला व्याधि में सूर्य की किरणों द्वारा उपचार करने के लिए कहा गया है। रोगी को प्रातःकाल सूर्य के प्रकाश में वस्त्र रहित बैठकर उसकी किरणों का सेवन कराएँ। अतः सूर्य की किरणों का प्रतिदिन सेवन करने से रोगी के शरीर का हरित वर्ण समाप्त हो जाता है। मानव को सूर्य की किरणों से विटामिन डी० भी प्राप्त होती है, जिससे अस्थियाँ दृढ़ होती हैं। इसके अतिरिक्त लाल रंग वाली गाय के दूध का सेवन करने से रोगी को शान्ति मिलती है। यह शरीर के हरित वर्ण को दूर करके रक्तवर्ण की उत्पत्ति करता है।[336]

अथर्ववेद[337] में रोगी को आञ्जनमणि एवं जङ्गिमणि औषध के सेवन करने का विधान बताया गया है। इसका प्रयोग करने मात्र से ही कामला रोग का प्रशमन होता है और

---

[332] *च०सं०*, चि० 16/99-101

[333] *अ०हृ०*, चि० 16/42-44

[334] *सु०सं०*, चि० 44/30-31

[335] *अ०वे०* 1/22/1

[336] गौ रोहितवर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि। *अ०वे०* 1/22/1

[337] उतासि परिपाणं यातुम्भनमाञ्जन। उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्॥ *अ०वे०* 4/9/3 ; *अ०वे०* 2/4/1-6

पीड़िता पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है। अतः इन व्याधियों का उपचार वेद में भी मिलता है परन्तु कुछ औषधियाँ ऐसी हैं, जो आधुनिक समय में उपलब्ध नहीं होती।

3.5.1 गर्भिणी अतिसाररोग :- पाचन संस्थान के विकृत होने से अनेक रोगों में अतिसार, अरुचि, उदावर्त, गुदा वेदना, छर्दि, परिकर्तिका, प्रवाहिका, मुखशोष एवं विबन्ध आदि रोग गर्भिणी को हो जाते हैं। गर्भिणी की ये सभी व्याधियाँ सामान्य व्याधियों के अन्तर्गत आती हैं। *अथर्ववेद* में अतिसार व्याधि का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है। कश्यप ने गर्भिणी को होने वाली व्याधियों का विवेचन चिकित्सास्थान और खिलस्थान में किया है। आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में गर्भिणी व्याधियों का वर्णन सामान्य रोगों में ही सम्मिलित है। कश्यप ने सर्वप्रथम गर्भिणी अतिसार को परिलक्षित करते हुए कहते हैं कि-

"यथोक्ता तु क्रिया पथ्या यथास्वमिति कश्यपः।

अतिसारे तु गर्भिण्याः समुत्पन्ने भिषग्जितम्॥

वातिके पैत्तिके चैव श्लैष्मिके च प्रवक्ष्यते।"[338]

अर्थात् जब गर्भवती स्त्री अतिसार नामक रोग से पीड़ित रहती है तब उसकी वातिक-पैत्तिक और श्लैष्मिक दोषानुसार वैद्य चिकित्सा करे, क्योंकि प्रत्येक मानव में कोई न कोई दोष विशेष होता है। इसलिए गर्भिणी का भी कोई दोष विकृत होकर, अतिसार नामक व्याधि को उत्पन्न कर सकता है।

3.5.2 अतिसार रोग के भेद :- आयुर्वेदज्ञों ने इसके छह भेद स्वीकार किए हैं। चरक ने अतिसार व्याधि के निज तथा आगन्तुक भेदों का विवेचन करते हुए छह भेद स्वीकार किए हैं, जो निम्न हैं- वातज-पित्तज-कफज-सन्निपातज-भयज एवं शोकज अतिसार रोग। सुश्रुत एवं वाग्भट[339] भी इस रोग के छह भेद स्वीकर करते हैं परन्तु *माधवनिदान* और *शाङ्गधरसंहिता* में इसके छह भेदों के अतिरिक्त रक्तज भेद भी वर्णित है।

---

[338] *का०सं०*, खि० 10/66-67

[339] एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः। केचित् प्राहुनैकरूपप्रकारं नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत्॥ *सु०सं०*, उ० 40/7 ; दोषैर्व्यस्तैः भयाच्छोकाच्च षड्विधः अतिसारः । *अ०हृ०*, नि० 8/1

चरकसंहिता	*सुश्रुतसंहिता*	*अष्टांगहृदय*	*माधवनिदान*
१. वातज	१. वातज	१. वातज	१. वातज
२. पित्तज	२. पित्तज	२. पित्तज	२. पित्तज
३. कफज	३. कफज	३. कफज	३. कफज
४. सन्निपातज	४. सन्निपातज	४. सन्निपातज	४. सन्निपातज
५. भयज	५. शोकज	५. शोकज	५. शोकज
६. शोकज।	६. आमज	६. आमज	६. आमज
			७. रक्तज।

3.5.3 अतिसार रोग के निदान :- कश्यप ने गर्भिणी अतिसार रोग के सामान्य लक्षणों[340] को लक्षित करते हुए कहा है कि- विरुद्ध भोजन, बिना पचे ही भोजन का सेवन, अजीर्ण, आवश्यकता से अधिक भोजन का सेवन, भय एवं उद्वेग के विघात, ठोस या कठिन आहार द्रव्यों का सेवन, सन्तर्पण, क्षय, कच्चे कन्द, मूल, फल, दूषित जल के प्रयोग, रूक्षता, शोक, गुरु तथा अभिष्यन्दि भोजन से उत्पन्न जलीय धातु (लसीका) के आवेग के कारण अतिसार रोग की उत्पत्ति होती है।

वस्तुतः यहाँ अतिसार व्याधि के विविध कारण कश्यप ने बताए हैं। इनमें से कुछ कारण पाचन संस्थान सम्बन्धी, कुछ मानसिक व्यथाजन्य, कुछ पोषणजन्य एवं कुछ जलीय धातु विकृतिजन्य हैं। महर्षि कश्यप इन कारणों के अतिरिक्त दोषानुसार कारणों का समुल्लेख नहीं करते, परन्तु अतिसार व्याधि की दोषानुसार चिकित्सा अवश्य की है।

चरकसंहिता में अतिसार के सामान्य हेतुओं का वर्णन प्राप्त नहीं होता। सुश्रुत ने कश्यप द्वारा कथित हेतु ही माने हैं एवं वाग्भट ने इनके अतिरिक्त कमजोर प्राणी का मांस खाने से, सूखे मांस को भूनकर खाने से, तिल की पीठी, अंकुरित चना आदि के सेवन से अतिसार व्याधि की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहा है।[341]

---

[340] *का०सं०*, खि० 10/67-69

[341] *सु०सं०*, उ० 40/3-5 ; *अ०हृ०*, नि० 8/1-3

3.5.4 वातज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार :- चरक वातज अतिसार रोग के रूपों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि- वातदोष की प्रकृति के मनुष्य द्वारा अधिक वायु, अधिक धूप या अधिक व्यायाम, रूक्ष आहार-विहार, कम भोजन, समय बीतने के बाद ठण्डे भोजन का सेवन, तीक्ष्ण मद्यपान, प्रतिदिन सम्भोग, मल-मूत्र के वेगों को अवरुद्ध करने से वायु प्रकुपित होकर जठराग्नि क्षीण हो जाती है और मूत्र तथा स्वेद पुरीषाशय में ले जाकर मल को पतला करके अतिसार व्याधि की उत्पत्ति होती है।[342] वातप्रकोपक हेतुओं से प्रकुपित वायु जठराग्नि को क्षय बना देती है। वस्तुतः अतिसार के समय मूत्र एवं स्वेद की प्रवृत्ति अल्प एवं क्षीण हो जाती है। मनुष्य में आन्त्रस्थ श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं का विस्तार हो जाता है और उनसे जलीय धातु का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है। इस कारण रक्त में जल की कमी होने पर वृक्क एवं स्वेद-ग्रन्थियों को कार्य करने का समय नहीं मिलता। इसलिए अतिसार रोग की अवस्था में गर्मी होने से स्वेद एवं शीत की अधिकता में मूत्र का निकलना कम हो जाता है।

अतः उपरोक्त कारणों से वात अतिसार के रोगी में विविध लक्षण[343] मिलते हैं- इसमें मल जलयुक्त होता है, पक्वरहित आम मल होता है, मल ढ़ीला होता है, जो पानी में डूब जाता है। यह रूक्ष, द्रव, शूलसहित, कच्चेपन की गन्ध से युक्त, अधिक शब्दयुक्त या कम शब्दयुक्त, मूत्र एवं अपानवायु को रोककर गुदामार्ग से निःसरित होता है। यह अवरुद्ध वायु पक्वाशय में शब्द और पीड़ा उत्पन्न करके पेट में इधर-उधर गतिमान रहता है। रोगी में ये सभी वात आमातिसार के लक्षण दिखाई देते हैं।

वातज पक्वातिसार में मल बँधा हुआ निकलता है, जिसमें थोड़ा-थोड़ा शब्द होता है, पेट में पीड़ा होती है, मल झागदार होते हैं, रोगी की गुदा में कैंची के समान काटने जैसा दर्द होता है। उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं, साँस फूलने लगती है, मुख सूख जाता है। रोगी के कटिप्रदेश, ऊरुप्रदेश, त्रिकप्रदेश, जानु, पीठ तथा पसलियों में शूल होता है। उसकी गुदा फट जाती है या बाहर निकल जाती है, बारम्बार गाँठदार मल निःसरित होता है।[344] सुश्रुत एवं

---

[342] *च०सं०*, चि० 19/5

[343] *च०सं०*, चि० 19/5

[344] *च०सं०*, चि० 19/5

वाग्भट ने पक्वातिसार का विस्तृतरूप से वर्णन किया है परन्तु आमातिसार का स्पष्टतया वर्णन नहीं किया। अतः सुश्रुत एवं वाग्भट चरकोक्त अनुसार अतिसार के लक्षण[345] स्वीकार करते हैं।

वातज अतिसार रोग की चिकित्सा :- कश्यप[346] ने वात आमातिसार व्याधि के उपचार को विवेचित करते हुए कहा है कि गर्भिणी को आम-वातयुक्त होने पर हींग, सैन्धव, नागकेसर, दोनों बृहती, इन्द्रजौ, पिप्पलीमूल एवं अतीस इन द्रव्यों को पीसकर गुनगुने गर्म जल के साथ लेना चाहिए। अथवा पिप्पली, धाय के फूल, लोध्र, मंजीठ, पद्मकेसर, पद्म, मोचरस, श्योनाक वृक्ष की छाल एवं नागकेसर इनकी महीन चूर्ण बनाकर रख लेनी चाहिए। तत्पश्चात् इस चूर्ण में घी, मत्स्यपिण्डिका एवं शहद मिलाकर अवलेह बनाना चाहिए। इसका निरन्तर औषधरूप में सेवन करने पर अतिसार व्याधि में आराम मिलता है।

आम अतिसार रोग में सर्वप्रथम रोगी को संग्राहक औषध नहीं देनी चाहिए, क्योंकि यदि दोषों की प्रवृत्त गति को रोक दिया गया, तब उस अवस्था में अन्य रोग पैदा हो सकते हैं। अतः स्वयं बाहर निकल रहे मल-दोषों की उपेक्षा करनी चाहिए। *चरकसंहिता*[347] में कथित है कि यदि अतिसार से पीड़ित गर्भिणी का मल कठिनाई से आ रहा हो, तब गर्भिणी को हरीतकी चूर्ण का सेवन कराना चाहिए। इसके सेवन से मल आसानी से बाहर निकल जाता है, अतिसार रोग का शमन होता है, देह में हल्के की अनुभूति होती है एवं जठराग्नि प्रबल हो जाती है। अथवा रोगी को वातज अतिसार में पिठवन, गोखरू, मंजीठ एवं कटेरी इन द्रव्यों को जल में पकाकर सेवन के लिए दें। वस्तुतः जब रोगी बलयुक्त और आमदोष की प्रबलता वाली स्थिति में हो तो उस अवस्था में मल प्रवर्तन कराना चाहिए। यदि रोगी दुर्बल और अल्प आमदोष से युक्त हो, तब पहले उपेक्षा करके बाद में संग्राही औषध देनी चाहिए।

चरक ने आमातिसार में पथ्य सेवन को परिलक्षित करते हुए कहा है कि जब पीड़िता को भूख लगे और वह भूख से व्याकुल हो तो उसे भोजन के समय लघु आहार दें। इस प्रकार भोजन देने से वह भोजन में धीरे-धीरे रुचि लेने लगता है, उसकी जठराग्नि प्रबल हो जाती है

---

345 *सु०सं०*, उ० 40/9 ; *अ०हृ०*, नि० 8/5-7

346 *का०सं०*, खि० 10/73-74, 88-89

347 *च०सं०*, चि० 19/17-18

और कुछ समय पश्चात् वह बलयुक्त हो जाता है। उपचारक पीड़िता की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए कांजी के साथ, यवागू के साथ, तक्र के साथ, तर्पण के साथ, मदिरा के साथ अथवा शहद के साथ भोजन देना चाहिए। तत्पश्चात् जठराग्नि को दीप्त करने वाली और ग्राही औषधियों से युक्त जल में पकाकर क्रमशः यवागू, यूष, मांस रस और भात का सेवन कराएँ।[348] वाग्भट[349] आमातिसार से पीड़ित रोगी के लिए चरकोक्त आहार तथा विहार को ही पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं।

सुश्रुत वातज आमातिसार की चिकित्सा बताते हुए कहते हैं कि इस व्याधि से आक्रान्ता को हरड़, हींग, अतीस, सौंचरनमक एवं वच इन सभी द्रव्यों को पीसकर एवं चूर्ण बनाकर गुनगुने जल के साथ सेवन कराएँ। अथवा पटोल, अजमोद, बेल, वच, पिप्पली, सोंठ, नागरमोथा, कूठ एवं विडंग इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर गर्म जल के साथ सेवन कराएँ। अथवा अदरक तथा गिलोयचूर्ण को गर्म पानी के साथ रोगी को दे। अथवा पाँचों नमक, पिप्पली, विडंग, हरड़ या चित्रक, शीशम वृक्ष की छाल, पाठा, काकादनी या पाँचों नमक या शुद्ध हींग, इन्द्रजौ और पाँचों नमक सभी को बराबर मात्रा में अथवा नागदन्ती एवं पिप्पली के कल्क को एककर्ष की मात्रा में अथवा वच एवं गिलोय को बारीक पीसकर कल्क को गुनगुने जल के साथ आमपाचनार्थ देना चाहिए। यह सर्वोत्तम योग है।[350]

वाग्भट[351] ने वातज अतिसार रोग की चिकित्सा को लक्षित करते हुए कहा है कि रोगी को बालवच एवं अतीस का काढ़ा अथवा नागरमोथा, पित्तपापड़ा का काढ़ा अथवा नेत्रबाला, सोंठ का काढ़ा पिलाना चाहिए।

3.5.5 पित्तज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार :- जब पित्तदोष की प्रकृति वाला मनुष्य खट्टे पदार्थ, नमक, कड़वे, क्षार, उष्ण एवं तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन करता है, वह बारम्बार आग के ताप, सूर्य के सन्ताप, गर्म हवा के चलने से प्रताड़ित होता है एवं क्रोधी और ईष्यालु स्वभावयुक्त हो जाता है तो उसका पित्त प्रकुपित हो जाता है। तत्पश्चात् पित्त

---

[348] *च०सं०*, चि० 19/23-25

[349] *अ०हृ०*, चि० 9/9-10

[350] *सु०सं०*, उ० 40/47-51

[351] *अ०हृ०*,चि० 9/8

द्रवयुक्त होने से जठराग्नि को विनष्ट कर देता है एवं मलाशय में पहुँचकर अपने उष्ण, द्रव तथा सर गुणों से मल को विखण्डित करके अतिसार नामक रोग को पैदा करता है। चरक ने पित्तज अतिसार के लक्षणों को इस प्रकार उद्घाटित किया है- रोगी हल्दी के वर्ण से युक्त पीला या हरा या नीला या काला, रक्त तथा पित्तमिश्रित एवं अत्यधिक दुर्गन्ध से युक्त मल का त्याग करता है। तत्पश्चात् रोगी को प्यास, जलन, स्वेद, मूर्च्छा, उदरशूल, गुदा में जलन आदि लक्षणों से कष्ट होता है।[352] सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी उपरोक्त पित्तज अतिसार रोग के लक्षण[353] माने हैं।

कश्यप पित्तज अतिसार रोग से पीड़ित गर्भिणी के लिए सर्वप्रथम न्यग्रोधादि गण की औषधसेवन करने के लिए कहते हैं- इस रोग से पीड़ित गर्भिणी को न्यग्रोधादि गण के क्वाथ को शहद द्वारा मीठा करके पीने से पित्तातिसार व्याधि का प्रशमन होता है। अथवा पिप्पली, धाय के पुष्प, मुलहटी, कच्चे बिल्ब का गूदा इन सभी के क्वाथ को शक्कर एवं शहद में मिलाकर सेवन कराना चाहिए। अथवा गर्भिणी को कमल, मंजीठ, आम की गुठली, मुलहठी, पद्मकेसर, लोध्र एवं मोचरस को शक्कर एवं मधु के साथ देने से पित्तज अतिसार का शमन होता है।[354]

चरक भी पित्तज अतिसार में षडङ्गपानीय विधि से सिद्ध पानी रोगी को पीने के लिए कहते हैं- जब पीड़िता को अतिसार में अधिक प्यास लगती है तो उस अवस्था में नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खश, सारिवा, रक्तचन्दन, चिरायता और सुगन्धवाला औषधी डालकर षडङ्गपानीय विधि से निर्मित जल पीने के लिए दे। यह औषधयुक्त जल पित्तज अतिसार रोगी के लिए लाभप्रद होता है।

"तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्यवारिभिरुपचारः।"[355]

इसके अतिरिक्त चरक ने पित्तज अतिसार से पीड़ित रोगी के लिए छः योगों द्वारा उपचार करने के लिए कहा है, जिससे रोग का शीघ्र शमन होता है- १. चिरायता, नागरमोथा,

---

[352] *च०सं०*, चि० 19/6

[353] *सु०सं०*, उ० 40/10 ; *अ०हृ०*, नि० 8/8

[354] *का०सं०*, खि० 10/79-82

[355] *च०सं०*, चि० 19/50

इन्द्रजौ और रसौंत। २. बेलगिरी, दारुहल्दी, दालचीनी, सुगन्धबाला और दुरालभ। ३. लालचन्दन, खश या कमलदण्ड, सोंठ, पठानी लोध और नीलकमल। ४. काला तिल, मोचरस, लोध, मंजीठ अथवा लजैनी, श्वेत और नीलकमल। ५ नीलकमल, धाय का फूल, अनार का छिलका और सोंठ तथा ६. कट्फल, सोंठ, पाठा, जामुन का बीज (गुठली), आम का बीज (गुठली) और यवासा इन सभी पदार्थों का अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक योग की औषधियों को बराबर मात्रा में लेकर एवं पीसकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ सेवन करें और अन्त में चावल धुला हुआ जल पीयें।[356] वाग्भट[357] भी पित्तज अतिसार से पीड़ित को चरकोक्त अनुसार उपचार करने के लिए कहते हैं।

तदन्नतर चरक पित्तज अतिसारव्याधि से पीड़ित रोगी को सद्वृत्त का पालन करने के लिए कहते हैं- जब उपरोक्त औषधियाँ रोगी पचा ले, तदुपरान्त समुचित सांग्राहिक औषधियों के जल से सिद्ध मांसरसों के साथ पुराने लाल शालि चावल का भात खाना चाहिए। अथवा जब पित्तज अतिसार से पीड़िता की जठराग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब उसे बकरी के दूध का प्रतिदिन सेवन करने से स्वस्थ हो जाता है तथा उसका बल और वर्ण बढ़ जाता है।[358] अतः वह दूध के सेवन करने से कान्तियुक्त होता है। सुश्रुत ने भी पित्तज अतिसार के रोगी के लिए औषधयुक्त द्रव शहद के साथ पीने के लिए कहा है- मुलेठी, बेलगिरि, नीलकमल, नागरमोथा, हाऊबेर, खस एवं शुण्ठी इन औषधियों के काढ़े को शीतल करके तथा इनमें शहद मिलाकर सेवन करने से पैत्तिक अतिसार का प्रशमन होता है।

इसके अतिरिक्त पित्तज अतिसार में मृदु एवं दीपन द्रव्यों तथा तिक्त द्रव्यों का उपयोग जठराग्नि को प्रज्वलित और अन्न का पाचन करने वाला बनाता है। अतः इसके लिए सुश्रुत ने तीन योग बताए हैं- १. हल्दी, अतीस, पाठा, इन्द्रजौ, रसाञ्जन अथवा २. रसाञ्जन, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ। ३. पाठा, गिलोय, चिरायता और कुटकी इन योगों का अलग-अलग काढ़ा

---

356 *च०सं०*, चि० 19/52-55

357 *अ०हृ०*, चि० 9/57-59

358 *च०सं०*, चि० 19/56-57

बनाकर रोगी को देना चाहिए, जिससे उसकी अग्नि दीप्त होती है।[359] सम्भवतः सुश्रुत ने जिन तीन योगों का वर्णन किया है, इनका चरकोक्त योगों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

वाग्भट[360] पित्तजातिसार के रोगी की अग्नि प्रदीप्त करने एवं पाचन के लिए चार योगों का विवेचन करते हैं- १. चिरायता, नागरमोथा, कुटज, रसाञ्जन। २. दारुहल्दी, नेत्रबाला, बेलगिरी, जवासा। ३. तिल, मोचरस, लोध, मंजीठ, कमल, नीलकमल। ४. सोंठ, धाय के पुष्प, अनार का छिलका और नीलकमल। इन चार योगों में से किसी एक योग का चूर्ण बनाकर शहद के साथ रोगी को दे, उसके बाद चावल का धोवन पिलाना चाहिए।

3.5.6 कफज अतिसार रोग के निदान एवं उपचार :- जब कफ प्रकृति वाला मनुष्य भारी, मधुर, ठण्डा और चिकने पदार्थ अर्थात् घी, तेलादि का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करता है, भूख से अधिक भोजन करता है, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता है, दिन में सोता है, किसी प्रकार का कोई कार्य नहीं करता है, तब उसके शरीर में श्लैष्मिकदोष कुपित होकर जठराग्नि को नष्ट कर देता है तथा अपने जलीय स्वभाव से मलाशय में जाकर मल को जल से द्रवयुक्त बनाकर अतिसार रोग को पैदा करता है।

अतः चरक ने कफ दोष के प्रकुपित होने पर कफज अतिसार के अधोलिखित चिह्न[361] बताए हैं- पीड़िता स्निग्ध, श्वेत, लसदार, सूतवाले, कच्चे, भारी, दुर्गन्धित कफमिश्रित मल को उदरशूल एवं प्रवाहण के साथ बारम्बार त्याग करती है। रोगी के पेट, गुदा, बस्ति तथा वंक्षण में भारीपन होता है। उसे मल त्याग करने के बाद भी ऐसा लगता है कि जैसे अभी तक मल त्याग नहीं किया। उसे मूर्च्छा आती है एवं मुँह में पानी आता रहता है। उसे नींद और आलस्य अधिक आता है, शरीर में कार्य किए बिना थकान लगती है तथा भोजन करने की इच्छा नहीं होती अर्थात् भोजन से द्वेष रहता है। अतः अनेक लक्षण अतिसार में दिखाई देते हैं, जिसे

---

[359] *सु०सं०*, उ० 40/67, 60-61

[360] *अ०हृ०*, चि० 9/62-63

[361] *च०सं०*, चि० 19/7

देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि इसे कफज अतिसार व्याधि हुई है। सुश्रुत एवं वाग्भट[362] ने कफज अतिसार से पीड़ित रोगी में उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किए हैं।

काश्यपसंहिता[363] में श्लेष्मिक अतिसार के प्रशमन के सन्दर्भ में कहा गया है कि- श्लैष्मिक अतिसार के स्तम्भन के लिए अम्बष्ठादि गण के काढ़े को शहद तथा चावल के धोवन के साथ मिलाकर पिलाएँ। यह औषधी कफज अतिसार का शीघ्र ही शमन करती है। अथवा रोगी को इन्द्रजौ, धाय के फूल, मरिच, लोध्र, श्योनाक अरलु तथा देवदारु को शहद के साथ पीसकर एवं चूर्ण बनाकर धोवन के साथ पिलाएँ। अथवा कमल के पुंकेसर को धोवन में पीसकर तथा उसमें शहद मिलाकर पिलाएँ।

चरक[364] ने कफज अतिसार से पीड़ित रोगी के लिए चार योगों का विवेचन किया है, जिससे अतिसार रोग का शमन होता है- १ धाय के पुष्प, सोंठ, लोध और कमल की केशर। २. जामुन वृक्ष की छाल, सोंठ, धनिया, पाठा, मोचरस और बरियार। ३. लज्जावन्ती, धाय के पुष्प, बेलगिरी, आम एवं जामुन की छाल। ४. कैथ, बायविडंग, सोंठ और मरिच इन चारों योगों से निर्मित खडयूषों को तिनपतिया, खट्टे बेर के क्वाथ, खट्टे मट्ठे से अम्ल बनाकर उनमें घी तथा सेंधा नमक मिलाकर रोगी को देना चाहिए, जिससे कफज अतिसार व्याधि शान्त होती है। अथवा मंगरैला, पाठा, सोंठ, मरिच एक-एक भाग और धाय का पुष्प २ भाग लेकर चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख ले। इस चूर्ण की २ ग्राम मात्रा लेकर बिजौरा नीम्बू के रस में घोलकर रोगी को पीना चाहिए। अथवा रसौंत, अतीस एवं इन्द्रजौ एक-एक भाग तथा धाय का फूल २ भाग लेकर चूर्ण बना लें। इसमें २-२ ग्राम की माप में शहद और सोंठचूर्ण मिलाकर रोगी को दे।[365]

वाग्भट कफजातिसार व्याधि में सर्वप्रथम वातातिसार में कही गई औषधियों द्वारा चिकित्सा करने के लिए कहा है। तदुपरान्त विशेषरूप से उपचार करना चाहिए, जिसके द्वारा आमदोष का सरलतया पाचन हो सके। पीड़ित को पाठा, चित्रकमूल, कुटज की छाल,

---

[362] *सु०सं०*, उ० 40/11 ; *अ०हृ०*, नि० 8/9-10

[363] *का०सं०*, खि० 10/76-78

[364] *च०सं०*, चि० 19/109-111

[365] *च०सं०*, चि० 19/107-108

पीपलामूल, कुटकी, सोंठ, बालवच एवं हरड़ इन द्रव्यों का काढ़ा या बारीक पीसकर बनाए गए चूर्ण का सेवन करने से कफज अतिसार का शमन हो जाता है। अथवा सौंचरनमक, बालवच, सोंठ, मरिच, पीपल, घी में भूनी हुई हींग, अतीस और हरड़ इन द्रव्यों का चूर्ण तैयार करे एवं मापानुसार गुनगुने जल के साथ खाने के लिए देना चाहिए। अथवा कैथ का गूदा, मरिच तथा पीपल के चूर्ण में शहद एवं चीनी मिला लेनी चाहिए अथवा कट्फल के चूर्ण को शहद के साथ देने पर कफ अतिसार रोग नष्ट होता है और पीड़िता कुछ ही दिनों के बाद सम्यक् रूप स्वस्थ हो जाती है।[366]

3.5.7 सन्निपातज अतिसार का निदान एवं उपचार :- कभी-कभी मनुष्य त्रिविध दोष के बढ़ने या क्षय होने के कारण रोगी होता है। इसलिए इस व्याधि में त्रिविध दोषों के लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं, जिन्हें देखकर प्रथमतः यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि रोगी किस दोष से पीड़ित है। चरक सन्निपात अतिसार के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि- अतिशीत, अतिस्निग्ध, अति उष्ण, अतिरूक्ष, अति गुरु, अतिखर, अतिकठिन, विषम भोजन, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, उपवास, भोजन का समय बीत जाने पर भोजन, उचित-अनुचित का विचार किए बिना कुछ भी खाना, दूषित मद्य एवं दूषित जलपान, अति मद्यपान का सेवन, चिकित्सा का विपरीत प्रयोग, अग्नि, सूर्य, वायु और जल के सम्पर्क में अधिक रहना, जागना, अधिक सोना, मल-मूत्रादि को अवरुद्ध करना, ऋतुओं का विपरीत स्वभाव, शरीर की शक्ति से अधिक परिश्रम करना, भय, शोक एवं मन की उद्विग्नता की वृद्धि के कारण जठराग्नि नष्ट हो जाती है। अतः पक्वाशय में प्रवेश करके सभी दोषों के लक्षणों से युक्त अतिसार व्याधि की उत्पत्ति हो जाती है।[367] लेकिन सुश्रुत सन्निपातज अतिसार के लक्षणों को वर्णित नहीं करते, अपितु चरकोक्त सन्निपातज अतिसार के लक्षण ही प्रायशः स्वीकार करते हैं। वाग्भट ने उक्त तीनों दोषों के लक्षणों के मिश्रित लक्षण सन्निपातज अतिसार में कहे हैं।[368]

---

366 *अ०हृ०*, चि० 9/106-108

367 *च०सं०*, चि० 19/8

368 *सु०सं०*, उ० 40/12 ; *अ०हृ०*, नि० 8/11

सन्निपात अतिसार में दोषानुसार ही उपचार करना चाहिए अर्थात् सम त्रिदोषज अतिसार में सर्वप्रथम प्रकुपित वात की चिकित्सा करे। उसके बाद पित्तदोष की एवं अन्त में कफदोष का शमन करे। यदि मनुष्य विषम सन्निपातातिसार से पीड़ित हो तो जो दोष सबसे अधिक कुपित एवं बलवान् हो, पहले उसकी चिकित्सा करें। तत्पश्चात् सबसे कम दोष का शमन करें।

"वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्। त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः॥"[369]

सुश्रुत ने सन्निपातज अतिसार से पीड़ित रोगी के लिए औषधीयुक्त सिद्ध घी का प्रयोग करने के लिए कहा है- दारुहल्दी, बेलगिरि, पिप्पली, मुनक्का, कुटकी, इन्द्रजौ इन सभी द्रव्यों का काढ़ा-चूर्ण से सिद्ध घी त्रिदोषज अतिसार रोग को शान्त करता है या दधि, काँजी में सोंठ, मरिच, पीपल, जीरक, चित्रक तथा चव्य, पीपलामूल, अनार इसके कल्क से सिद्ध घी त्रिदोषज अतिसार का शमन करता है।[370] *अष्टाङ्गहृदय* एवं *काश्यपसंहिता* में सन्निपातज अतिसारव्याधि का उपचार नहीं मिलता है।

चरकसंहिता में कथित है कि- जिस रोगी के त्रिविध दोष अर्धपक्व-अम्ल आहार से मिल जाते हैं तथा संचित हो जाते हैं, वे अतिसार रोग को पैदा करते हैं। अतः सर्वप्रथम संचित हुए तीनों दोषों को बाहर निकालना चाहिए।[371]

3.5.8 आगन्तुक अतिसार रोग :- चरक आगन्तुक अतिसार रोग को मानसिक दोषों के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं- भयज एवं शोकज। जो लक्षण वातज अतिसार रोग में दिखाई देते हैं वहीं इनके लक्षण होते हैं, क्योंकि **"कामशोकभयाद्वायुः"** के अन्तर्गत शोक तथा भय के द्वारा वायु प्रकुपित होती है। अतः भयज एवं शोकज अतिसार, वातज अतिसार रोग के समान लक्षण वाले होते हैं।[372] वाग्भट[373] चरक द्वारा कहे गए लक्षणों को मानते हैं।

---

[369] *च०सं०*, चि० 19/122

[370] *सु०सं०*, उ० 40/77-78

[371] दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः। अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत्॥ *च०सं०*, चि० 19/14

[372] आगन्तु द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ। तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्॥ *च०सं०*, चि० 19/11

[373] *अ०हृ०*, नि० 8/12

सुश्रुत आगन्तुकातिसार के लक्षणों को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं- प्रिय वस्तु, सम्बन्धी आदि के विनाश के कारण शोकातुर मनुष्य अल्पाशी हो जाता है। इसके कारण वाष्पोष्मा कोष्ठ में आकर जठराग्नि को दूषित करके रक्त को क्षुब्ध कर देती है, जिससे क्षुब्ध रक्त मलसहित गुदामार्ग द्वारा या मलरहित रत्तियों के सदृश लाल रंग के गंधयुक्त या गंधरहित कष्ट के साथ बाहर निकलता है। अतः यह शोकोत्पन्न अतिसार अत्यधिक कष्टसाध्य होता है।[374] इसीलिए वैद्य इस अतिसार को कष्टप्रद मानते हैं।

कश्यप[375] ने रक्तातिसारव्याधि के होने पर निम्नोक्त औषधियों का वर्णन किया है- सहचर की मूल के क्वाथ में खीरे के बीज, शक्कर और शहद मिलाकर देने पर रक्तातिसार का शमन होता है। अथवा कमल, मंजीठ, मुलहठी, चन्दन, कमलकेसर, इन द्रव्यों का चूर्ण निर्मित करके और शहद मिलाकर दूध के साथ रोगी को दें। अथवा काले तिल, मंजीठ, मधुयष्टि एवं नीलकमल को बारीक पीसकर कच्चे दूध के साथ रोगी द्वारा सेवन करने से रक्तातिसारव्याधि शान्त होती है। यदि चूर्ण में बकरी का दूध मिला दिया जाए तो अत्यधिक हितकारक होता है। अथवा रोगी को मोचरस, तिल, लोध्र, नीलकमल एवं कमल द्रव्यों का चूर्ण बनाकर दूध के साथ दें।

चरक ने आगन्तुक अतिसार रोग से पीड़ित रोगी की चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा है कि भय एवं शोक से वात अति शीघ्र कुपित हो जाती है। अतः भय तथा शोक से ग्रस्त अतिसार को विनष्ट करने के लिए वातनाशक उपचार करना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों विकार मानसिक हैं। इसलिए मानसिक दृष्टिकोण से भी इसका भिषक्कर्म करें। जैसे- भयज अतिसार रोग के अन्तर्गत आश्वासन तथा शोकज अतिसार रोग के अन्तर्गत मन को प्रसन्न बनाये रखना अत्यावश्यक है।[376]

वाग्भट[377] ने आगन्तुक अतिसारव्याधि के उपचार में चरकोक्त मत को माना है। सुश्रुत ने आगन्तुक अतिसार रोग में रक्तातिसार व्याधि का हरण करते हुए प्रियालादि क्षीर, मधुकादि क्षीर एवं मंजिष्ठादि क्षीर का विवेचन किया है- चिरौंजी, सेमल, पिलखन, शल्लकी,

---

[374] *सु०सं०*, उ० 40/13-14

[375] *का०सं०*, खि० 10/96-99

[376] *च० सं०*, चि० 19/12

[377] *अ० हृ०*, चि० 9/123

तिनीश सभी तरुओं की छाल को काटकर तथा उसके बाद पीसकर महीन चूर्ण बना ले। तत्पश्चात् रोगी को उस चूर्ण में बकरी के दूध एवं शहद मिलाकर पिलाएँ, जिसके प्रतिदिन सेवन से रक्तज अतिसार रोग का शमन होता है। अथवा मुलेठी, शक्कर, लोध, अर्कपुष्पी और अनन्तमूल सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाएँ। तत्पश्चात् रोगी चूर्ण की ६-१० ग्राम मात्रा को ५० मिलिलीटर दूध एवं १० ग्राम मधु में मिलाकर पीएँ। अथवा मंजीठ, अनन्तमूल, पठानी लोध, श्वेतकमल, नीलकमल, पद्मकाष्ठ एवं भार्गी इन सभी द्रव्यों को बारीक पीसकर एवं चूर्ण बनाकर ३-६ ग्राम की मात्रा में लेकर तथा ५० मिलिलीटर बकरी के दूध में मिलाकर रोगी को देना चाहिए। अतः इन त्रिविध सिद्ध क्षीरों में से किसी एक क्षीर के प्रयोग से आगन्तुक अतिसार से पीड़िता को आराम मिलता है।[378]

सुश्रुत इन सिद्ध क्षीरों के अतिरिक्त रक्तातिसार रोग से पीड़ित रोगी के लिए चार योगों[379] का विवेचन करते हैं- १. शक्कर, नीलकमल, पठानीलोध, मंजीठ, मुलेठी एवं तिल। २. काले तिल, मुलेठी, मंजीठ एवं नीलकमल। ३. तिल, मोचरस, पठानीलोध, मुलेठी एवं नीलकमल। ४. कंकतिका, तिलकल्क। इन सभी द्रव्यों को बारीक चूर्ण बनाकर एवं शहद के साथ बकरी के दूध से रोगी को पिलाने पर रक्तातिसार व्याधि का शमन होता है। अथवा रसाञ्जन, अतीस, कुटजछाल, इन्द्रजौ, धाय के पुष्प एवं हल्दी द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर शहद एवं चावलों के जल को पिलाने से पीड़ायुक्त रक्तातिसार रोग का प्रशमन होता है।

3.6.1 गर्भिणी छर्दि रोग :- गर्भावस्था में छर्दि रोग को गर्भ की अनुभूति का एक लक्षण माना गया है। गर्भावस्था में वमन केवल गर्भ की उपस्थिति में भी हो सकता है अथवा जिन-जिन कारणों से वमन किसी सामान्य व्यक्ति को होता है उन कारणों से भी गर्भिणी को हो सकता है।

जो वमन गर्भ के कारण होता है उसे आधुनिक चिकित्सक **'हाइपर एमिसिस ग्रेविडेरम'** कहते हैं। वमन के द्वारा गर्भिणी के शरीर का जलीयांश कम होने लगता है तथा एक परिधि से अधिक वमन हो जाने पर गर्भिणी को हानि हो सकती है। इसलिए उपचारक

---

[378] *सु० सं०*, उ० 40/119-121

[379] *सु०सं०*, उ० 40/122-124

इसकी चिकित्सा तत्काल आरम्भ कर दे। आयुर्वेद में गर्भज वमन को आगन्तुज छर्दि भेद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।

सुश्रुत छर्दिव्याधि[380] को लक्षित करते हुए कहते हैं कि- अपने प्रकोपक कारणों से उत्क्लेशित होकर अपने वेग से मुख को आच्छादित करता हुआ, अंग-प्रत्यंग को पीड़ित करता हुआ मुखमार्ग से निःसरित होने वाला दोष छर्दि कहलाता है।

सर्वप्रथम वमन के आरम्भ में हृल्लास का अनुभव होता है। तदुपरान्त मुख में अधिक लालास्राव होता है। मृदुतालु ऊपर की ओर हो जाते हैं, जिससे कण्ठद्वार और ग्रासनली बन्द हो जाती है। इसके कारण आमाशयस्थ पदार्थ नासा एवं श्वासप्रणाली में नहीं पहुँच पाते हैं। जठर-निर्गम बन्द हो जाता है और उसमें पदार्थ आमाशय की तरफ धकेल दिए जाते हैं। तत्पश्चात् उबकाई के समय पेट और श्वसनतन्त्र की पेशियों और मध्यच्छद के संकोच से अन्तरुदरीय दबाव बढ़ जाता है, जिससे आमाशय पर दबाव पड़ने के कारण उसमें विद्यमान पदार्थ ग्रासनली की ओर धकेल दिए जाते हैं। इसमें आमाशय का अपना कोई विशेष योगदान नहीं होता है। वमन लाने में इस प्रकार के दबाव का प्रमुख भाग रहता है। अर्वाचीन वैद्यक छर्दिव्याधि[381] को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- **Vomiting is forcible expulsion of the gastric content through the oesophagus and mouth**.

चरक सामान्य छर्दिव्याधि का विवेचन करते हुए कहते है कि- **"तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम्"**[382] अर्थात् मनुष्य को मिचली आना, मुख में पानी बारम्बार आते रहना, भोजन को देखकर घृणा करना ये छर्दि रोग के पूर्वरूप लक्षण हैं। वाग्भट ने उदानवायु द्वारा प्रकोपक दोषों का मुख से बाहर निकलने को छर्दि रोग कहते हैं- **"उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति"**[383] अर्थात् अपने कारणों से विकृत हुआ उदान वायु सभी प्रकार के छर्दि रोगों में वातादि दोषों को जब ऊपर मुखमार्ग की ओर धकेलता है, तब छर्दिव्याधि होती है।

---

[380] छादयन्ननानं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः॥ *सु०सं०*, उ० 49/6

[381] *च०सं०*,भा-2, पृ० 490

[382] *च०सं०*, चि० 20/6

[383] *अ०हृ०*, नि० 5/30 ; तासूत्क्लेशास्यलावण्यप्रसेकारुचयोऽग्रगाः। *अ०हृ०*, नि० 5/31

3.6.2 छर्दि रोग के भेद :- आयुर्वेद की संहिताओं में छर्दिव्याधि के पाँच भेद[384] स्वीकार किए गए हैं। वातज-पित्तज एवं कफज छर्दि तथा तीनों दोषों के संसर्ग से सन्निपातिक छर्दि एवं आगन्तुक छर्दि ये पाँच भेद हैं। वाग्भट[385] छर्दि रोग के पाँचों भेदों को मानते हैं किन्तु सुश्रुत ने इन भेदों के अतिरिक्त कृमिज छर्दि को भी स्वीकार किया है।

3.6.3 वातज छर्दिव्याधि का निदान एवं शमन :- अत्यधिक श्रमजन्य कार्य करने के कारण, तीक्ष्ण औषधियों, शोक, भय, रोग और उपवास आदि के कारण कमजोर हुए मनुष्य की वायु कुपित हो जाती है तथा वह महास्रोत में स्थानसंश्रय करके दोषों को निकालकर ऊपर की ओर फेंकता हुआ, आमाशय में मिचली पैदा करके हृदयादि मर्म स्थानों को अपने वेग से पीड़ित करता हुआ छर्दि रोग को पैदा करता है। चरक[386] ने वातज छर्दि रोग के विषय में बताते हुए कहा है कि- मनुष्य में वातदोष के प्रकुपित होने पर उत्पन्न छर्दिव्याधि में रोगी बहुत कष्ट के साथ प्रबल वेग के कारण बड़ी कठिनाई से कुछ मात्रा में वमन कर पाता है, जो झागयुक्त, टुकड़े-टुकड़े, काले रंग, पतला और कसैला होता है। रोगी के हृदय एवं पसली में वेदना होती है, उसका मुख सूखता रहता है, सिर और नाभि में पीड़ा होती है, खाँसी आती है, गला बैठ जाता है, शरीर के अंगों में सूई चुभने जैसी पीड़ा होती है और वमन के साथ ऊँचे शब्द के साथ डकारें आती रहती हैं। सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी वातज-छर्दि आमय के उपर्युक्त लक्षण[387] माने हैं।

कश्यप ने वातज छर्दि रोग के लक्षण को तो नहीं बताया है, परन्तु इन्होंने वातज छर्दि आमय के उपचार का अवश्य वर्णन किया है- वातज छर्दि से पीड़ित गर्भिणी को बिजौरे नीम्बू का रस, धान की खील, बेर की गुठली, रसाञ्जन, अनारदाना एवं चीनी इन सभी द्रव्यों का अवलेह बनाकर शहद के साथ सेवन करें, जिससे शीघ्र ही वातज छर्दि रोग का शमन हो जाता है। अथवा यदि गर्भिणी पहले से ही मांस का सेवन करती हो, तब उसे नमक रहित खट्टे

---

[384] दोषैः पृथक् त्रिप्रभवाश्चतसो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्। *च०सं०*, चि० 20/6 ;

[385] *अ०हृ०*, नि० 5/30 ; दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः। छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते॥ *मा०नि०* 15/1

[386] *च०सं०*, चि० 20/8-9

[387] *सु०सं०*, उ० 49/9 ; *अ०हृ०*, नि० 5/31-32

अनार का रस, पका हुआ मांसरस या अच्छी प्रकार से पकाया हुआ भैंस का मांसरस खिलाना चाहिए, जिससे वातज छर्दि रोग से जल्द ही शान्ति मिलती है।[388]

चरक ने अधिक स्पष्टरूप से पक्षियों के मांस को भोजनरूप में देने के लिए कहा है- वातिक रोग[389] से पीड़ित रोगी को तीतर, मोर एवं बटेर इन पक्षियों के मांसरस को दीपन-पाचन औषध योगों से संस्कृत करके भोजनरूप में ग्रहण करने पर व्याधि का शमन होता है। इसी प्रकार खट्टे बेर, धनियाँ, बिल्वादि पञ्चमूल को डालकर षडंगपरिभाषा से पकाए गए जल में बनाई गई कुलथी का यूष या जौ के यूष में खट्टे अनार का रस डालकर रोगी को पिलाएँ, जिससे वातज छर्दिव्याधि शान्त होती है। आधुनिक समय में इन पक्षियों का मांस सुलभ नहीं है, क्योंकि अधुनातन इन पक्षियों को मारना वर्जित है।

सुश्रुत ने वातज छर्दिव्याधि का निवारण करते हुए कहा है कि पीड़ित को घी मिला हुआ दूध पीने के लिए दें। अथवा घी मिले हुए सेंधानमक का सेवन करें। अथवा मूँग और आँवले का चूर्ण बनाकर, उसमें घी मिला हुआ सेंधानमक रोगी को दें अथवा पञ्चमूल से सिद्ध यवागू को शहद के साथ पीड़िता को पिलाएँ। अथवा पर्याप्त मात्रा में नमकयुक्त अनार आदि खट्टे फलों के रसयुक्त लावा आदि पक्षियों के मांस रस रोगी को सेवन करवाएँ।[390] इस प्रकार सुश्रुतोक्त बताई गई इन सिद्ध औषधियों, पेयपदार्थों में से किसी एक का सेवन रोगी को करवाएँ, जिसके प्रतिदिन सेवन करने से वातज छर्दि रोग का शमन होने के कारण रोगी पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाता है। उसके वातदोष अपने स्थान पर अवस्थित हो जाते हैं। वाग्भट[391] ने वातज छर्दि चिकित्सा में सुश्रुतोक्त उपचार को ही मानते हुए कहा है कि सोंठ, मरिच, पीपल, सेंधा, सौंचर एवं विड नमक को मिलाकर कोष्ण घी रोगी को पिलाएँ। या सोंठ, दही, धनियाँ के कल्क से पका हुआ घी रोगी को सेवन कराएँ। या बराबर मात्रा में पानी दूध में मिलाकर दे, इस प्रकार कहा है। ऐसा करने से वातज छर्दि रोग का शमन हो जाता है।

---

[388] *का०सं०*, खि० 10/118-120

[389] *च०सं०*, चि० 20/23

[390] *सु ०सं०*, उ० 49/18-20

[391] *अ०हृ०*, चि० 6/7-9

3.6.4 पित्तज छर्दि रोग का निदान एवं शमन :- जब मनुष्य अजीर्ण रहता है तथा कुछ समय पश्चात् भोजन का सेवन करने के कारण, कटु-अम्ल एवं विदाही व गर्म पदार्थों का अधिक सेवन करने से आमाशय में पित्तदोष की वृद्धि हो जाती है, जिसके कारण पित्तदोष प्रबलरूप से रसायनियों में निःसरित हो जाता है और ऊपर आकर हृदय में वेदना करता हुआ पित्तज छर्दि रोग को पैदा करता है।

उसके बाद रोगी का पित्त कुपित होने से वमन आने लगता है, जो पीला, अत्यधिक गर्म या हरा, तिक्तरस से युक्त, धूमिल वर्ण का होता है। जब रोगी को पित्तज वमन आता है तो उसे जलन के साथ मूर्च्छा आ जाती है, वमनोपरान्त प्यास अधिक लगती है, मुख सूख जाता है, सिर, पैरों के तालु एवं आँखों में जलन पैदा हो जाती है, आँखों के समक्ष अँधेरा छाने लगता है तथा कुछ समय पश्चात् चक्कर आ जाते हैं।[392] सुश्रुत उपर्युक्त लक्षणों[393] को स्वीकारते हुए रक्तयुक्त वमन एवं ज्वर रोग का होना भी स्वीकारते हैं। वाग्भट[394] ने चरकोक्त पित्तजछर्दि व्याधि के लक्षण माने हैं।

काश्यपसंहिता[395] में पित्तजछर्दिव्याधि के लक्षणों का विवेचन नहीं मिलता, किन्तु पित्तज छर्दि रोग की चिकित्सा का विवेचन मिलता है- पित्तज रोगी को दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्ता, नागकेसर इन द्रव्यों को कल्क में लाजा चूर्ण शक्कर एवं शहद मिलाकर उसे पुष्पों के रस से सुगंधित करके धोवन सहित सेवन करें। अथवा शक्कर एवं शहदयुक्त धान की खील रोगी को पेया रूप में दें। या वनीय पशु-पक्षियों के मांसरस को शक्कर द्वारा मधुर करके रोगी को सेवन कराना चाहिए। इस भिषक् औषध को जंगलीपशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करें, लेकिन वर्तमान समय में अधिकतर पशु-पक्षियों को मारना वर्जित है। इसलिए वैद्य मांस सेवन के अतिरिक्त औषधियों का सेवन करवाएँ।

---

392 *च०सं०*, चि० 20/11

393 *सु०सं०*, उ० 49/10

394 *अ०हृ०*, नि० 5/33

395 *का० सं०*, खि० 10/121-122

चरक[396] पित्तज छर्दिव्याधि से पीड़ित रोगी को सर्वप्रथम अनुलोमन एवं वमन कराने का निर्देश देते हैं। सामान्य रोगी को ही अनुलोमन एवं वमन कराया जा सकता है, गर्भिणी को नहीं। अतः वैद्य पित्तज छर्दि रोग में आठ योगों के चूर्ण का सेवन करवाएँ। १. मसूर, मूँग अथवा चने को उबालकर बनाई गई घुघनी। २. धान को भूनकर तथा लावा बनाते हुए एवं चूर्ण बनाकर। ३. जौ को भूनकर एवं पीसकर। ४. जौ की भूसी निकालकर तथा भात बनाकर और मांडसहित। ५. खजूर के बीज निकालकर और उसके गूदे को पीसकर। ६. नारियल के गूदे को पीसकर। ७. मुनक्के के गूदे को पीसकर। ८. खट्टे बेर के गूदे को पीस लेना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी को इनमें से किसी एक योग को मिश्री, शहद एवं पीपर के चूर्ण के साथ दें।

सुश्रुत[397] ने पित्तज छर्दिव्याधि के उपचार में शीतकषाय औषधी का वर्णन किया है। इसके साथ ही अनार के रस से युक्त मधुर द्रव्यों से शोधन कराना चाहिए। यदि पित्तज छर्दि रोग अधिक बलयुक्त हो तो तैल्वक घृत या रोध्रसंस्कृत घी का पीड़िता सेवन करें। वाग्भट[398] पित्तजछर्दि रोगी को वमन और विरेचन द्वारा शोधन करने के लिए कहते हैं, परन्तु गर्भवती स्त्री के लिए शोधन कराना संभव नहीं है। अतः अन्य चिकित्सा उपयोग में लानी चाहिए। रोगी को मूँग, खस, पीपल एवं धनिये को मुनक्के के रस में या गन्ने के रस में या गाय के दूध में भिगोकर रात में रखना चाहिए और प्रातःकाल उठकर उसे छानकर पीना चाहिए। अथवा जामुन तथा आम के कोमल पत्ते, खस, बरगद के अंकुर एवं जड़ों को लेकर क्वाथ या शीतकषाय तैयार कर लेना चाहिए। इसमें शहद मिलाकर रोगी को पिलाएँ।

3.6.5 कफज छर्दि व्याधि का निदान एवं शमन :- जब कफप्रकृति का मनुष्य स्निग्ध, गुरु भोजन, जलन पैदा करने वाले अन्न का सेवन, दिन में सोने से एवं अन्य कफवर्धक कारणों से कफदोष बढ़ता है, जिससे बढ़ा हुआ कफ उरःस्थल, सिर, हृदय और रसायनियों में फैलकर छर्दि व्याधि का प्रार्दूभाव होता है।

---

396 *च० सं०*, चि० 20/28-29

397 *सु०सं०*, उ० 49/21-22

398 *अ० हृ०*, चि० 6/13-14

चरकसंहिता[399] में कफज दोष के कुपित होने से उत्पन्न छर्दिव्याधि के विविध पूर्वरूप बताए गए हैं- इससे ग्रसित रोगी रोमाञ्चित होकर चिकना, घना, मधुर रसयुक्त, विशुद्ध कफ का वमन करता है, जिसमें कम वेदना होती है। उसे जंभाई घेरे रहती है, मुख मीठा बना रहता है, कफ थूकता रहता है, बिना खाए सन्तोष मालूम होता है, नींद अधिक रहती है, भोजन में रूचि नहीं होती एवं शरीर में भारीपन होने से कष्ट होता है। सुश्रुत[400] छर्दिव्याधि के उपरोक्त लक्षण मानते हैं। वाग्भट[401] भी इन्हीं लक्षणों को स्वीकार करते हैं।

काश्यपसंहिता[402] में कफज छर्दि रोग के लक्षणों का विवेचन नहीं मिलता है, किन्तु चिकित्सा का वर्णन अवश्य किया गया है- जिसे कफज छर्दि रोग हो उसे जामुन एवं आम के कोमल कोपलों को पकाकर तथा उसमें शहद मिलाकर पिलाएँ। रोगी के लिए भोजन में अनार के दानों से सिद्ध किया हुआ एवं स्नेह और नमक से युक्त मूंग का यूष लाभप्रद होता है। अतः इसका प्रतिदिन सेवन करने से शीघ्र ही वमन से शान्ति मिलती है।

चरक ने कफज छर्दि रोग की चिकित्सा के संबंध में कहा है कि- इससे पीड़ित रोगी को वमन कराना उत्तम चिकित्सा है। अतः कफस्थान और आमाशय के शोधन के लिए पीपर, सरसों एवं नीम की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें मदनफल के चूर्ण को सेंधानमक सहित रोगी को पिलाएँ।[403] गर्भिणी को वमन कराना हितकर नहीं है। अथवा गर्भिणी को छह मासोपरान्त वमन कराया जा सकता है।

सुश्रुत ने कफज छर्दिव्याधि का उपचार इस प्रकार बताया है- **"आरग्वधादिनिर्यूहं दशाङ्गयोगमेव वा। पाययेताथ सक्षौद्रं कफजायां चिकित्सकः।"**[404] अर्थात् रोगी को आरग्वधादि द्रव्यों का कषाय अथवा दशांग योग के कषाय में मधु मिलाकर दे, जिससे शीघ्र छर्दिव्याधि का शमन होता है। वाग्भट[405] कफज छर्दिव्याधि के भेषजकर्म का विवेचन करते

---

399 *च०सं०*, चि० 20/13

400 *सु०सं०*, उ० 49/11

401 *अ०हृ०*, नि० 5/34-35

402 *का०सं०*, खि० 10/123-124

403 *च०सं०*, चि० 20/34

404 *सु०सं०*, उ० 49/23

405 *अ०हृ०*, चि० 6/20-21

हुए कहते है कि पीड़िता को सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए। यदि रोगी वमन योग्य नहीं हो, तो उसे उपवास कराना हितकर है। परन्तु गर्भिणी के लिए वमन या उपवास हितकर नहीं है। इसलिए रोगी को शुद्ध मैनसिल, पिप्पली, मरिचचूर्ण, बिजौरा नींबू-रस अथवा कैथ के रस में शहद मिलाकर सेवन कराना चाहिए। अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पलीचूर्णयुक्त, कैथ का गूदा खिलाएँ। अथवा जवासा के चूर्ण को मधु सहित सेवन करें। अथवा काली मिर्च, दालचीनी तथा बड़ी इलायची आदि द्रव्यों को महीन पीसकर तथा गोबर रस, मधु सहित रोगी को पिलाएँ।

अतः इन सभी सिद्ध औषधियों में से किसी एक औषधी का प्रयोग करने पर कफज छर्दि रोग का शमन हो जाता है। यहाँ पर स्मरणीय तथ्य यह है- किसी भी आयुर्वेदज्ञ द्वारा औषधी कब और कितनी देनी है, इसका वर्णन नहीं किया गया है। अतः वैद्य को रोगी की क्षमतानुसार औषध मात्रा निर्धारित करनी चाहिए।

कफज छर्दि रोगी के लिए चरक ने कुछ पथ्यों का वर्णन किया है, जो पीड़िता के लिए हितकारक एवं शक्तिवर्धक होता है- इस व्याधि में पीड़िता को पुराने गेहूँ, अगहनी के चावल, पुराने जौ का भोजन कराएँ। इनके द्वारा बने आहार को निम्नोक्त यूषों के साथ प्रयोग करे- १. परवल, गुरुच और चित्रक डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाए गए जल में सिद्ध यूषों के साथ। २. सोंठ, मरिच और पीपर डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाए गए जल में सिद्ध यूषों के साथ। ३. निम्बपत्र सिद्ध जल में निर्मित यूषों के साथ। ४. मट्ठे में बने यूषों के साथ। ५. मरिच आदि कटुरस वाले द्रव्यों से निर्मित और अचार के रस से खट्टे किए गए यूषों से युक्त भोजन करें। इसके साथ-साथ रोगी को औषधयुक्त सत्तू का सेवन भी कराया जा सकता है- रोगी को मूँग, मसूर, चना या मटर भूनकर सत्तू बना लेना चाहिए। तत्पश्चात् उसमें अल्प मात्रा में सोंठचूर्ण को शहद के साथ खाएँ।[406] अन्य आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा कफज छर्दिव्याधि से आक्रान्त मानव के लिए पथ्य का विवेचन नहीं किया गया है।

3.6.6 सन्निपातज छर्दि व्याधि का निदान एवं शमन :- कभी-कभी मनुष्य के तीनों दोष एक साथ बढ़ जाते हैं एवं अपने स्थानों को अवरूद्ध कर देते हैं, जिससे दोष प्रकुपित होकर

[406] *च०सं०*, चि० 20/35, 37

व्याधियों को पैदा करती हैं। अतः जब मनुष्य पथ्य-अपथ्य का विचार किए बिना सभी रसों का बारम्बार सेवन करता है, तब उसके आमदोष और ऋतुओं की विपरीतता के कारण त्रिविध दोष एक साथ प्रकुपित होकर सन्निपातज छर्दि रोग को पैदा करते हैं। चरक सन्निपातज छर्दि रोग के लक्षणों[407] को बताते हैं- जब रोगी तीनों दोषों के कोप से वमन करता है तब उसका वमन नमकयुक्त, खट्टा, नीला, गाढ़ा एवं रक्तमिश्रित पदार्थों से युक्त होता है। रोगी के पेट में सूई जैसी चुभन, अपच भोजन, अरुचि, जलन, अधिक प्यास, श्वासों की अधिकता एवं बेहोशी अधिक आती है। इन लक्षणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि रोगी सन्निपातज छर्दि व्याधि से ग्रस्त हो गया है। सुश्रुत एवं वाग्भट ने सन्निपातज छर्दिव्याधि में तीनों दोषों के बढ़ने पर उपर्युक्त लक्षण माने हैं।[408]

कश्यप[409] ने सन्निपातज छर्दि रोग के सन्दर्भ में कहा है- गर्भिणी को सन्निपातज वमन में संसृष्ट योग दें अर्थात् यदि वमन त्रिदोषयुक्त हो तो उसकी चिकित्सा भी ऐसी होनी चाहिए, जो तीनों दोषों का शमन कर सकें। चरक[410] ने भी त्रिविध दोषानुसार सन्निपातज छर्दि रोग का उपचार करने के लिए कहा है, साथ ही वैद्य को रोगी की जठराग्नि, दोष एवं ऋतु पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए। वाग्भट ने सन्निपातज छर्दिव्याधि का उपचार नहीं बताया है। सुश्रुत[411] रोगी को शीतकषाय पिलाने के लिए कहते हैं- रोगी को गुडूची का हिमसंज्ञक कषाय शहद मिलाकर वात-पित्त-कफ तथा त्रिविध दोषयुक्त छर्दिव्याधि में देना लाभकारी होता है।

3.6.7 द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि व्याधि का निदान एवं शमन :- कभी-कभी मनुष्य कुछ वस्तुओं, पदार्थों, दृश्यों आदि से घृणा करता है तथा यदि ये अचानक सामने आ जाए तो उसे कई बार वमन हो जाता है और लगातार वमन आने से छर्दि रोग पैदा होता है। चरक ने द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि रोग के लक्षणों[412] को इस प्रकार स्पष्ट किया है- अप्रिय पदार्थ, विपरीत,

---

[407] *च०सं०*,चि० 20/15

[408] *सु०सं०*, उ० 49/12 ; *अ०हृ०*, नि० 5/36

[409] सन्निपातसमुत्थायां संसृष्टान्यवचारयेत्। *का०सं०*, खि० 10/125

[410] *च०सं०*, चि० 20/40

[411] *सु०सं०*, उ० 49/24

[412] *च०सं०*, चि० 20/18

अपवित्र, मलिन, वीभत्स, मन को दुःखी करने वाले, गन्धों के सूँघने से अथवा आहार के खाने से एवं केवल वस्तुओं के देखने पर मन सन्तप्त होता है और वमन होने लगते हैं। इस द्विष्ट अर्थ के संयोग सन्ताप को छर्दिव्याधि कहते हैं। सुश्रुत ने इसे आगन्तुज छर्दि रोग कहा है एवं उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किया है। वाग्भट ने भी चरकोक्त द्विष्टार्थज छर्दि रोग के लक्षणों[413] को स्वीकार किया है।

कश्यप द्विष्टार्थ छर्दिव्याधि को नहीं मानते हैं। अतः कश्यप छर्दि रोग के चार भेद ही स्वीकार करते हैं। चरक ने सर्वप्रथम इस रोग में रोगी के मन को प्रसन्न करने वाली वाणी बोलने के लिए कहा है। उसकी समस्याओं को सुनकर, उनके समाधान का आश्वासन देना चाहिए एवं मन को प्रसन्न रखना चाहिए। रोगी के समान आयु वाले मित्र द्वारा, समाज में प्रसिद्ध कथा, कहानी एवं मनोरंजक चुटकले आदि सुनाते रहना चाहिए। रोगी को प्रेम-प्रणय से आप्लावित श्रृंगार रस से उद्दीपक उद्यानों में सैर के लिए ले जाना चाहिए। उसे मनोहर फूल सूँघने के लिए दें। रोगी के मनोनुकूल शाक, भोज्य पदार्थ, शर्बत, मुरब्बे, यूष, मांसरस, मांस, भुने हुए अन्न, अनेक प्रकार के खाने योग्य पदार्थ, उत्तम गन्ध, वर्ण तथा रस से पैदा हुए फल, फूल आदि प्रिय लगने वाले पदार्थ खिलानी चाहिए, जिससे द्विष्टार्थ छर्दि रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है।[414] सुश्रुत और वाग्भट[415] ने भी रोगी के मन के अनुकूल वस्तुओं, पदार्थों एवं भोज्य द्रव्यों का सेवन कराने के लिए कहा है। इस प्रकार छर्दि रोग से पीड़ित गर्भिणी के त्रिविध-दोषों का स्मरण रखते हुए उपचार करें तथा साथ ही बलयुक्त तथा जठराग्नि प्रदीप्त करनी चाहिए।

3.7.1 गर्भिणी कास रोग :- 'कास' स्वतन्त्र रोग होते हुए भी अनेक व्याधियों में पाया जाने वाला एक लक्षण है और यदि इसका जल्दी शमन नहीं किया गया, तो इससे भयंकर व्याधियाँ पैदा हो सकती है। यह रोग बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के कारणों से होता है, जैसे- धूल-धुँआ का नाक, मुख या गले में प्रवेश करने से या भोजन के समय बोलने या हँसने से भोजन का कुछ अंश अन्ननली में न पहुँचकर श्वासनलिका में पहुँच जाता है। असात्म्य होने के कारण वहाँ की कला में क्षोभ पैदा होने से वायु उत्तेजित होती है। केन्द्रीय प्रत्यावर्तन क्रिया

---

[413] *सु०सं०*, उ० 49/12 ; *अ०हृ०*, नि० 5/36

[414] *च०सं०*, चि० 20/41-43

[415] *सु०सं०*, उ० 49/25 ; *अ०हृ०*, चि० 6/22

से कासव्याधि उत्पन्न होता है और विजातीय वस्तु बाहर निकलती है। यदि इसका उपचार न करें तो क्षय रोग की सम्भावना हो जाती है। अतः कास व्याधि का उपचार अवश्य करना चाहिए। इसका गर्भावस्था एवं गर्भ से कोई विशेष सम्बन्ध न होने पर भी गर्भिणी के लिए कास व्याधि कष्टकारी होती है।

अपने प्रकोपक कारणों से कुपित प्राणवायु उदानवायु से मिलकर फूटे हुए काँस्य-पात्र के समान शब्द करती हुई कफ, पित्त सहित मुख से सहसा निकलती है, जिसे कास व्याधि कहा जाता है। इसमें प्राण एवं उदान वायु प्रदूषित होती है। मनुष्य को खाँसी उत्पन्न होने से पहले गले और मुख में शूक या टूड भरा होने जैसा काँटे चुभना, कण्ठ में खुजली होना, भोजन में अरुचि या निगलने में असमर्थता होना, ये सभी लक्षण पूर्वरूप में होते हैं। जब वेगवान् वायु बाहर निकलती है, तब जिन-जिन स्थानों से टकराती है, वहाँ कासरोग में विशेष प्रकार का कष्ट होता है और खाँसने पर विशेष शब्द निकलता है। *अथर्ववेद* में केवल कास व्याधि के उपचार का वर्णन समुपलब्ध होता है।

3.7.2 कास व्याधि के भेद :- आयुर्वेदीय संहिताओं में कासव्याधि के पाँच प्रकारों का वर्णन मिलता है, जो निम्नोक्त है- वात, पित्त, कफ, क्षतज एवं क्षयज।[416]

3.7.3 वातज कासव्याधि का निदान एवं शमन :- मनुष्य द्वारा रूक्ष, शीतल तथा कषाय रसयुक्त पदार्थों को ग्रहण करने से, क्षुधा से कम भोजन करने से, षड् रसों में से केवल एक या दो रसों के सेवन से, अनशन से, अधिक सहवास से, मल-मूत्र अवरुद्ध होने से, अधिक परिश्रम आदि क्रियाएँ करने से वात कासव्याधि पैदा होती है।

चरक[417] कासव्याधि के लक्षणों को इस प्रकार परिलक्षित करते हैं- जब मनुष्य वातज कास से पीड़ित हो जाता है तब उसका उरःस्थल, कण्ठ और मुख सूख जाता है, रोमाञ्च आता है, बेचैनी होती रहती है। उसके हृदय, पार्श्वप्रदेश, वक्ष तथा सिर में वायु पीड़ा उत्पन्न करती है तथा भयङ्कर स्वरभेद पैदा करती है। रोगी का गला बैठने पर कभी-कभी खाँसने की

---

[416] वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयस्तथा। पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः॥ *च०सं०*, चि० 18/4
स वातपित्तप्रभवः कफाच्च क्षतात्तथाऽन्यः क्षयजोऽपरश्च। पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भिर्विवर्धितो यक्ष्मविकारकृत्स्यात्॥ *सु०सं०*, चि० 52/6 ; पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः। *अ०हृ०*,नि०3/17

[417] *च०सं०*, चि० 18/11-12

आवाज नहीं निकलती, जिससे हीनता प्रतीत होती है। वह शारीरिक रूप से भी कमजोर हो जाता है, उसे क्षोभ एवं मोह हो जाता है। उसे सूखी खाँसी आती है और बड़ी कठिनता से सूखे कफ के निकलने पर खाँसी थोड़ी कम होती है। सुश्रुत और वाग्भट[418] कासव्याधि के उपर्युक्त लक्षणों को मानते हैं।

कश्यप[419] ने वातिक कास रोग के लक्षणों का विवेचन तो नहीं किया, लेकिन उपचार को अवश्य वर्णित किया है- रोगी को काकड़ाशृङ्गी, शरट, भारङ्गी तथा पिप्पली इन सभी के चूर्ण को बिजौरे नीम्बू के रस में मिलाकर बनाया गया अवलेह खाने के लिए देना चाहिए। जिससे शीघ्र ही वातज कास रोग का शमन होता है।

चरक[420] ने वातज कासव्याधि से आक्रान्त रोगी के उपचार बताया है- यदि रोगी रूक्ष प्रकृतिवाला हो तो वैद्य द्वारा इसका उपचार सर्वप्रथम स्नेहकर्म द्वारा करना चाहिए। रोगी को घी से स्नेहन तथा बस्ति कर्म, पेया, यूष, मांसरस, वातघ्न औषधियों से सिद्ध घी-तैल का सेवन, धूम्रपान, अवलेह सेवन, अभ्यङ्ग और परिषेक युक्तिपूर्वक करना चाहिए। स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए। यदि उसका स्नेह के प्रयोग से मल अथवा अपान वायु अवरुद्ध हो गया है तो ऐसी परिस्थिति में वैद्य बस्ति का उपयोग करके अवरोध को दूर करे। जब रोगी का पित्तानुबन्ध हो तथा कण्ठ, मुखादि सूख रहा हो तो भोजन के उपरान्त सेवनीय घी के प्रयोग से वैद्यक उपचार करें। इस प्रकार रोगी को यदि कफानुबन्ध हो तो वैद्य स्नेहयुक्त विरेचन कर्म से उपचार करें। इसके साथ ही रोगी को कण्टकारी घी, पिप्पल्यादि घी, त्र्यूषणाद्य घी, रास्ना घी आदि में से किसी एक घी का सेवन करना चाहिए। अथवा उसे शट्यादि चूर्ण, द्विक्षारादि चूर्ण, दुःस्पर्शादि चूर्ण, विडंगादि चूर्ण एवं विडंगादि अवलेह, चित्रकादि अवलेह आदि का सेवन कराना चाहिए।

चरकसंहिता[421] के अनुसार वातज कास के शमनोपरान्त पीड़िता गर्भिणी को पथ्य आहार लेना चाहिए- रोगी को अगहनी या साठी चावल या जौ या गेहूँ का भात और रोटी

---

[418] *सु०सं०*,उ० 52/8 ; *अ०हृ०*, नि० 3/22-23

[419] *का०सं०*, खि० 10/131

[420] *च० सं०*, चि० 18/32-34

[421] *च० सं०*, चि० 18/76,81-82

को ग्रामीण, जंगली अथवा जलीय पशु-पक्षी के मांसरस के साथ या उड़द के साथ भोजन देना चाहिए। उसे दशमूल एवं मांस पेया पिलाना चाहिए। वातज कास से पीड़ित रोगी के लिए बथुए का साग, मकोय का साग, मूली का साग, चौपतिए का साग, दूध, गन्ने का रस, गुड़ निर्मित पदार्थ, दही, कांजी, अनारादि खट्टे फल एवं नमकयुक्त पदार्थों का सेवन हितकारी है।

सुश्रुत[422] वातज कास रोगी को विरेचन आदि देने के लिए कहते हैं- इस कास व्याधि में एरण्डस्नेह का विरेचन देना लाभदायक है। इस प्रकार आस्थापन तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग भी हितकर है। मधूच्छिष्ट सर्जरस वसादि द्वारा निर्मित स्नैहिक धूम का सेवन पीड़िता के लिए हितकारी है। रोगी को गुनगुने घी का सेवन कराना चाहिए। रोगी को मांसरस में सिद्ध यवागू, द्रव्यसिद्ध दूध एवं अवलेह देने से वातज कास रोग शान्त होता है। इन सभी में से किसी एक सिद्धयोग का प्रयोग करना चाहिए। इसके उपरान्त रोगी के बलानुसार अवलेह, यवागू का सेवन कराना उपयुक्त है।

वाग्भट[423] ने वातज कास रोग में सर्वप्रथम वातनाशक द्रव्यों का काढ़ा तथा कल्क निर्मित स्नेहों से युक्त रोगी का उपचार बताया है। रोगी को स्नेह मिश्रित पेया, यूष एवं मांसरस अथवा शाकरस के साथ भोजन देना चाहिए। यदि रोगी का मल या अपानवायु अवरुद्ध हो गए हों, तो उस अवस्था में अनुवासन एवं निरुहण बस्ति देनी चाहिए। रोगी को यवक्षारादि घी, रास्नादि घी, विदार्यादि घी एवं विडंगादि चूर्ण का सेवन वातज कास में लाभप्रद है। अथवा रोगी को जवासा, सोंठ, कचूर, मुनक्का एवं मिश्री का चूर्ण अथवा काकड़ासिङ्गी का चूर्ण, तिलतैल सहित सेवन करें। या दूध में तिल डालकर पकाई गई पेया को नमक सहित रोगी को पिलाएँ। या मछली, मुर्गा, सूअर के मांसरस में पकाई गई पेया में घी तथा नमक के साथ पिलाएँ। या दूध की खीर, मलाई, गुड़ अथवा गन्ने का रस डालकर बनाये गये तेल के मालपुए रोगी को खिलाना चाहिए। अतः वाग्भट के द्वारा बताई गई सिद्ध औषधियों में से कोई भी औषधी का सेवन तथा पथ्य आहार ग्रहण कराना लाभप्रद है।

---

[422] *सु०सं०*, उ० 52/27

[423] *अ० हृ०*, चि० 3/1-2,13,22,24

3.7.4 पित्तज कासव्याधि का निदान एवं शमन :- जब मनुष्य अधिक कड़वे पदार्थ, अत्यधिक गर्म, अधिक खट्टे एवं क्षार वाले पदार्थों का सेवन, क्रोध, सूर्य की धूप और आग के ताप का अधिक प्रयोग करता है, तब इन कारणों से पित्तदोष कुपित होता हुआ कासव्याधि को पैदा करता है। चरक[424] ने पित्तज कास व्याधि के कारणों को बताते हुए कहा है कि यदि रोगी के थूकने पर पीला कफ आ रहा हो, आँखें पीली दिखाई दे रही हो, मुख में तीखापन हो, छाती में धुँआ उठने जैसा प्रतीत हो, अधिक प्यास, जलन, बेहोशी, भोजन में अरुचि, चक्कर आना, खाँसने पर वेग का लगातार बने रहना, आकाश में तारे दिखना आदि उपरोक्त लक्षण दिखाई दे तो रोगी को पित्तज कास रोग से युक्त समझना चाहिए। सुश्रुत एवं वाग्भट[425] पित्तजकास रोग के उपरोक्त लक्षण माने हैं एवं इसके साथ ही इन्होंने ज्वर के होने से भी पित्तज कास रोग को स्वीकार किया है।

काश्यपसंहिता[426] में पित्तज कासव्याधि के कारणों का वर्णन नहीं मिलता, लेकिन चिकित्सा का विवेचन अवश्य मिलता है- रोगी को मुलहठी, गोक्षीरी, पिप्पली एवं शर्करा इन सभी द्रव्यों के चूर्ण को मुनक्के तथा शहद के साथ पीसकर बनाए हुए अवलेह का सेवन कराना चाहिए, जिसका नित्य सेवन करने से रोगी स्वस्थ होता है।

चरक[427] पित्तज कासव्याधि से आक्रान्त रोगी को सर्वप्रथम वमन एवं विरेचन कराने के लिए कहते हैं- यदि पीड़िता को कफयुक्त पित्तज-कास आए तो उसे वमनकारक औषधियों से सिद्ध किया हुआ घी का सेवन कराने के बाद वमन कराना चाहिए या मदनफल, गम्भार एवं मुलहटी का काढ़ा पिलाकर वमन कराना चाहिए अथवा मदनफल, मुलहठी के समभाग चूर्ण को विदारीकन्द एवं गन्ने के रस में घोलकर रोगी को पिलाकर वमन करवाना चाहिए। जब वमन कराने से पित्त दोष बाहर निकल जाए, उसके बाद रोगी को शीतल और मधुर पदार्थ भोजनरूप में देना चाहिए।

---

424 *च० सं०*, चि० 18/15-16

425 *सु०सं०*, उ० 52/9 ; *अ०हृ०*, नि० 3/25

426 मधूलिका तु गोक्षीरी पिप्पली शर्करा तथा। द्राक्षाक्षौद्रसमायुक्तो लेहो वै पित्तकासहा॥ *का०सं०*, खि० 10/132

427 *च०सं०*, चि० 18/83-85

जब पित्तज कास में कफ पतला एवं कम हो, तो निशोथ चूर्ण को चीनी के साथ रोगी को खिलाएँ। जब पित्तज कास में कफ गाढ़ा और अधिक हो, तो तिक्तरस वाले पदार्थों सहित निशोथ चूर्ण को विरेचन हेतु दें। रोगी को शर्करादि एवं मृद्वीकादि अवलेह, त्वगादि अवलेह, पिप्पल्यादि अवलेह में से किसी एक अवलेह का सेवन करवाएँ।

पित्तज कास के पीड़िता को पथ्य में सावाँ, जौ और कोदो का भात-रोटी, जंगली पशु-पक्षियों के मधुर मांस रस से युक्त या मूँग आदि के यूषों और तिक्तरस वाले शाकों के साथ सेवन करवाएँ। इसलिए सभी द्रव्यों का प्रयोग यथोचित मात्रापूर्वक करना चाहिए। यदि पित्तज कास में कफ गाढ़ा निकलता हो, तो तिक्तरस से युक्त पदार्थों से बनाए गए अवलेहों को शहद मिलाकर खिलाना चाहिए तथा शालि चावलों का भात देना चाहिए। यदि कफ पतला आ रहा हो, तब जंगल में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस सहित साठी चावलों का भात खिलाना चाहिए। पीड़िता को शर्बत, मुनक्के का रस, गन्ने का रस, दूध तथा अन्य मीठे एवं ठण्डे और विदाह न पैदा करने वाले पदार्थ पिलाना चाहिए[428] तथा साथ ही उसे शरादि क्षीरपाक, स्थिरादि क्षीरपाक का सेवन कराना चाहिए।

सुश्रुत[429] ने पित्तज कास का वर्णन क्षयज एवं क्षतज चिकित्सा के साथ ही किया है। इसलिए पित्तज कास का उपचार स्वतंत्र रूप से नहीं किया गया। विदारीगन्धादि, शारीवादि, उत्पलादि और काकोल्यादिगण की औषधियों का पृथक-पृथक क्वाथ बना लेना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक गण का क्वाथ एक- एक प्रस्थ लेकर, घी एक प्रस्थ, गन्ने का रस, जल और दूध एक-एक प्रस्थ, काकोल्यादि द्रव्यों का चूर्ण डालकर घी में पकाना चाहिए। इसमें शक्कर मिलाकर प्रातःकाल १०-२० ग्राम माप में दें। यदि इसका प्रतिदिन सेवन किया जाए तो व्याधि का शमन शीघ्र हो जाता है। अथवा आँवले के चूर्ण को घी में पकाकर रोगी को देने से पित्तज कास का शमन हो जाता है। *अष्टाङ्गहृदय*[430] में भी पित्तज कास रोग की चिकित्सा में चरक द्वारा कथित उपचार एवं सद्वृत्त को माना गया है।

---

[428] *च०सं०*, चि० 18/96-98

[429] *सु० सं०*, उ० 52/32-33,36

[430] *अ०हृ०*, चि० 3/26-28, 32-34

3.7.5 कफज कासव्याधि का निदान एवं शमन :- जब मनुष्य कफदोष को बढ़ाने वाले गुरु पदार्थ, अभिष्यन्दी पदार्थ, मधुर एवं चिकने पदार्थों के सेवन से, दिन में सोने से एवं किसी भी प्रकार का परिश्रम नहीं करने से कफ वायु के मार्ग को अवरुद्ध करता है, जिससे कफज कास रोग पैदा होता है। चरक[431] ने कफजकास आमय के कारणों के विषय में कहा है कि- जब रोगी की जठराग्नि मन्द, भोजन में अरुचि, वमन, सर्दी-जुकाम, बारम्बार थूक आना, शरीर में गुरुता, रोमाञ्च, मुख में मीठापन, क्लिन्नता एवं थकावट अनुभव करता है। वह अधिक मात्रा में मधुर, चिकने एवं गाढ़े कफ को बारम्बार थूकता रहता है। उसकी छाती में खाँसते समय दर्द नहीं होता, परन्तु उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी छाती कफ से भरी हुई है, तब वह कफजकास व्याधि से ग्रस्त होता है। सुश्रुत एवं वाग्भट[432] भी कफज कास व्याधि के उपर्युक्त लक्षण मानते हैं।

काश्यपसंहिता में कफज रोग के लक्षणों का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु कफज व्याधि के उपचार का वर्णन अवश्य मिलता है- जब रोगी कफज कास व्याधि से आक्रान्त होता है तब उसे पिप्पली, त्रिफला, रास्ना एवं भद्रदारु चूर्ण को शहद सहित सेवन करानी चाहिए। यह कफज कास से पीड़ित गर्भिणी के लिए उत्तम अवलेह है।

"पिप्पल्यस्त्रिफला रास्ना भद्रदारुसमाक्षिकम्। श्लेष्मकासहरो लेहः कुशलैः परिकीर्तितः॥"[433]

चरक[434] ने कफज कास से पीड़ित रोगी को सर्वप्रथम शक्ति अनुसार वमन कराने के लिए कहा है। उसके बाद यव, कड़वे, रूखे, उष्ण एवं कफजहर आहार-विहारों का सेवन कराएँ। रोगी को पीपड़ के चूर्ण तथा जवाखार मिश्रित कुलथी का यूष अथवा सूखी मूली के यूष के साथ या जंगली पशु-पक्षियों के कटुरस से युक्त मांसरस के साथ अथवा तिल, सरसों एवं बेलगिरि का कल्क डालकर पकाए गए तेल एवं घी के साथ जौ आदि खिलाना चाहिए। उसे शहद, अनार का रस या नीम्बू का शर्बत, गर्म जल, मट्ठा मिलाकर पीने के लिए देना

---

431 *च०सं०*, चि० 18/18-19

432 *सु०सं०*, उ० 52/10 ; *अ०हृ०*, नि० 3/26

433 *का०सं०*, खि० 10/133

434 *च० सं०*, चि० 18/109-110

चाहिए। उसे पौषकरादि शीतकषाय, कट्फलादि क्वाथ, पाठादि पेय, नागरादि पेय, सौवर्चलादि चूर्ण, दशमूलादि घी, कण्टकारी घी, कुलत्थादि घी में से किसी एक का सेवन कराना चाहिए।

सुश्रुत[435] ने कफज कास रोग में वमन, विरेचन एवं शिरोविरेचन करने के लिए कहा है। रोगी को सोंठ, विडलवण, मरिच, पाठा, पीपल, विडंग, सेंधानमक, गोखरू, रास्ना, चित्रक, बला, काकड़ासिङ्गी, वच, नागरमोथा, देवदारु, हरड़, दुरालभा और कचूर इन द्रव्यों को बराबर माप में लेकर एवं कूटकर कल्क बना लेना चाहिए। तत्पश्चात् कण्टकारी स्वरस में घृत सिद्ध करें एवं इस सिद्ध घृत को रोगी सेवन करें।

वाग्भट[436] ने कफज कास रोगी के लिए सर्वप्रथम देवदारु की लकड़ी से निकला हुआ स्नेह पीने के लिए कहा है। इस द्रव में सोंठ, मरिच, पिप्पली एवं जोखार का चूर्ण मिला लें। तत्पश्चात् रोगी को वमन-विरेचन एवं शिरोविरेचन कराएँ। इससे पीड़िता को दशमूल के क्वाथ का रस, गर्म जल, मधुर शराब अथवा शहद मिला हुआ जल पिलाएँ। इसमें सोंठ, बहेड़ा पिप्पली, पिप्पलीमूल द्रव्यों का चूर्ण अथवा मोर, मुर्गे के पंखों की काली भस्म एवं जोखार अथवा इन्द्रायण, पिप्पलामूल, निशोथ का चूर्ण इन सभी योगों को अलग-अलग शहद के साथ रोगी को सेवन कराएँ। उपरोक्त प्रकार से प्रतिदिन रोगी को दी गई औषधी कफज कास रोग का शमन करती है तथा उसे पूर्णतया स्वस्थ बनाती है।

अथर्ववेद में तीनों दोषों के कुपित होने पर उत्पन्न हुई कास व्याधि के विषय में वर्णित है कि- **"मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां पर्वतांश्च॥"**[437] अर्थात् सिरोवेदना व्याधि तथा वात दोष से उत्पन्न, पित्त से उत्पन्न एवं कफ से उत्पन्न जो खाँसी है, वह रोगी के सारे शरीर में फैलती है। अतः उस रोगी को वनस्पतियों और पर्वतीय क्षेत्रों में भ्रमण करना चाहिए। अतः उसे पर्वतों में निवास करने से शान्ति मिलती है। पर्वतीय क्षेत्रों में रहने पर गीली खाँसी दूर होती है। श्वास की गति बढ़ने और भूख अधिक लगने से कफ का पाचन एवं शोधन हो जाता है।

---

[435] *सु० सं०*, उ० 52/28-31

[436] *अ० हृ०*, चि० 3/41-42,44,46-47

[437] *अ०वे०* 1/12/3

अथर्ववेद में कास व्याधि का उपचार मन के संकल्प द्वारा करने का वर्णन मिलता है- जिस प्रकार शीघ्रगामी मन जानने योग्य दूर विद्यमान पदार्थों तक जल्दी पहुँच जाता है, उसी प्रकार हे कास ! तुम भी मन के वेग से रोगी को छोड़कर भाग जाओ।[438] अतः संकल्प द्वारा कास व्याधि का शमन किया जा सकता है। सूखी खाँसी में कफ जम जाता है तथा सूख जाता है, जिसके कारण खाँसते समय बहुत कष्ट होता है। उस कष्ट के स्थान पर जहाँ कफ जम गया है और सूखा हुआ प्रतीत होता है वहाँ पर मन को एकाग्र करना चाहिए। जब मन एकाग्र हो जाए और वह कष्ट का स्थान मन की पकड़ में आ जाए तब मन में जमे हुए कफ को ढ़ीला करने, उसे वहाँ से निकालने का संकल्प करना चाहिए। मन शरीर की विद्युत शक्ति है, वह उस जमे हुए कफ एवं शोथ को पिघला कर ढ़ीला कर देता है।

अथर्ववेद में कास के रोगी को रेह की मिट्टी देने से भी शान्ति मिलती है, ऐसा कहा गया है- जिस प्रकार तीक्ष्ण बाण दूर जाकर भूमि पर गिर जाता है, उसी प्रकार तुम भी अति वेग से भूमि के अन्य स्थल पर चले जाओ।[439] वस्तुतः रेह पृथिवी का क्षार या लवण है, क्षार सूखे, जमे कफ को कोमल बनाकर शरीर से निःसरित कर देता है। अतः रेह से जमी हुई कफ घुलकर निकल जाती है और सूखी खाँसी से रोगी को शान्ति मिलती है।

इसके उपचार में समुद्रफेन औषध का प्रयोग भी बताया गया है- जैसे सूर्य की किरणें शीघ्र ही दूर स्थान पर पहुँचती है वैसे ही तुम इसे छोड़ कर समुद्र के विविध प्रवाहों वाले प्रदेश में चले जाओ।[440] अतः समुद्रफेन से कफ घुलकर दूर हो जाने से सूखी खाँसी में शान्ति मिलती है। इस प्रकार *अथर्ववेद* में कासव्याधि के उपचार में मन का संकल्प, रेह मिट्टी एवं समुद्रफेन औषध का प्रयोग बताया गया है।

3.7.6 क्षतज कासव्याधि का निदान एवं शमन :- कभी-कभी मनुष्य अपनी क्षमता से अधिक कार्य अर्थात् अधिक भार ढ़ोने, अधिक पैदल चलने, अपने से अधिक बलवान् मनुष्य से लड़ने, अधिक मैथुन करता है, जिससे रूक्ष शरीर वाले मनुष्य के उरःप्रदेश में क्षत हो जाता है। उस क्षत स्थान में प्रविष्ट होकर वायु कासव्याधि को उत्पन्न करती है। इस प्रकार के कारणों से हुए

---

[438] यथा मनो मनस्के तैः परापत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम्। *अ०वे०* 6/105/1

[439] *अ०वे०* 6/105/2

[440] *अ०वे०* 6/105/3

कास रोग से पीड़ित मनुष्य में अधोलिखित कारण दिखाई देते हैं- सूखी खाँसी, रक्तमिश्रित कफ, कण्ठ में दर्द, छाती में दर्द, सूइयों जैसी चुभने की वेदना, जहाँ वेदना होती है वह स्पर्श असह्य होता है, शरीर टूटना, छाती में सन्ताप, जोड़ों में टूटने जैसी पीड़ा, ज्वर, श्वास, अधिक प्यास, स्वरभेद हो जाता है। इसमें रोगी कबूतर के समान कूँ-कूँ की ध्वनि के साथ खाँसता रहता है।[441] सुश्रुत एवं वाग्भट[442] ने क्षतज कास व्याधि के उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किए हैं।

काश्यपसंहिता में केवल क्षतज कास व्याधि के उपचार का वर्णन मिलता है- **"मधुकं शङ्खचूर्णं च जीवलाक्षाऽथ माक्षिकम्। लेहः शर्करया युक्तः क्षतकासविनाशनः॥"**[443] अर्थात् १. क्षतज कास से पीड़ित रोगी को मुलहठी, शंखपुष्पी, पीपल की लाख, शहद एवं चीनी इन सभी का अवलेह बनाकर देना चाहिए, जिसके सेवन से रोगी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है। चरक ने इस रोग को विनाशकारी रोग माना है। अतः इसका मधुर एवं जीवनीय वर्ग, बल-मांसवर्धक औषध, आहार, विहारों से उपचार करना चाहिए। इससे पीड़ित रोगी की सर्वप्रथम पित्तज कास में कही गई चिकित्सानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। इसमें दूध, घी एवं शहद का अधिकांशतः सेवन करना चाहिए। २. जब दो दोषों का संसर्ग हो, तब अन्य पदार्थों का सेवन भी रोगी द्वारा करनी चाहिए। जैसे- जब पीड़िता वात-पित्तज व्याधि से ग्रस्त हो और उसके शरीरांगों में टूटने जैसी पीड़ा हो, तब उसकी मालिश करनी चाहिए। ३. यदि रोगी को वातजन्य वेदना हो, उस अवस्था में वातनाशक तैलों का प्रयोग करना चाहिए। ४. यदि रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो और वह जलन के साथ-साथ रक्त थूकता हो एवं उसके हृदय, पसलियों में पीड़ा हो रही हो, तब उसे जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध किया हुआ घी का सेवन कराना चाहिए। ५. यदि रोगी मांस खाते हो, शारीरिक रूप से दुर्बल हो, तो

---

[441] *च०सं०*, चि० 18/39-42

[442] *सु०सं०*, उ० 52/11-12 ; *अ०हृ०*,नि० 3/27-31

[443] *का०सं०*, खि० 10/134

उसे लावा आदि पक्षियों का मांस खिलाना चाहिए[444] तथा साथ ही रोगी को घी का सेवन, धूम्रपान भी कराया जा सकता है।

सुश्रुत[445] क्षयज और क्षतज कास व्याधि के उपचार का एकसाथ वर्णन करते हैं- विदारीगन्धादि, शारीवादि. उत्पलादि और काकोल्यादिगण की औषधियों का अलग-अलग काढ़ा बना लेना चाहिए। प्रत्येक गण के काढ़े का एक प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, गन्ने का रस, जल और दूध एक प्रस्थ, काकोल्यादि गण औषधियों के द्रव्यों का कल्क डालकर घी को पकाना चाहिए। इस घी में शक्कर मिलाकर १०-२० ग्राम प्रातःकाल पिलाना चाहिए। यह घी बढ़े हुए क्षयज और क्षतज कास रोग में लाभप्रद है। अथवा मंजीठ, हल्दी, सौविरांजन, चित्रक, पाठा, मूर्वा और पिप्पली इनको बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना ले। इस चूर्ण को शहदसहित या इक्षुरस में घी मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए।

जब रोगी उरःक्षतज कास व्याधि से पीड़ित हो, तब उसे इक्षुवालिका, कमलनाल की गाँठ, कमल का केसर, सफेद चन्दन इन द्रव्यों को डालकर पकाए गए दूध में शहद मिलाकर पिलाएँ। उसे भोजन के रूप में शालिचावल के भात को दूध-चीनी के साथ खिलाएँ। अथवा उसे लाख को पीसकर मात्रा के अनुसार शहद मिलाकर सेवन कराना चाहिए, उसके रोगी को दूध पिलाएँ।[446]

3.7.7 क्षयज कासव्याधि का निदान एवं शमन :- जो मनुष्य खाने वाले पदार्थों से घृणा करता है, चिन्तित रहता है, वे विषम और प्रतिकूल भोजन करता है, अधिक सहवास करता है, मल-मूत्र को अवरुद्ध करता है तो इन कारणों से उसकी जठराग्नि विकृत हो जाती है, जिसके कारण तीनों दोषों के कुपित होने पर क्षयज कास व्याधि का प्रादुर्भाव होता है। चरक ने क्षयज कास व्याधि के कारणों को लक्षित करते हुए कहा है कि- उसका कफ दुर्गन्धित, हरे वर्ण का या लाल वर्ण का और पूय के समान होता है। खाँसते समय उसे हृदय अपने स्थान से खिसका हुआ प्रतीत होता है। उसे अकारण ही गर्मी एवं सर्दी अनुभव होती है। वह अधिक

---

444 *च०सं०*, चि० 18/138-141

445 *सु०सं०*, उ० 52/32-33,35

446 *अ०हृ०*, चि० 3/76,731

मात्रा में भोजन करने के बाद भी कमजोर एवं दुबला रहता है। उसके हाथ, पैर के तालु चिकने हो जाते हैं। वह सदा सभी वस्तुओं, पुरुषों में दोष निकालता है। सभी पदार्थों से घृणा करता है एवं उसे कभी गाढ़ा, कभी पतला मल आता है।[447] अतः इन कारणों से चिकित्सक को यह ज्ञात हो जाता है कि यह क्षयज कास व्याधि से ग्रस्त है। सुश्रुत एवं वाग्भट ने क्षयज कास रोग के पूर्वोक्त लक्षण[448] स्वीकार किए हैं।

वैद्य को रोगी की शक्ति के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् यदि रोगी दुर्बल हो और उसमें क्षयज कास व्याधि के सभी लक्षण विद्यमान हो तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, यदि रोगी बलयुक्त हो और क्षयज कास रोग नया-नया उत्पन्न पैदा हुआ हो तो उसकी चिकित्सा अभिभावक के आग्रह पर ही करनी चाहिए। नूतन क्षयज कास रोगी की सर्वप्रथम बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। पीड़िता की जठराग्नि को प्रज्वलित करने के लिए दीपन औषधियों का सेवन कराना चाहिए। यदि रोगी में बहुदोष लक्षण दिखाई दे रहे हो तब उसे स्नेह के साथ मृदु विरेचन औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए।[449] यदि क्षयज कास के रोगी के पित्त तथा कफदोष क्षीण अवस्था में हो और इसके साथ-साथ रस-रक्तादि धातुएँ क्षीण हों, तो रोगी को काकाड़ासिंगी, बरियार और गंगेरण के चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण दूध डालकर सिद्ध किए हुए घी का सेवन करवानी चाहिए। यदि उसके मूत्र में लालिमा हो और मूत्र कठिनता से निकल रहा हो तो इस अवस्था में रोगी को विदारीकण, कदम्ब पुष्प और ताड़ के फूल का कल्क और चार गुना दूध डालकर सिद्ध किया हुआ घी सेवन करानी चाहिए। अथवा इन्हीं द्रव्यों से क्षीरपाक विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पीने के लिए देना चाहिए। यदि रोगी के मूत्रेन्द्रिय, गुदा, श्रोणिमण्डल एवं वंक्षण में सूजन और पीड़ा हो, उसे पतले घी में शहद मिलाकर अथवा घी और तिल का तैल मिलाकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। उसे द्विपञ्चमूलादि घृत, गुडूच्यादि घी, कासमर्यादि घी एवं हरीतकी अवलेह, द्राक्षादि अवलेह, त्रिकटु अवलेह, चित्रकादि अवलेह, पद्मकादि अवलेह तथा जीवन्त्यादि अवलेह में से किसी एक का सेवन कराना चाहिए।[450]

---

[447] *च०सं०*, चि० 18/25-28

[448] *सु०सं०*, उ० 52/12 ; *अ०हृ०*, नि० 3/32-35

[449] *च०सं०*, चि० 18/150

[450] *च० सं०*, चि० 18/153-155

वाग्भट[451] ने क्षयज कास रोगी की जठराग्नि को दीप्त करने का निर्देश दिया है। यदि रोगी के शरीर में दोष अधिक संचित हो गए हों तो स्नेह से युक्त मृदु विरेचन देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त क्षयज कास रोगी की चरकोक्त चिकित्सा करें। इस प्रकार क्षयज रोगी की यदि आयुर्वेदानुसार चिकित्सा की जाए, तो वह शीघ्र ही पूर्णतया स्वस्थ हो जाएगा।

3.8.1 उदावर्त रोग का परिचय :- उदावर्त दो शब्दों से निर्मित है- उद् एवं आवर्त। उद् का अर्थ है ऊपर या बाहर एवं आवर्त का अर्थ है- चक्कर, बवण्डर, भँव, तूफान आदि। जैसे पर्यावरण में वायु अधिक प्रकुपित होकर आँधी-तूफान का रूप धारण करती है, वैसे ही शरीर के अन्दर की वायु भी कुपित होकर शरीर को हानि पहुँचाती है। वस्तुतः यह शरीर की सभी क्रियाओं को संचालित करती है। अतः कुपित होने से शरीर की समस्त क्रियाएँ अव्यवस्थित हो जाती है। इस रोग में अपानवायु विशेषरूप से दूषित हो जाती है। अपानवायु मुख्यतया गुदामार्ग में रहती है और श्रोणि, बस्ति, मेहन और ऊर्ध्व जंघा में विचरती है। यह शुक्र, आर्तव एवं गर्भ को निःसरित कर देती है। वस्तुतः इसकी गति नीचे की ओर होती है। परन्तु विकृत हो जाने पर यह विपरीत दिशा में गति करने लगता है। उदावर्त रोग में इसके विकृत होने के कारण नीचे न जाकर ऊपर की ओर जाने लगता है। अतः शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र एवं गर्भ के स्वाभाविक मार्ग में अवरोध हो जाता है तथा उसमें बाधा पड़ने लगती है।

3.8.2 उदावर्त रोग का निदान एवं लक्षण :- चरक[452] ने उदावर्त रोग के कारणों में कषाय, तिक्त, कटु एवं रूक्ष आदि को प्रमुख कारण माना है- जब गर्भिणी कसैले पदार्थ, तीखे पदार्थ एवं कटु पदार्थों का अधिक सेवन करती है, रूक्ष पदार्थों के खाने से, वेगों को रोकने से, उपवास करने से एवं मैथुनकर्म करने से अपानवायु कुपित हो जाती है, तब यह अपानवायु बलवती होकर अधोगामी होकर मल-मूत्र की प्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न कर देती है, जिससे उदावर्त व्याधि की उत्पत्ति होती है।

चरक[453] के अनुसार इस व्याधि के विविध लक्षण रोगी में मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसे उदावर्त रोग हो गया है- रोगी के हृदय, कुक्षि, उदर, पृष्ठ

---

[451] *अ० हृ०*, चि० 3/151-156

[452] *च०सं०*, चि० 26/5

[453] *च०सं०*, चि० 26/6-7

और पार्श्वों में अत्यधिक पीड़ा होती है। रोगी के पेट में वायु भर जाती है, बारम्बार थूकता है, गुदा में कैंची के काटने के समान पीड़ा, सुई चुभने जैसी पीड़ा, अजीर्ण भोजन, मूत्राशय में सूजन, मल का न निकलना, पेट में मल की गांठ बनना, गुदा में अपानवायु के अवरोध से वायु का ऊपर की ओर जाना, कठिनाई के साथ देर से सूखे मल का निकलना तथा रोगी का शरीर खर, रूक्ष एवं शीतल हो जाता है। चरक ने अन्यत्रस्थान पर उदावर्त रोग को अष्टम मास में होने वाला रोग स्वीकार किया है एवं इसमें गर्भिणी का मल अवरुद्ध हो जाता है।

यदि प्रथम अवस्था में इसे अनदेखा कर दिया जाए तो इसके कारण गर्भसहित गर्भिणी या केवल गर्भ की मृत्यु भी हो सकती है- **"यस्याः पुनरुदावर्तविबन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासनसाध्यं मन्येत ततस्तस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपल्पयेन्निरूहम्। उदावर्ती ह्युपेक्षितः सहसा गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत्।"**[454]

सुश्रुतसंहिता में उदावर्त की निरुक्ति बताते हुए कहा गया है कि वात, मल, मूत्र, जम्भाई, आँसू, छींक, डकार, उल्टी और शुक्र इन वेगों को रोकने तथा भूख, प्यास, साँस, नींद को रोकने के कारण दोष ऊर्ध्वगति करते हैं, जिससे उदावर्त रोग का प्रादुर्भाव होता है-

"वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते॥

क्षुत्तृष्णाश्वासनिद्रामुदावर्ती विधारणात्।"[455]

वाग्भट एवं कश्यप ने उदावर्त रोग के लक्षणों का वर्णन नहीं किया है। *अथर्ववेद* में भी उदावर्त व्याधि का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। *माधवनिदान*[456] में उदावर्त रोग के उपर्युक्त कारण स्वीकृत किए गए हैं। अतः इसका मुख्य कारण वातदोष के कुपित होने पर ऊर्ध्वगति में वायु का पहुँचना एवं मल-मूत्र के वेगों का अवरुद्ध होना है।

3.8.3 उदावर्त व्याधि का उपचार :- सर्वप्रथम इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। यदि अनुवासन बस्ति से रोगी को आराम न मिले, तब उसे निरूहण

---

[454] *च०सं०*, शा० 8/29 ; उदावर्तो हि समुपेक्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीमतिपातयेत्॥ *अ०सं०*, शा० 4/26

[455] *सु०सं०*, उ० 55/4

[456] *मा०नि०*, 27/1, 13-16

बस्ति देनी चाहिए, क्योंकि यदि वैद्य द्वारा इसकी उपेक्षा की जाती है तो बढ़े हुए वायु द्वारा अचानक गर्भसहित गर्भवती स्त्री की या केवल गर्भ की मृत्यु हो सकती है। अतः रोगी को खश, साठी चावल, शाली धान, कुश, सरपत, गन्ना, बेंत और जलबेंत की जड़ें देनी चाहिए।

उसमें गन्धतृण, अनन्तमूल, गम्भार का फल, फालसे का पुष्प, मुलहठी एवं मुनक्का को लेकर आधे जल मिले हुए दूध में काढ़ा बनाकर चिरौंजी, बहेड़े की छाल, तिल का कल्क मिलाकर तथा थोड़ा-सा नमक मिलाकर हल्का गर्म कर लेना चाहिए। तब उसे मथानी में मथकर एकरस बनाकर निरूहबस्ति देनी चाहिए। तदुपरान्त मल का विबन्ध दूर हो जाने के बाद, उसे गुनगुने जल से स्नान करवाना चाहिए। तत्पश्चात् उसकी गर्भपुष्टि करने के लिए एवं जलन न पैदा करने वाले आहार का सेवन करवाना चाहिए। उसके बाद सायंकाल में मुलेठी से सिद्ध किए हुए तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। उसको उल्टा लिटाकर निरूहण या अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।[457] अतः उदावर्त रोग में अनुवासन एवं निरूहण बस्ति ही अधिक लाभप्रद है, जिसके प्रयोग करने से रोगी को शीघ्र आराम मिलता है। वाग्भटद्वय[458] ने इससे पीड़ित रोगी को स्नेह पान एवं रोगनाशक बस्तियों का प्रयोग शीघ्रातिशीघ्र करने के लिए कहा है।

सुश्रुत ने इस रोग में वायु को अपने स्थान पर लाने के लिए यथाविधि स्नेहन, स्वेदनादि कर्म कराने के लिए कहा है। जब गर्भिणी का पुरीष (मल) अवरुद्ध हो जाए, तब फलवर्त्यादिक वातव्याधि में कथित या विसूचिका में बताई गई विधि का प्रयोग करना चाहिए। गर्भिणी को इस परिस्थिति में निम्नोक्त औषध योगों[459] के अन्तर्गत किसी एक का सेवन करना चाहिए-

- शराब में सौंचरनमक को उचित माप में मिलाकर पिलाएँ।
- शराब में इलायची का चूर्ण मिलाकर पिलाएँ।
- शराब में दूध मिलाकर पिलाएँ।
- आँवले के रस में जल मिलाकर तीन दिनों तक पिलाते रहें।
- मांस खिलाने के उपरान्त शहद सेवन के लिए दें।

---

[457] *च०सं०*, शा० 8/26

[458] *अ०सं०*, शा० 4/25-26 ; *अ०हृ०*, शा० 2/21

[459] *सु०सं०*, उ० 55/21-25

- गौडिक सीधु का पान कराना चाहिए।
- दुरालभा का स्वरस पिलाएँ।
- केसर का कषाय पिलाएँ।
- ककड़ी के बीजों को पानी में पीसकर एवं थोड़ा नमक मिलाकर सेवन कराएँ।
- पंचमूली कषाय सिद्ध दूध का सेवन कराने के लिए दें।
- अनार का रस पीने के लिए दें।

3.8.4 उदावर्त व्याधि में पथ्य आहार-विहार :- इस आमय से पीड़ित रोगी को जौ की रोटी को निशोथ, थूहर और तिल, इन शाकों के पत्तों से या भेड़, बकरी आदि पालतू पशु, मछली आदि एवं जल के समीप रहने वाले जीवों के मांसरस के साथ सेवन कराना चाहिए। इसी प्रकार मल, मूत्र एवं अपान वायु का निःसरण करने वाले पदार्थों के साथ जौ की रोटी भी रोगी को देनी चाहिए। उसे सुरामण्ड, सिरका या गुड़ से निर्मित शराब पिलाएँ। या उसे भोजन के बाद शराब का सेवन कराएँ।[460]

3.9.1 आनाह व्याधि के निदान एवं लक्षण :- *अथर्ववेद* में इस रोग का वर्णन नहीं मिलता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में केवल *सुश्रुतसंहिता* एवं *अष्टांगहृदय* में आनाह व्याधि का वर्णन मिलता है। जब अपक्व अन्नरस या पुरीष का संचय हो जाता है और कुपित वातदोष से विबद्ध होकर अपने पथ में प्रवृत्त नहीं हो पाता, जिससे ऐसी अवस्था में 'आनाह' व्याधि उत्पन्न हो जाती है। सुश्रुत[461] ने आमरस के कारणों को इस प्रकार विवेचित किया है कि- आमदोष के कारण आनाह में अधिक प्यास, प्रतिष्याय, सिर में वेदना, आमाशय में शूल, शरीर में गुरुता, वमन की प्रबलेच्छा एवं डकार का न आना, ये लक्षण गर्भिणी में दिखाई देते हैं। आनाह में रोगी की कमर एवं पीठ सख्त हो जाती है, पुरीष और मूत्र रुक जाता है, मूर्च्छा आती है, वमन में मल आता है या वमन में मल की गन्ध आती है, श्वास एवं आलस्य आदि लक्षण दिखते हैं। वाग्भट ने भी आनाह व्याधि के लक्षणों को लक्षित करते हुए कहा है कि-

"साटोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरे भृशम्। ऊर्ध्वाधोवातरोधेन तमानाहं प्रचक्षते॥"[462]

---

460 *च०सं०*, चि० 26/18

461 *सु०सं०*, उ० 56/21-22

462 *अ०हृ०*, नि० 11/60

अर्थात् जिसमें उदर के अन्दर अत्यधिक पीड़ा के साथ पेट फूल जाता है और जिसमें डकार नहीं आते तथा अपानवायु शरीर से बाहर नहीं निकलती, अपितु अवरुद्ध हो जाती है, उसे आनाह रोग की संज्ञा दी गई है।

3.9.2 आनाह व्याधि का शमन :- इस आमय से आक्रान्त रोगी को वमन द्वारा लंघन करवाकर एवं पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। *चरकसंहिता*[463] में कथित है- विरेचन देने योग्य वात व्याधि में एवं मेद, कफ, पित्त या रक्त के कारण वायु द्वारा मार्ग अवरुद्ध किए जाने पर दूध या मांसरस या त्रिफला क्वाथ या मूँग के यूष या गोमूत्र अथवा रोगी को शराब के साथ एरण्ड तैल पिलानी चाहिए, जिससे उसे शीघ्र आराम मिलता है।

चरक[464] रोगी के बलानुसार एरण्ड तैल का प्रयोग करने के लिए कहते हैं- रोगी के बल का, कोष्ठ का एवं रोग की अवस्था का विचार करके पाँच पल एरण्ड तेल देना चाहिए। जो रोगी दुर्बलावस्था में हो, उन्हें भोजन के साथ एरण्ड तेल का सेवन करवानी चाहिए। अतः इस आमय में चरकानुसार एरण्ड तेल का सेवन रोगी के लिए हितकारी है।

सुश्रुतसंहिता में वर्णित है कि- **"आनाहे हिङ्गुसौवर्चललशुनवचासिद्धम्।"**[465] अर्थात् इस आमय से पीड़ित रोगी को हींग, सौंचर (काला) नमक, लहशुन और वचा से सिद्ध किए हुए दूध का सेवन कराना चाहिए, जिसके सेवन से गर्भिणी को शान्ति मिलती है और कुछ दिनों बाद पूर्णतया रोग समाप्त हो जाता है। भावमिश्र[466] ने इस आमय का उपचार करते हुए सुश्रुत द्वारा उक्त मत को माना है। *अथर्ववेद, अष्टांगहृदय* एवं *काश्यपसंहिता* में आनाह-चिकित्सा का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

अतः तृतीय अध्याय में गर्भवती स्त्री को गर्भकाल के अन्तर्गत होने वाले सामान्य रोगों के निदान एवं उपचार का पर्यालोचन किया गया है। इसमें ज्वर-रक्तपित्त-पाण्डु-कामला-अतिसार-छर्दि एवं कास रोगों का *काश्यपसंहिता* एवं बृहत्त्रयी के अनुसार विवेचन किया

---

[463] *च०सं०*, चि० 26/28-29

[464] *च०सं०*, चि० 26/31

[465] *सु०सं०*, शा० 10/57

[466] पक्वं वचारसोनाभ्यां हिङ्गुसौवर्चलान्वितम्।
आनाहे तु पिबेद् दुग्धं गुर्विणी सुखिनी भवेत्॥ *भा०प्र०*, चि० 70/83 ; *यो०र०*, स्त्री०रो०

गया है। गर्भिणी को गर्भ के नौ मासों के दौरान अनेक विशिष्ट रोग होते हैं, जिन रोगों के निदान एवं लक्षणों का अग्रिम अध्याय में पर्यालोचन किया जाएगा।

चतुर्थ अध्याय

गर्भावस्था एक सामान्य शारीरिक प्रक्रिया है। इस अवस्था में गर्भवती नारी अनेक आमयों से ग्रस्त हो जाती है, जिसमें गर्भावस्था के अन्तर्गत सामान्य एवं विशिष्ट व्याधियाँ शामिल हैं। गर्भावस्था के दौरान गर्भिणी को ज्वर, पाण्डु, कामला, छर्दि, अतिसार एवं कास आदि सामान्य रोग होते हैं, जिन व्याधियों की चिकित्सा पिछले अध्याय में बताई जा चुकी है। इस अवस्था में गर्भिणी को कुछ विशिष्ट रोग भी उत्पन्न होते हैं, जिनके अन्तर्गत गर्भस्राव/गर्भपात, उपविष्टक, नागोदर, लीनगर्भ, मूढ़गर्भ आदि सम्मिलित हैं। अतः इस अध्याय में गर्भवती स्त्री को त्रिविध दोषों से, अपथ्य आहार-विहार के कारण होने वाली विशिष्ट व्याधियों का निदानात्मक पर्यालोचन किया जाएगा।

4.1.1 गर्भस्राव/ गर्भपात का परिचय :- गर्भावस्था के दौरान किसी शारीरिक, बाहरी कारणों से जब नियतावधि से पूर्व गर्भाशय से बाहर गर्भस्थ शिशु निकल जाए, तब उस अवस्था में उसे गर्भपात कहा जाता है। गर्भवती स्त्री के चतुर्थ मास से पूर्व गर्भ द्रवावस्था में बाहर निःसरित होता है, जिसे गर्भस्राव कहते हैं, परन्तु गर्भशरीर के स्थिर हो जाने पर पाँचवे या छठे महीनें में जो गर्भ गिर जाता है, उसे गर्भपात कहते हैं। यदि गर्भिणी के भ्रूण का सातवें मास से लेकर नवें या दसवें मास से पहले प्रसव हो जाए तो उसे अकाल प्रसव कहते हैं। अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान गर्भस्राव को 'Abortion' एवं गर्भपात को 'Miscarriage' कहते हैं- **"The earliest date at which the foetus is considered viable is the 28th week ; the expulsion of the foetus before the 28th week is known as abortion or miscarriage, whereas after date it is spoken of as premature labour. The terms 'Abortion' and 'Miscarriage' are synonymous, although the laity is apt to associate the former with illegal procedures."**[467]

4.1.2 गर्भस्राव/गर्भपात की परिभाषा :- गर्भिणी द्वारा वर्जित आहार-विहार के कारण चतुर्थ मास तक गर्भच्युति होने को गर्भस्राव कहते हैं, क्योंकि इन चार महीनों में गर्भ द्रवरूप में होता है एवं पाँचवे और छठे महीने में गर्भस्थ शिशु का शरीर निर्मित होने के उपरान्त उसके

---

[467] *सु०सं०*, भा०-1, पृ०-522

पतित होने को गर्भपात कहते हैं। आयुर्वेद की संहिताओं में भी गर्भाधान के प्रथम मास से चार मास तक के समय में गर्भ के अकस्मात् गिर जाने को गर्भस्राव कहा गया है-

"आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद् गर्भविच्युतिः। ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः॥"[468]

चरकसंहिता[469] में गर्भस्राव को लक्षित करते हुए कहा गया है कि गर्भवती स्त्री जब अज्ञानतावश वर्जित आहार, विहार अथवा चिकित्सा संबंधित लापरवाही करती है तो उसे प्रथम तीन महीनों में रक्तस्राव होता है तब यह समझ लेना चाहिए कि वर्तमान में इस स्त्री को गर्भस्थिति नहीं रहेगी। *माधवनिदान* के टीकाकार भोज गर्भस्राव का समय तीन मास[470] तक स्वीकार करते हैं। वाग्भट[471] ने भी गर्भवती स्त्री द्वारा निषिद्ध आहार-विहार का प्रयोग करने निःसरित होने वाले रक्तस्राव को गर्भस्राव की संज्ञा दी है।

4.1.3 गर्भस्राव/गर्भपात का निदान :- *अथर्ववेद* में गर्भस्राव/गर्भपात के कारणों का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है। आयुर्वेद की संहिताओं में गर्भस्राव के अनेक कारणों का वर्णन समुपलब्ध होता है। गर्भस्राव के कारणों में गर्भिणी द्वारा बलयुक्त कार्य करना, उछल-कूद से उदर को झटका लगना, गर्भाशय पर झटके का प्रभाव पड़ना आदि कारणों से गर्भाशय के अन्दर रक्तस्राव होने लगता है और दबाब पड़ने से गर्भाशय का मुख खुल जाता है। इन सभी कारणों से गर्भस्थ भ्रूण की मृत्यु हो जाती है और वह द्रवरूप में बाहर निकल जाता है। गर्भवती स्त्री को अत्यधिक परिश्रम तथा अधिक भयादि से भी गर्भ के स्नायुओं में उत्तेजना पैदा हो जाती है, जिससे स्वयमेव गर्भस्राव हो जाता है। इसी प्रकार गर्भिणी द्वारा शराब एवं अन्य मादक द्रव्यों के सेवन से भी गर्भस्राव होता है। चरक गर्भस्राव के हेतुओं को लक्षित करते हुए कहते हैं कि गर्भाशय में गर्भकर भावों का सम्पन्न होना, गर्भ के विकास का हेतु बताया गया है। परन्तु इस हेतु के न मिलने से अथवा इस भाव के विपरीत स्थिति या अल्पदोष होने से गर्भ उदर में ही विनष्ट हो जाते हैं-

---

468 *सु०सं०*, नि० 8/10

469 सा चेदपचारात् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात् ;
अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः॥ *च० सं०*, शा० 8/23

470 आतृतीयात्ततो मासाद्गर्भः स्रवति शोणितम्। ऊर्ध्वं सङ्घातभूतस्तु गर्भः पतति योषिताम्॥
मा० नि० 64/2 पर मधुकोष व्याख्या

471 गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽथ वा। पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले_____॥ *अ०ह्र०*,शा० 2/1 ;
स्त्री चेदापन्नगर्भा परिहार्याण्यासेवेत। तत्र यस्या बस्तिपार्श्वश्रोणियोनिमुखेषु शूलं पुष्पदर्शनं वा स्यात्॥ *अ०सं०*, शा० 4/3

"ये ह्यस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां

विपर्ययादुदरे विनाशमापद्यते, अथवाऽप्यचिरजातः स्यात्॥"[472]

चरक ने अन्यत्र स्थान पर कहा है कि गर्भिणी जब क्रोध, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, ग्लानि, संभोग, अधिक व्यायाम, मल-मूत्र में अवरोध होने से, विषम आहार का सेवन करने, विपरीत सोने, उठने, बैठने, अधिक भूख-प्यास लगने या अधिक तीक्ष्ण पदार्थों का भोजन, अधिक गर्म या दूषित आहार का सेवन करने से गर्भाशय का मुख खुल जाता है, जिसके कारण गर्भिणी को रक्तस्राव होने लगता है।[473]

सुश्रुत[474] ने गर्भस्राव के हेतुओं के विषय में कहा है कि- जिस प्रकार कृमि, वायु या अभिघात के कारण वृक्ष पर लदे हुए फल समय से पूर्व धरती पर गिर जाते हैं, उसी प्रकार गर्भवती स्त्री का गर्भ भी संक्रमण, वातप्रकोप या अभिघात (चोट) के कारण सामान्य प्रसव से पूर्व बाहर निःसरित हो जाता है। इससे भिन्न गर्भिणी को पुत्रघ्नी[475] योनिव्यापद् में अकस्मात् रक्तस्राव होकर बार-बार गर्भ नष्ट होता रहता है। वाग्भट[476] ने भी कहा है कि गर्भिणी तीन मास पूरे होने से पूर्व रक्तस्राव होने पर गर्भ नष्ट हो जाता है।

काश्यपसंहिता[477] में गर्भिणी की आरम्भिक अवस्था से तृतीय मास तक अण्डघ्नी, दुर्धरा, कालरात्रि एवं वश्या जातहारिणियाँ लक्षण गर्भस्राव को ही प्रदर्शित करती है। अतः इन्हें भी गर्भस्राव का निदान स्वीकार करना चाहिए।

गर्भस्राव के स्पष्टतम ज्ञान के लिए सम्पूर्ण निदानों को चार प्रकार से विभाजित कर सकते हैं- १. गर्भजन्य हेतु २. मातृजन्य हेतु ३. पितृजन्य हेतु ४. दैवयोग या अज्ञात हेतु।

---

472 *च० सं०*, शा० 4/29

473 *च० सं०*, शा० 8/24

474 कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्। पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद् गर्भविच्युतिः॥ *सु० सं०*, नि० 8/9

475 *सु० सं०*, उ० 38/13

476 *अ० हृ०*, शा० 2/6

477 *का० सं०*, क० 6/36-39, 49

4.1.4 गर्भजन्य हेतु :- जब माता या पिता के दूषित बीज से उत्पन्न या स्वयं के अन्य हेतुओं से उत्पन्न व्याधियों से ग्रस्त होकर गर्भ गिर जाता है तब गर्भ के गिरने की आयु के आधार पर गर्भजनित हेतुओं को दो प्रकार से विभक्त कर सकते हैं-

(क) गर्भिणी का प्रारम्भिक अवस्था में गर्भस्राव- जब गर्भिणी का गर्भ १० सप्ताह से पूर्व ही निःसरित होता है, जिससे गर्भ की मृत्यु हो जाती है, उसके बाद वह बाहर निकलता है। इसके निम्नोक्त कारण हैं- क्रोमोसोम विशेषतया गुणसूत्रों में विकार, अधिक जन्मजात विकृति एवं गर्भ की अनुपस्थिति।

(ख) गर्भिणी का १० सप्ताह के बाद गर्भस्राव- कभी-कभी गर्भिणी की नाभि-नाड़ी में ग्रन्थि अथवा मरोड़ होने की स्थिति में या आकृति में विकार होने पर गर्भ का पोषण प्रभावित हो जाता है, जिसके कारण भ्रूण नष्ट हो जाता है। तदुपरान्त गर्भ का स्राव होता है।

4.1.5 गर्भस्राव में मातृजन्य हेतु :- गर्भवती स्त्री क्रोध, शोक, निन्दा, असन्तोष, ईर्ष्या, डर, मानसिक सन्ताप, अत्यधिक मैथुन एवं व्यायाम, लम्बी यात्रा करना, पैदल चलना, ठोकर खाना या ऊँचे स्थान से गिर जाना, अत्यधिक दबाने, दौड़ने आदि से उत्पन्न संशोभ, अभिघात, झूले में झूलना, विषम स्थान से अथवा विषम अवस्था में सोना या बैठना, उपवास, भूख-प्यास को अत्यधिक रोकना, बासी आहार का सेवन, क्षार का अति सेवन, कटु-तिक्त-रूक्ष भोजन, वामक, विरेचक एवं गर्भस्थापक औषधियों का प्रयोग, अजीर्ण से ग्रस्त एवं दोषों के अत्यधिक संचय से गर्भ का स्राव हो जाता है। इसके लिए वर्जित आहार-विहार या गर्भोपघातकर भावों का त्याग न करने से गर्भस्राव हो सकता है।[478]

इस प्रकार सभी अपथ्य आहार-विहार, गर्भपातक औषधी का प्रयोग, मानसिक एवं शारीरिक अभिघात तथा त्रिविध दोषजन्य रोगों के अतिरिक्त स्त्रीबीज, आत्मा एवं काल के दोष भी इसके अन्तर्गत समाहित हैं। असृक् एवं काल की विकृति से अतिरिक्त अन्य कारणों से होने वाले गर्भस्राव में अधिकांशतया १३ सप्ताह के बाद जीवित गर्भ की विच्युति हो जाती है।

---

[478] *च०सं०*, सू० 25/40 ; शा० 4/18, *सु०सं०*, शा० 10/2 ; *अ०सं०*, शा० 2/60-62 ; *अ०हृ०*, शा० 1/44-47 ; *का०सं०*, शा० 5/16-20 एवं *का०सं०*, चि० 1/15

4.1.6 गर्भस्राव में पितृजन्य हेतु :- गर्भिणी स्त्री के गर्भ को कभी-कभी शुक्रदोष के कारण उत्पन्न जन्मजात विकृति स्रवित हो जाने की सम्भावना होती है एवं शुक्रस्थ वायु गर्भस्रावकारक होता है।[479] गर्भस्थापन में शुक्राणु गर्भ को आधे गुणसूत्रों को देता है, गुणसूत्रों से उत्पन्न विकार माता एवं पिता दोनों में हो सकते हैं। अतः विकारयुक्त गर्भ में शुक्राणुओं के द्वारा विकृति उत्पादकता का प्रतिशत निर्धारित नहीं कर सकते।

4.1.7 गर्भस्राव में दैवयोग या अज्ञात हेतु :- इसमें माता-पिता के पूर्वजन्म या इस जन्म के कर्म, जातहारिणी[480] द्वारा आक्रमण एवं दैवप्रकोप या भाग्य आदि के कारण गर्भ का स्राव हो जाता है। अधिकांश गर्भस्राव या गर्भपात में एक से अधिक हेतु एक साथ क्रियाशील होते हैं।

4.1.8 गर्भिणी में गर्भस्राव/गर्भपात रोग के लक्षण :- आयुर्वेद की संहिताओं में गर्भिणी के गर्भस्राव का सर्वप्रथम रक्तदर्शन लक्षण स्वीकृत है। चरक ने गर्भस्राव के लक्षणों को परिलक्षित करते हुए कहा है कि- गर्भिणी को अनार्तव के बाद पुष्प-दर्शन होना गर्भस्राव का मुख्य लक्षण माना है।[481] सुश्रुत ने गर्भस्राव के लक्षणों के विषय में कहा है कि **"तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवंक्षणबस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च।"**[482] अर्थात् गर्भिणी के गर्भाशय, कमर, वंक्षण एवं बस्ति में पीड़ा होती है तथा इसके साथ-साथ उसकी योनि से रक्त का स्राव बाहर आता है। इसके साथ ही गर्भिणी को रक्तस्राव में शूल भी होता है।

भावप्रकाश[483] में भी शूल सहित रक्तस्राव का आना गर्भस्राव का प्रमुख लक्षण माना गया है। गर्भाशय से गर्भ के किञ्चित् चलायमान हो जाने पर जलन, पार्श्व में शूल, अधिक रक्तस्राव, आनाह एवं मूत्रप्रसेक तथा गर्भ के स्थानान्तरित हो जाने पर कोष्ठ में क्षोभ एवं शूलादि लक्षण दिखाई देते हैं।

4.1.9 गर्भस्राव/ गर्भपात की सम्प्राप्ति :- पूर्ववर्णित हेतुओं के कारण बन्धनों से मुक्त हुआ गर्भ, गर्भाशय का अतिक्रमण कर नीचे की ओर खिसकता हुआ गर्भिणी के कोष्ठ में संक्षोभ

---

[479] *च०सं०*, सू० 28/18 ; *च०सं०*,चि० 28/34 ; *अ०सं०*,नि० 15/15-16 ; *अ०हृ०*, नि० 15/13

[480] *का०सं०*,क० 6/36-39

[481] *च०सं०*, शा० 8/24 ; पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले---। ; *अ०हृ०*, शा० 2/1

[482] *सु०सं०*, शा० 10/57

[483] गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत्। *भा०प्र०*, चि० 70/71

पैदा करता है। गर्भिणी के जठर-संक्षोभ के कारण विगुणित अपान वायु पार्श्व, बस्तिप्रदेश, पेट एवं योनि में शूल, आनाह तथा मूत्रसंग आदि अनेक रोगों को पैदा करता हुआ गर्भ को पीड़ित करके लाल रंग के रक्त के साथ गर्भ का स्राव हो जाता है। वाग्भट ने गर्भस्राव की सम्प्राप्ति के सन्दर्भ में कहा है कि- **"स मुक्तबन्धनो गर्भशयामतिक्रम्य यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंमानः कोष्ठसंक्षोभमापादयति। ततः कोष्ठसंक्षोभाद्वायुरपानो मूढः कुक्षिबस्तिपार्श्वोदरयोनिशूलानाहविण्मूत्रसंगानापाद्य गर्भं च्यावयति तरुणं शोणितभावेन।।"**[484] अर्थात् यह गर्भ पृथक् हुआ अपनी गर्भाशय की वास्तविक स्थिति को छोड़कर यकृत्-प्लीहा और आंत्र इन अवयवों के दबाव पड़ने पर नीचे की ओर खिसककर पेट में बेचैनी उत्पन्न कर देता है। गर्भवती स्त्री के गर्भ में उपद्रव के कारण अपानवायु गतिहीन होकर कुक्षि, बस्ति, पार्श्व, उदर और योनि में शूल, आनाह, मल-मूत्र में रुकावट पैदा करके अपूर्ण गर्भ को नीचे की ओर खिसका देती है एवं गर्भ के नीचे आने के साथ रक्त भी निःसरित होता है। सुश्रुत[485] भी गर्भस्राव की सम्प्राप्ति के उपर्युक्त लक्षण मानते हैं। इसके अतिरिक्त *चरकसंहिता*, *काश्यपसंहिता* एवं *अष्टांगहृदय* में गर्भस्राव की सम्प्राप्ति का वर्णन नहीं मिलता है।

आधुनिक चिकित्सकों के मतानुसार गर्भ की आयु के आधार पर गर्भ के पतन की प्रक्रिया में कुछ भिन्नताएँ होती है[486]-

(क) आठ सप्ताह से पूर्व- अधिकतर गर्भ, जरायु-अंकुरों एवं पतनिका के साथ सम्पूर्णतया विच्युत होकर गर्भाशयग्रीवा के अन्तर्मुख विस्फारित एवं बहिर्मुख के अविस्फारित होने के कारण ग्रीवा में रूक जाता है। अतः इस स्थिति को गर्भाशय ग्रैवीयस्राव कहा जाता है।

(ख) आठ से चौदह सप्ताह- इस अवस्था में अपरा एवं गर्भकलाओं को छोड़कर अकेला गर्भ स्रवित होता है। अपरा की आंशिक च्युति होने के कारण कभी-कभी रक्तस्राव हो सकता है।

(ग) चौदह सप्ताह के उपरान्त- इस स्थिति में गर्भपात अधिकतर सामान्य प्रसव के सदृश होता है।

---

[484] *अ०सं०*, शा० 4/27

[485] *सु०सं०*, नि० 8/3, ; *सु०सं०*, शा० 10/57 पर डल्हण की व्याख्या

[486] *प्र०त०*, पृ० 308

4.1.10 गर्भस्राव/गर्भपात के भेद :- इस रोग के लक्षण एवं प्रबन्ध की दृष्टया अधोलिखित भेद हैं-

क. परिहार्य गर्भस्राव/गर्भपात- गर्भिणी को प्रथम मास के कुछ समय तक रुक जाने के बाद अचानक योनि से चमकीले लाल रंग का रक्तस्राव या श्यावववर्ण का स्राव बाहर आने लगता है, तब सम्भावित या परिहार्य गर्भपात की आशंका होने लगती है। इसके कारण पेट में हल्की ऐंठन और पीठ में दर्द भी हो जाता है। लेकिन गर्भाशय ग्रीवा का अन्तर्मुख सम्पूर्ण रूप से बन्द रहता है। इससे गर्भ बाहर नहीं आता। यदि इसका तत्काल उपचार किया जाए तो गर्भस्राव को रोका जा सकता है।

ख. अपरिहार्य गर्भपात :- यदि गर्भिणी को रक्तस्राव और वेदना सविरामी एवं नियमित ढ़ंग से हो रही हो तथा रक्तस्राव की मात्रा बढ़कर गम्भीर रूप धारण करती हो, गर्भाशय तेजी से संकुचित हो जाता हो, तब ग्रीवा का अन्तर्मुख प्रकम्पित हो जाता हो, भ्रूण गर्भाशय-भित्तियों से वियोजित हो जाता हो, उल्बोदक बाहर आने लगता हो तो इस अवस्था में गर्भपात का होना अवश्यम्भावी एवं अपरिहार्य मानना चाहिए।

ग. अपूर्ण गर्भपात :- गर्भपात के क्रम में जब भ्रूण अपने सर्वांश के साथ योनि से बाहर नहीं निकल पाता, उसके अंशों का कुछ भाग अन्दर ही रह जाता है, इस अवस्था में उसे अपूर्ण गर्भपात की संज्ञा देते हैं। इस गर्भपात के बाद भी स्त्री को पीड़ा एवं रक्तस्राव होता रहता है एवं उसका गर्भाशय भी नहीं सकुंचित हो जाता है। आयुर्वेद में अपूर्ण गर्भस्राव का वर्णन आम-गर्भ की चिकित्सा[487] के अन्तर्गत ही किया जाता है।

घ. पूर्ण गर्भपात :- इसमें भ्रूण अपने सर्वांश के साथ बाहर आ जाता है। इसमें सामान्य प्रसव के समान ही थोड़ी पीड़ा के साथ रक्तस्राव होता है। तत्पश्चात् कुछ दिनों के उपरान्त सूतिस्राव आना भी बन्द हो जाता है और गर्भाशय सिकुड़ने के साथ-साथ अपने पूर्व स्थिति में आने लगता है। कुछ सप्ताह के बाद मासिक धर्म अपने स्वाभाविक रूप से घटित होने लगता है।

---

[487] आमगर्भशेषेण हि पुनः पुनरकुशलमनुषज्येत्। तस्मात् तीक्ष्णैरनवशेषयन्नुपाचरेत्॥ *अ०सं०*, शा० 4/12

ङ. लुप्त गर्भपात :- जब गर्भिणी में गर्भपात के सभी लक्षण घटित होते हुए भी गर्भपात नहीं होता, गर्भ की अन्दर ही अन्दर मृत्यु हो जाती है तथा वह जरायु से अलग होकर रक्त के थक्कों से आवेष्टित हो जाता है तो उसे लुप्त गर्भपात कहते हैं। गर्भ की मृत्यु हो जाने के बाद गर्भावस्था के लगभग सभी लक्षण समाप्त हो जाते हैं, केवल रजोनिरोध बना रहता है। रजोनिरोध के कारण गर्भिणी को गर्भावस्था का भ्रम बना रहता है। कुछ गर्भिणियाँ मानसिक रूप से यह स्वीकार नहीं करना चाहती कि उसका गर्भ मर चुका है। इस अवस्था में उसे कोई औषधी देनी आवश्यक हो जाती है, जिससे गर्भाशय में संकोच उत्पन्न हो जाए और गर्भ बाहर निकल जाए। परन्तु यह प्रक्रिया कई बार स्वतः घटित हो जाती है।

च. प्रायिक गर्भपात :- जब महिला को तीन बार या उससे अधिक बार गर्भपात होता है तो उसको प्रायिक गर्भपात की संज्ञा दी जाती है। सुश्रुत ने इसे पुत्रघ्नी[488] योनिव्यापद् रोग कहा है। इसके कारण उसमें कोई स्थाई स्वरूप की संरचनात्मक विकृति होती है।

छ. अपराधिक गर्भपात :- बिना किसी चिकित्सकीय कारण के और न्याय द्वारा मान्य न होते हुए भी जो गर्भपात करवाया जाता है, उसे आपराधिक गर्भपात कहा जाता है। ऐसा प्रायशः अनधिकृत व्यक्तियों से कराया जाता है, जो अवैज्ञानिक एवं अपरिष्कृत ढ़ंग से करते हैं। इससे गर्भवती स्त्री को अत्यधिक रक्तस्राव या अन्तःशल्य के कारण मृत्यु भी हो जाती है।

ज. पूति गर्भपात :- यह प्रायशः आपराधिक गर्भपात या गर्भाशय में गर्भांश के अंशों के शेष रहने के कारण होता है। इसका मुख्य कारण संक्रमण है। गर्भवती स्त्री पूति जीवरक्तता से ग्रस्त हो जाती है। उसमें तीव्र ज्वर रोग, बेचैनी एवं सिरदर्द के लक्षण मिलते हैं। उसका योनिस्राव अधिक मात्रा में दुर्गन्धयुक्त होता है।

झ. चिकित्सीय गर्भपात :- जब गर्भिणी किसी जीर्ण या जटिल रोग से पीड़ित होने के कारण, गर्भधारण करना, उसके जीवन के लिए हानिकारक हो जाता है या किसी रोग या संक्रमण के कारण गर्भस्थ शिशु के विकलांग, विकृतांग या पैदा होने के बाद, उसके बचने की संभावना नहीं होती। उस अवस्था में गर्भिणी एवं गर्भस्थ शिशु अथवा दोनों के हित को ध्यान में रखते हुए चिकित्सक द्वारा गर्भपात कराने की अनुमति दे दी जाती है। इसे चिकित्सीय गर्भपात कहा जाता है।

---

[488] स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात्। *सु० सं०*, उ० 38/13

4.1.11 गर्भस्राव/गर्भपात जनित उपद्रव :- गर्भिणी को गर्भस्राव या गर्भपात के समय अनेक उपद्रव होते हैं। नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञान में इसको पूति गर्भपात (Septic abortion) कहते हैं। इसके अन्तर्गत अत्यधिक वेदना, रक्तस्रावरहित वेदना, दाह या जलन, आनाह, मूत्रसंग, शोथ एवं अपतानक उपद्रव शामिल हैं।

क. शोथ :- आयुर्वेदीय संहिताओं में शोथ के कारणों[489] में गर्भपात को भी एक प्रमुख कारण माना गया है। यह रोग एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग दोनों प्रकार का होता है। गर्भपातादि के बाद उपसर्ग पाँव की सिरा में सूजन हो जाती है, जिससे एकाङ्ग शोथ की उत्पत्ति होती है अथवा अत्यधिक रक्त निकलने के कारण उत्पन्न पाण्डु जनित सर्वाङ्ग शोथ हो सकता है।

ख. अपतानक :- गर्भपात के कारण उत्पन्न अपतानक को आयुर्वेदज्ञों ने असाध्य स्वीकार किया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे टिटेनस (Tetanus)कहते हैं। डल्हण[490] का मत है कि गर्भपातोत्पन्न अपतानक से पीड़ित रुग्णा दैवयोग से कभी स्वस्थ हो जाती है, यदि वह स्वस्थ हो भी गई तो उसे बेचैनी अवश्य हो रहती है।

4.2.1 उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि का परिचय :- गर्भवती स्त्री का जब चतुर्थ मास समाप्त हो जाता है तब गर्भ एक निश्चित आकार को धारण कर लेता है। उस समय कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि जिसमें गर्भ का विकास अवरूद्ध हो जाता है। ऐसा लगता है कि गर्भ जिस अवस्था तक विकसित हुआ था वहीं पर स्थिर हो जाता है, बैठ जाता है, इसे ही 'उपविष्टक' रोग कहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि गर्भ का विकास अवरुद्ध ही नहीं होता, अपितु जिस आकार में था उससे भी घटने लगता है, सूखने लगता है। इसे 'नागोदर' या 'उपशुष्क' रोग कहते हैं। जिस प्रकार खेत में पानी पहुँचाने वाली नाली में पत्ते आदि गिर जाने के कारण बन्द हो जाती है, खेत में पानी अच्छे प्रकार से नहीं पहुँच पाता, खेत में खड़ी धान की फसल की वृद्धि रुक जाती है अथवा फसल सूख जाती है, उसी प्रकार गर्भ भी

---

[489] *च० सं०*, सू० 18/6 ; *च०सं०*, चि०12/6 ; *का० सं०*, खि०17/6 ; *मा० नि०* 35/5

[490] गर्भपातादिनिमित्तास्रयोऽप्यागन्तवोऽसाध्याः। यदि कथञ्चिद्दैवयोगात् सिद्धयन्ति तदा वैकल्यं जनयन्ति।
सु० सं०, नि० 1/59 की डल्हण टीका

अवरुद्ध हो जाता है तथा उसमें वृद्धि नहीं होती। उसे उचित पोषण न मिलने के कारण वह घटने लगता है एवं धीरे-धीरे सूख जाता है।

4.2.2 उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि का निदान :- *अथर्ववेद* में उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि के कारणों का वर्णन नहीं मिलता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में उपविष्टक एवं नागोदर आमय के कारण एवं उपचार का एकसाथ वर्णन मिलता है। *चरकसंहिता* में उपविष्टक रोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि **"यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति सञ्जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यात्।"**[491] अर्थात् जिस गर्भिणी के गर्भ का सारभाग बन चुका हो और गर्भ का आकार भी बढ़ चुका हो, लेकिन जब गर्भवती स्त्री अज्ञानतावश उष्ण, तीखे पदार्थों का प्रयोग अधिक मात्रा में करती है तब उसे रक्तस्राव हो जाता है। सुश्रुत उपविष्टक रोग के हेतुओं का वर्णन नहीं करते हैं।

वाग्भट भी उपविष्टक आमय के हेतुओं में मिथ्या आहार-विहार को ही प्रमुख मानते हैं- **"सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात्। वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः॥"**[492] अर्थात् जब गर्भ में बल उत्पन्न हो जाता है तब वह आकार में बड़ा होने लगता है, उस समय गर्भवती स्त्री द्वारा आहार, विहार के सेवन से योनिमार्ग से स्राव आना प्रारम्भ हो जाता है एवं गर्भ का बढ़ना अवरुद्ध हो जाता है। *काश्यपसंहिता* में उपविष्टक रोग के लक्षणों का वर्णन प्राप्त नहीं होता।

4.2.3 उपविष्टक व्याधि के लक्षण :- जब अन्य कारणों से गर्भ अवरुद्ध हो जाता है एवं इसके पश्चात् गर्भिणी की योनि से रक्तस्राव आना प्रारम्भ हो जाता है या उसकी योनिमार्ग से अन्य द्रव स्रवित होने लगता है तब उस स्राव से गर्भपोषक द्रव के स्रवित होने पर गर्भ की पुष्टि और वृद्धि नहीं होती तथा वह गर्भ अधिक समय तक गर्भाशय में रुक जाता है। इसे आयुर्वेदज्ञों ने 'उपविष्टक' की संज्ञा दी है। चरक ने उपविष्टक के लक्षणों के सन्दर्भ में कहा है कि- **"अन्यो वा योनिस्रावस्तस्याः गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात् ; स कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित्।"**[493] वाग्भट[494] भी उपविष्टक रोग के

---

[491] *च०सं०*, शा० 8/26

[492] *अ०हृ०*, शा० 2/14 ; तत्र यस्याः कदाचित्कार्तवपरिस्रावदल्पौ च दृश्येते सततं च गर्भः प्राप्तात्परिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति न च कुक्षिर्विवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते॥ *अ०सं०*, शा० 4/12

[493] *च०सं०*, शा० 8/26

चरक द्वारा कथित हेतु स्वीकार करते हैं। *अष्टांगसंग्रह* में उपविष्टक एवं नागोदर के कारणों में त्रिविध दोषों के विकृत होना भी हेतुरूप कहा गया है, जिसका वर्णन नागोदर रोग के अन्तर्गत किया जाएगा।

4.2.4 नागोदर व्याधि का निदान :- जब गर्भिणी अधिकतर दिन व्रत एवं उपवास करती है, भोजन के रूप में रूक्ष, बासी या निर्वीर्य भोजन का सेवन करती है, घी, दूधादि द्रव्यों से द्वेष करती है, वात दोष को बढ़ाने वाले आहार-विहार का प्रयोग करती है तब उसका गर्भ शुष्क हो जाने के कारण आगे नहीं बढ़ पाता अर्थात् उसकी वृद्धि नहीं होती, जिसके कारण नागोदर व्याधि का प्रादुर्भाव होता है। *चरकसंहिता* में कथित है कि- **"उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्।"**[495] वाग्भट ने नागोदर रोग के उपर्युक्त हेतु माने हैं।[496]

सुश्रुत[497] ने नागोदर या उपशुष्क रोग के कारणों को इस प्रकार विवेचित किया है कि जब वायु से पीड़ित शुक्र एवं शोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर गर्भिणी के उदर का आध्मान कर देते हैं तब प्रकीयमान होने पर नागोदर रोग कहलाता है। इसके टीकाकार डल्हण इस रोग को स्पष्टतया अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं- यह उदर में अकुथित अर्थात् बिना सड़ी हुई अवस्था में रहता है तथा वात बढ़ने के कारण बारम्बार स्रोतों में प्रविलीयमान होता है अर्थात् छोटा होता जाता है। *भावप्रकाश* एवं *योगरत्नाकर* में भी नागोदर व्याधि के उपर्युक्त हेतु[498] स्वीकार किए गए हैं। *अष्टांगसंग्रह*[499] में वृद्ध वाग्भट ने नागोदर रोग के कारणों को अधिक स्पष्टता से विवेचित किया है- जब गर्भवती स्त्री में आर्तव प्रतिमास या प्रतिदिन बहुत अधिक मात्रा में निकलता है तब वह गर्भ दिन-प्रतिदिन कमजोर होने के कारण बहुत कम गति करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि गर्भिणी के उदर

---

494 *अ०हृ०*, शा० 2/15

495 *च०सं०*, शा० 8/26

496 शोकोपवासरूक्षादैरथवा योन्यतिस्रावात्। वाते क्रुद्धे कृशः शुष्येद्गर्भो नागोदरं तु तम्॥ *अ० हृ०*, शा० 2/15

497 शुक्रशोणितमिति वचनादसञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गमेव, वायुनाभिप्रपन्नं वायुनोपरुद्धं, अवक्रान्तजीवं जीवनोपगतम्, अतएवाकुथितमवतिष्ठते।_____। तमेव वाताभिपन्नमेव, पुनः पुनरनयावृत्त्या प्रविलीयमानमल्पीभवन्तं नागोदरमिति ब्रुवते॥ *सु०सं०*, शा० 10/57 की डल्हण टीका

498 *भा०प्र०*, चि० 8/98-101 ; *यो०र०*, स्त्रीरो० चि०

499 यदा तु प्रतिमासमार्तवं प्रत्यहं वा परिस्रवणं नात्यल्पं च तथा परिहीयमाणो गर्भश्चिरात्किञ्चित्स्पन्दते। कुक्षिश्च वृद्धोऽपि परिहीयते तदुपशुष्कं नागोदरं च॥ *अ०सं०*, शा० 4/13

की आकृति कम होती जा रही है। *काश्यपसंहिता* में नागोदर व्याधि के हेतुओं का वर्णन नहीं मिलता है।

भेलसंहिता[500] में भी नागोदर व्याधि के हेतुओं को इस प्रकार बताया गया है- गर्भाशय में शिराओं के मुखों की दुष्टि के कारण जब गर्भ को रस सामान्यरूप में नहीं मिलता, तब वह रस न मिलने के कारण अल्प विकसित गर्भ, असम्पूर्ण होने के कारण हाथी के गर्भ के समान कई वर्षों तक गर्भ में रहता है। सम्भवतः यहाँ वर्ष का अभिप्राय सप्ताह लेना ही युक्तियुक्त है, क्योंकि नौ मास के उपरान्त तो प्रसव हो जाता है। भेल ने अन्यत्रस्थान पर लिखा है कि गर्भ के चतुर्थ मास के बाद यदि योनि से रक्त का स्राव होता है तब उस गर्भिणी में रक्त के लगातार निःसरण होने के कारण अल्प विकसित गर्भ परिशुष्क होकर रूक जाता है अर्थात् गर्भ सूखकर स्थिर हो जाता है।

4.2.5 नागोदर व्याधि के लक्षण :- जब आहार-विहार के कारण एवं वात बढ़ने के कारण गर्भ शुष्क होकर वृद्धि नहीं करता, तब गर्भ गर्भाशय में अधिक समय तक अवस्थित रहता है, परन्तु उस अवस्था में स्पन्दन या कोई गतिशीलता प्रतीत नहीं होती। अतः आयुर्वेदज्ञ गर्भ की इस अवस्था को नागोदर रोग कहते हैं या उपशुष्क व्याधि कही जाती है। यह स्थिति गर्भिणी (जो स्त्री पहले गर्भवती हो चुकी हो) को एवं परिवार की वृद्धा स्त्री को प्रतीत हो जाती है, तब वह किसी वैद्य को बुलाकर गर्भिणी को गर्भ की अवस्था दिखाती है। चरक ने नागोदर आमय के हेतुओं को इस प्रकार बताया है- **"स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम् ; अपस्पन्दनश्च भवति, तं तु नागोदरमित्याचक्षते॥"**[501] वाग्भट ने भी नागोदर रोग के उपरोक्त लक्षण[502] स्वीकार किए हैं। सुश्रुत एवं *काश्यपसंहिता* में नागोदर रोग के लक्षण नहीं मिलते हैं।

4.2.6 वाताधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण :- *अष्टाङ्गसंग्रह*[503] में दोनों व्याधियों में त्रिविध दोष का कुपित होना, प्रमुख लक्षण बताया गया है- जब वायु की अधिकता होती है, तब इनके कारण गर्भवती स्त्री के उदर में गतिमान वायु अवरुद्ध हो जाती

---

[500] नाप्नोति च यदा गर्भो रसं दुष्टैः सिरामुखैः। असंपूर्णो वसं (न्) नागस्तदा वर्षाणि तिष्ठति।। *भे०सं०*, शा० 3/12
त (य) स्यास्तु खलु योनिः जातसारे पुष्पमाश्रय (स्रव)ति तस्याः पतति नवापीत्य (प्यति) कालं वावतिष्ठते गर्भः परिशुष्कमात्रं इति। *भे०सं०*, शा० 8/5

[501] *च०सं०*, शा० 8/26

[502] *अ०ह्रि०*, शा० 2/16

[503] *अ०सं०*, शा० 4/15

है। इस वायु के अवरुद्ध होने से गर्भिणी शब्द के साथ झागदार अल्पमात्रा में मल का त्याग करती है। उसका मूत्र भी अवरुद्ध हो जाता है। उसकी कमर, पीठ एवं हृदयप्रदेश में पीड़ा होती है, जम्भाई आती है, अनिद्रा, बारम्बार जुकाम की प्रवृत्ति, सूखी खाँसी, अंगों में शैथिल्य, कानों में खुजली, शंख प्रदेश में सुई लगने जैसी पीड़ा, त्वचा में चीटियों के चलने की झनझनाहट आदि लक्षण होते हैं। गर्भिणी के शरीर में घूमती हुई वायु उदर में पहुँचती है। उसकी लोचनों के समक्ष अंधेरा आ जाता है, बहुत धीमी गति से अन्न का पाचन होता है, दिन-प्रतिदिन शरीर में कमजोरी अनुभव होती है, त्वचा फटने लगती है एवं विवर्ण हो जाता है तथा उसकी आवाज कर्कश हो जाती है। अतः वात दोष बढ़ने पर नागोदर रोग के अनेकशः लक्षण गर्भिणी में दिखाई देते हैं।

4.2.7 पित्ताधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण :- जब गर्भवती स्त्री में पित्त दोष कुपित हो जाता है तब गर्भवती स्त्री का मल हरा या ताम्रवर्ण रंग का होता है, उसे खट्टी डकार आनी प्रारम्भ हो जाती है, वमन एवं बेहोशी आती है, पेट एवं हृदय में जलन, आँखें-मूत्र-नाखून और त्वचा का रंग पीला या लाल या गोमूत्र के सदृश हो जाता है। उसके शरीर की त्वचा का रंग शनैः शनैः काला हो जाता है, शरीर कृश, मुख या पैरों में सूजन आ जाती है। वृद्धवाग्भट ने पित्ताधिक्य से नागोदर रोग के लक्षणों को निम्नोक्त प्रकार विवेचित किया है- **"पित्तेन ताम्रहरितमुपवेश्यते धूमकोऽम्लकश्छर्दिर्मूर्च्छा कुक्षिहृदयदाहः पीतरक्तगोमूत्राभनेत्रमूत्रनखत्वं काली दुर्बला नित्यशूला च नारी भवति॥"**[504] इस प्रकार पित्तदोष के विकारयुक्त होने से गर्भिणी में नागोदरव्याधि के अनेक लक्षण शरीर में दिखाई देते हैं, इनका यदि समय रहते उपचार किया जाए तो गर्भिणी इस रोग से मुक्त हो सकती है।

4.2.8 कफाधिक्य से नागोदर एवं उपविष्टक व्याधि के लक्षण :- *अष्टांगसंग्रह* में कफदोष के वैषम्य होने के कारण नागोदर व्याधि के अधोलिखित लक्षण बताए गए हैं- **"श्लेष्मणा मधुरास्य त्वमुत्क्लेशः श्लेष्मोद्वमनं भक्तद्वेषः श्वेहस्तपादनेत्रता कासः श्वासश्च।"**[505] अर्थात् जब गर्भिणी के शरीर में श्लेष्मा का प्रकोप होता है, तब उसके मुँह का स्वाद मीठा, उल्टी की

---

[504] *अ०सं०*, शा० 4/16

[505] *अ०सं०*, शा० 4/17

इच्छा, उल्टी में कफ आना, अन्न की अनिच्छा, हाथ एवं पैरों का श्वेत होना, खाँसी एवं साँसों में अभिवृद्धि हो जाती है। अतः गर्भिणी में इस रोग के अनेक लक्षण प्रत्यक्षतः दृष्ट होते हैं।

4.2.9 नागोदर एवं उपविष्टक गर्भ का प्रसव काल :- वृद्ध वाग्भट ने इन रोगों के सम्बन्ध में कहा है कि जब माता के आहार की अग्नि धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होती है और बलवान् हो जाती हैं तब गर्भस्थ शिशु के केश और दाँत आदि से युक्त होकर कई वर्षों के बाद गर्भिणी का प्रसव होता है- **"तौ तु मातुराहारतेजसाऽल्पेनाप्यायमानौ यदा पुष्टौ स्यातां तदा वर्षगणैरपि प्रमदा प्रसूयत एव॥"**[506]

4.3.1 किक्किस व्याधि का परिचय :- जब गर्भावस्था में गर्भ के तनाव के कारण गर्भवती स्त्री के पेट पर सफेद रेखाएँ बन जाती हैं तो उसे ही वैद्यों ने किक्किस व्याधि कहा है। इस व्याधि का वर्णन *चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय* एवं *अष्टाङ्गसंग्रह* में मिलता है। किन्तु *सुश्रुतसंहिता* एवं *काश्यपसंहिता* में इस रोग का वर्णन नहीं मिलता है। *अथर्ववेद* में किक्किस रोग के हेतुओं का विवेचन नहीं मिलता है।

4.3.2 किक्किस व्याधि का निदान :- जब गर्भिणी को गर्भ की अभिवृद्धि के कारण उत्पीड़ित हुए वात, पित्त एवं कफ दोष उरःप्रदेश में आकर जलन उत्पन्न करते हैं, तब उस अवस्था में उसे पेट पर खुजली होती है, जिससे किक्किस रोग की उत्पत्ति होती है। *चरकसंहिता* में कहा गया है कि- **"गर्भोत्पीडनाद् वातपित्तश्लेष्माण उरःप्राप्य विदाहं जनयन्ति, ततः कण्डूरुपजायते॥"**[507] कुछ विद्वानों का मत है कि सातवें मास में गर्भस्थ शिशु के बाल उत्पन्न होने के कारण गर्भिणी को विदाह पैदा होती है। परन्तु आत्रेय ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। चक्रपाणि[508] ने गर्भस्थ शिशु में केशों की उत्पत्ति तृतीय मास में ही मानी है एवं उन्हें रोग का हेतु स्वीकार नहीं करते। चक्रपाणि गर्भोत्पीड़न को ही मुख्य कारण मानते हैं। वाग्भट[509] भी किक्किस रोग के उपर्युक्त कारण मानते हैं। वृद्ध वाग्भट भी इस रोग के कारणों में कुपित दोषों का हृदयप्रदेश में पहुँचकर विदग्ध होना स्वीकारते हैं। किन्तु *अष्टाङ्गसंग्रह* के

---

[506] *अ०सं०*, शा० 4/14

[507] *च०सं०*, शा० 8/32

[508] *च०सं०*, शा० 8/32 पर चक्रपाणि की टीका, पृ० 151

[509] गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः॥ *अ०हृ०*, शा० 1/58 ; *अ०सं०*, शा० 3/9

टीकाकार इन्दु[510] ने रेखा स्वरूप त्वचा संकोच को किक्किस रोग की संज्ञा दी है। भेल[511] ने भी किक्किस रोग के कारणों में चरकोक्त कारण माने हैं।

4.3.3 गर्भिणी में किक्किस व्याधि के लक्षण :- त्रिविध दोषों के विकृत होने से हृदयप्रदेश में जलन पैदा होती है, तदनन्तर गर्भवती स्त्री को खुजली पैदा होती है एवं खुजली होने से किक्किस आमय का प्रादुर्भाव होता है। चरक ने किक्किस व्याधि के सन्दर्भ में कहा है कि- **"ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला च किक्किसावातिर्भवति।"**[512] वाग्भट[513] भी किक्किस रोग के चरक द्वारा कथित हेतुओं को ही मानते हैं। परन्तु सुश्रुत एवं कश्यप ने किक्किस रोग के लक्षणों का वर्णन नहीं किया है। अतः गर्भवती स्त्री में इस व्याधि का प्रमुख लक्षण पेट पर खुजलाहट होती है, जिसकी यदि शीघ्र चिकित्सा नहीं की गई तो वह किक्किस व्याधि में बदल जाती है।

4.3.4 लीनगर्भ व्याधि का निदान एवं लक्षण :- जिस गर्भवती स्त्री का गर्भ निश्चल अवस्था में होता है उसे 'लीनगर्भ' कहते हैं। *चरकसंहिता* में लीनगर्भ के विषय में कहा गया है कि **"यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते।"**[514] अर्थात् जिस गर्भिणी का गर्भ शयन की अवस्था में हो, अल्पगतिशील अथवा पूर्णरूप से निश्चल बना रहता हो, उसे लीनगर्भ की संज्ञा दी जाती है।

सुश्रुत लीनगर्भ को स्पष्टतया विवेचन करते हैं- **"वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमतिष्ठते व्यापद्यते।"**[515] अर्थात् जब गर्भिणी के स्रोत वातदोष के विकृत होने पर व्याधियों से पीड़ित हो जाती है तब उसका गर्भ लीन हो जाता है। वह अधिक समय गर्भाशय में रहता हुआ कष्ट को प्राप्त करता है या मर जाता है। टीकाकार डल्हण[516] ने गर्भ की चिरकाल अवस्थिति का वर्णन करते हुए स्पष्टीकरण दिया है कि गर्भ के निर्गम मार्ग के

---

[510] रेखास्वरूपस्त्वक्संकोचः किक्किसम्। *अ०सं०*, शा० 3/9 पर इन्दु की टीका

[511] सप्तमे तु खलु मासे गर्भप्रपीडिता वातपित्तश्लेष्माणो उरः प्राप्य विदह्यमाना कण्डूं जनयन्ति। तेन किक्किसानि जायन्ते। *भे०सं०,* शा० 8/6

[512] *च०सं०*, शा० 8/32

[513] कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्किसानि च। *अ०हृ०*, शा० 1/58 ; ततः कण्डूर्जायते कण्ड्वा किक्किसम्॥ *अ०सं०*, शा० 3/9

[514] *च०सं०*, शा० 8/28

[515] *सु०सं०*, शा० 10/57

[516] ------- अपरां चिरकालस्थायिनीं गर्भविकृतिं दर्शयन्नाह- वातेत्यादि। लीयते श्लिष्यति, कुत इत्याह-स्रोतसां गर्भनिर्गममार्गाणां वातोपद्रवेण संकोचादिना गृहीतत्वात्। व्यापद्यते विनश्यतीत्यर्थः। *सु०सं०*, शा० 10/57 पर डल्हण की टीका

स्रोतस् वात के उपद्रवों से युक्त होकर संकुचित हो जाते हैं, लम्बे समय तक स्थिर रहने के कारण गर्भ का विनाश हो जाता है एवं वह गर्भ लीन या स्रोतों से चिपक जाता है।

वाग्भट[517] ने कहा है कि गर्भ में स्फुरण नहीं होता अर्थात् जड़ की भाँति पड़ा रहता है, उसे लीन गर्भ कहते हैं। वृद्ध वाग्भट[518] लीन गर्भ को विस्तारपूर्वक व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- जिस गर्भिणी में वायु के कारण स्रोतों के भर जाने के कारण लीन हुआ गर्भ, किसी सोये हुए व्यक्ति की भाँति कुछ भी प्रक्रिया नहीं करता अर्थात् अंगों को नहीं हिलाता। उस गर्भ को लीन गर्भ की संज्ञा दी जाती है। अतः गर्भिणी में वातदोष के स्रोतों में अधिक कुपित होने से लीन गर्भ का प्रादुर्भाव होता है। *काश्यपसंहिता* में लीनगर्भ का वर्णन नहीं मिलता है।

नवयुगीन चिकित्सकों के अनुसार गर्भाधान के बाद बने अवयवों तथा मृत गर्भ का रुक जाना ही लीन गर्भ है, इसके मुख्य कारण निम्नोक्त हैं-

- गर्भावस्था के पूर्व में मिलने वाले लक्षणों का ह्रास।
- गर्भाशय की वृद्धि का रुक जाना।
- गर्भ को गति न मिलना।
- कभी-कभी स्तन से दुग्धस्राव का होना।
- कभी-कभी तीव्र रक्तस्राव होना।

4.4.1 गर्भशोष का परिचय :- गर्भवती स्त्री को कभी-कभी रक्ताल्पता, कुपोषण एवं वातदोष प्रकोपक आहार-विहार के कारण गर्भस्थ शिशु को सम्यक् रूप से आहाररस की प्राप्ति नहीं हो पाती। रसधातु के अभाव में गर्भ का उचित पोषण नहीं हो पाता। जिस प्रकार पौधे में जल के अभाव के कारण वृद्धि रुक जाती है, वह मुरझाने के साथ-साथ सूखने भी लगता है उसी प्रकार रसधातु के अभाव या उसकी कमी से गर्भस्थ शिशु में भी शोथ की स्थिति पैदा हो जाती है, इसे गर्भशोष कहते हैं। इसके कारण गर्भ के स्पन्दन में कमी आ जाती है। गर्भ के आकार में वृद्धि नहीं होती है। अतः गर्भिणी के पेट का आकार भी मासानुसार नहीं बढ़ता है। *अथर्ववेद* में गर्भशोष व्याधि के कारणों का वर्णन नहीं मिलता है।

---

[517] लीनाख्ये निस्फुरे-----। *अ०हृ०*, शा० 2/18

[518] यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि संलीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः॥ *अ०सं०*, शा० 4/23

4.4.2 गर्भिणी में गर्भशोष के निदान एवं लक्षण :- जब गर्भिणी को आहार सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं होता, तब उस अवस्था में गर्भ को भी उचित आहार नहीं मिलता या गर्भवती स्त्री की योनि से बार-बार रक्तस्राव होने के कारण गर्भ का शोष हो जाता है। कई वर्षों बाद पुष्ट हुए गर्भ को स्त्री लम्बे समय के बाद स्रवित करती है। *चरकसंहिता* में गर्भशोष को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

"आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।

तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणौरपि स्यात्॥"[519]

परन्तु सुश्रुत ने गर्भशोष में वात को प्रमुख कारण माना है एवं शुष्कगर्भ की संज्ञा दी है- **"वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते।"**[520] अर्थात् गर्भ वातदोष के प्रकोप के कारण सूख जाता है। इसके कारण गर्भिणी का उदर रिक्त प्रतीत होता है एवं गर्भ का स्पन्दन भी मन्द हो जाता है। वृद्ध वाग्भट एवं वाग्भट[521] ने भी गर्भशोष के सुश्रुतोक्त कारण माने हैं। *काश्यपसंहिता* में गर्भशोष व्याधि का वर्णन नहीं मिलता है। भेल ने इस व्याधि को वातोदर रोग के अन्तर्गत रखा है- जब वायु योनि गत शुक्र को ग्रहण कर लेती है एवं उस वायु से आक्रान्त शुक्र तथा स्त्री के शुद्ध आर्तव के समन्वय से गर्भ को धारण कर लेती है तब किसी कारणवश रक्तस्राव होता है और गर्भ का नाश हो जाता है, जिसे वातोदर कहते हैं।[522] अतः इस व्याधि में गर्भ को सम्यकतया पोषण न मिलने के कारण उत्पन्न अति दौर्बल्य होने से गर्भशोष व्याधि पैदा होती है। इसकी तुलना '**Under weight fetus**' से की जाती है।

4.5.1 गर्भक्षय व्याधि का परिचय :- इस रोग में भी गर्भशोष के समान स्पन्दन नहीं होता एवं गर्भवती स्त्री की कुक्षि नीचे हो जाती है अर्थात् पिचक जाती है। इसका केवल *सुश्रुतसंहिता* में ही वर्णन मिलता है। *चरकसंहिता, अष्टांगहृदय* एवं *काश्यपसंहिता* में गर्भक्षय व्याधि का वर्णन नहीं मिलता है।

---

519 *च०सं०*, शा० 2/15

520 *सु०सं०*, श० 10/57 ; गर्भो संशुष्को नोदरं पूरयेद्यदि। *भा०प्र०*, चि० 70/97

521 यदा तून्मार्गगो वातो गर्भस्य रसवाहीनि स्रोतांसि शोषयति तदा वातरोगी हीनो जायते। बहूनि वा वर्षाण्युदरे तिष्ठति। *अ०सं०*, शा० 2/37 ; गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां च विशुष्यताम्। *अ०हृ०*, चि० 21/21

522 गृह्णाति वायुर्यस्यां च योनौ शुक्रमुपागतः (म्)। बिर्भेति गर्भिणी गर्भं शुद्धार्तवसमन्विता॥
च्यवते च यदा चाऽसौ तदा गर्भः प्रणश्यति। वातोदरं स्त्रियास्तद्वै ---------॥ *भे०सं०*, शा० 3/6-7

4.5.2 गर्भक्षय व्याधि का निदान एवं लक्षण :- सुश्रुत ने गर्भक्षय रोग के विषय में कहा है कि- **"गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च।"**[523] अर्थात् गर्भवती स्त्री के गर्भ में कोई स्पन्दन नहीं होता तथा मासानुसार उदर के आकार में कोई वृद्धि नहीं होती है अर्थात् गर्भ का आकार कम हो जाता है। अतः वृद्ध महिलाएँ गर्भिणी के पेट को स्पर्श करके एवं देखकर यह अनुमान लगा लेती है कि यह गर्भक्षय व्याधि से पीड़ित हो गई है। तदनन्तर वह वैद्य को गर्भिणी की स्थिति से अवगत करवाकर शीघ्र ही उपचार करने के लिए कहती है। भावमिश्र[524] उपर्युक्त लक्षणों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि गर्भक्षय व्याधि से पीड़ित गर्भिणी हिरण, बकरी, भेड़ एवं सुअर के सुसंस्कृत गर्भों के मांस, वसा या भुने हुए मांस को खाने की इच्छा करती है। अतः इस व्याधि में मुख्यतः गर्भ का स्पन्दन एवं आकार में वृद्धि नहीं होती है।

4.6.1 गर्भवृद्धि व्याधि का निदान एवं लक्षण :- *अथर्ववेद* में गर्भवृद्धि का विवेचन नहीं मिलता है। गर्भवती स्त्री के उदर आदि अंगों का अधिक बढ़ जाना, पसीना अधिक आना एवं प्रसव के समय अत्यधिक वेदना होना, ये सभी लक्षण गर्भवृद्धि के अन्तर्गत होते हैं। इसे वृद्धगर्भ भी कहा जाता है। सम्भवतः इसका प्रसव निर्धारित समय के बहुत बाद होता है। *सुश्रुतसंहिता* में गर्भवृद्धि के सन्दर्भ में कहा गया है कि- **"गर्भो जठराभिर्वृद्धिं स्वेदं च॥"**[525] *भावप्रकाश*[526] में भी गर्भवृद्धि आमय के उपर्युक्त लक्षण माने गए हैं। अतः यहाँ स्पष्ट होता है कि इस व्याधि में गर्भस्थ शिशु के भार में अभिवृद्धि होती है। इसके अन्तर्गत कुछ रोगों का संकेत मिलता है, जैसे शिशु का सिर सामान्य आकृति से बड़ा होना, सहज मधुमेह एवं प्रगल्भित गर्भ आदि।

शिशु के भार के ९० परसेण्टाइल से अधिक वजन या जन्म के समय ४ किलोग्राम या इससे अधिक वजन को वृद्ध गर्भ कहा जाता है। गर्भाशयान्तर गर्भ की आयु की अपेक्षा अभिवृद्धि दो प्रकार से होती है- सहज एवं विकारज या मैक्रॉसॉमिया।

---

523 *सु०सं०*, सू० 15/16

524 अनुलतो भवेत्कुक्षिर्गर्भस्यास्पन्दनं तथा। इति गर्भक्षये प्राज्ञैर्लक्षणं समुदाहृतम्॥
मृगाजाविवराहाणां गर्भान्वाञ्छति संस्कृतान्। वसाशूल्यप्रकारादीन्भोक्तुं गर्भपरिक्षये॥ *भा०प्र०*, पू० 7/92,113

525 *सु०सं०*, सू० 15/20

526 उदरादिप्रवृद्धिस्तु वृद्धे गर्भेऽभिजायते। स्वेदश्च गर्भवत्याः स्यात्प्रसवे व्यसनं महत्॥ *भा०प्र०*, पू० 7/73

क. सहज- यह देश, जाति एवं कुल विशेषतया माता-पिता की आकृति पर आधारित होती है।

ख. विकारज- बहुप्रसवा, मधुमेह पीड़ित, मेदस्वी स्त्री एवं वृद्ध आकृति के शिशुओं के प्रसव का इतिवृत्त देने वाली महिलाओं में सम्भावना अधिक होती है। कुछ गर्भ के कालोत्तीर्ण स्थायी रहने पर वृद्धि होती रहती है ये सामान्य की अपेक्षा अधिक भारवान् ही जाते हैं। अतः गर्भ की आकृति में वृद्ध होने तथा महिला के बहुप्रसवा अथवा मधुमेह आदि व्याधि से आक्रान्त होने के कारण गर्भवती स्त्री एवं गर्भस्थ शिशु दोनों में उपद्रव होने की अधिक आशंका होती है।

4.7.1 भूतहृतगर्भ व्याधि के निदान एवं लक्षण :- *अथर्ववेद* में भूतहृतगर्भ के निदानों का वर्णन नहीं मिलता है। गर्भ के लिए जिज्ञासु, गर्भाधान से अत्यधिक डरी हुई, अन्य मानसिक तनाव अथवा रोगों से ग्रस्त महिलाओं में वायु द्वारा आर्तव के रुक जाने पर अज्ञानतावश स्त्री को गर्भवती मानने लगते हैं। महिला का न निकला हुआ आर्तव गर्भाशयान्तर्गत बढ़कर अनार्तव, स्तन परिवर्तन, कुक्षिवर्धन आदि लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। यह रूका हुआ आर्तव अग्नि अथवा सूर्य के ताप, श्रम, शोक, रोग, क्रोध, गर्म अन्नपान के प्रयोग से प्रवृत्त होकर योनिमार्ग से बाहर आने लगता है। गर्भ की अनुपस्थिति एवं केवल रक्त की उपस्थिति से मूर्ख लोग गर्भ को भूतों ने हरण कर लिया, इस प्रकार कहते हैं। चरक भूतहृत गर्भ को परिलक्षित करते हुए कहते हैं कि-

"असृङ्निरुद्धं पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।

गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदसृगस्रावि विवर्द्धमानम्॥

तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्।

दृष्टाऽसृगेकं न च गर्भसंज्ञं केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति॥"[527]

वाग्भट[528] ने भी भूतहृत गर्भ के लक्षणों में वातदोष के कारण स्त्री का आर्तव रुकना, समय पर मासिकधर्म न आना, ऐसी स्थिति होने पर स्त्री में गर्भ के कुछ लक्षण प्रकट होना

---

[527] *च०सं०*, शा० 2/8-9

[528] *अ०हृ०*, शा० 2/61-62

स्वीकार किया है। तदुपरान्त स्त्री द्वारा कटु, उष्ण, तीष्ण द्रव्यों के सेवन से केवल रक्तस्राव का आना, उसे देखकर यह कहना कि गर्भ का भूतों द्वारा हरण कर लिया गया है, इसे भूतहृत गर्भ कहते हैं। वृद्ध वाग्भट[529] भी भूतहृत गर्भ के उपर्युक्त हेतु एवं लक्षण माने हैं।

सुश्रुत[530] ने भूतहृत गर्भ को नैगमेषापहृत की संज्ञा दी है एवं वात का प्रकुपित होना प्रमुख माना है- जब शुक्रशोणित गर्भ कुपित वात से युक्त हो जाता है, तब इसके कारण महिला का उदर फूल जाता है तथा कभी-कभी अचानक स्वतः अदृश्य भी हो जाता है। अतः इसे नैगमेषापहृत कहते हैं। कश्यप[531] ने इसे दिव्यगर्भ या परिप्लुत गर्भ की संज्ञा दी है।

अद्यतन चिकित्सकों का मानना है कि मानसिक स्थिति के कारण प्रभावित हाइपॉथोलमस पूर्व पीयूष ग्रन्थि को प्रभावित करता है। अतः प्रोलैक्टीन किञ्चित् अधिक तथा गोनाडॉट्राफिक हारमोन आवश्यकता से कम निकलते हैं एवं उपरोक्त लक्षण स्त्री में दर्शित होते हैं।

4.8.1 मूढगर्भ व्याधि का परिचय :- गर्भिणी द्वारा सम्पूर्ण आहार या वंशानुगत के कारण गर्भ कई बार बड़ा होकर सामान्य प्रसव से बाहर नहीं निकलता और अपत्यपथ में आकर अवरुद्ध हो जाता है। गर्भ आगे नहीं बढ़ पाता एवं मूर्छित हो जाता है। इसे चिकित्सक मूढ़गर्भ कहते हैं। गर्भिणी में अपानवायु विमूढ़ होकर इस रोग को उत्पन्न करती है। इसमें गर्भिणी को मूत्रमार्ग एवं उदरबस्ति आदि में सूई चुभने के समान वेदना होती है। साथ ही गर्भिणी का मूत्र अवरुद्ध हो जाता है।

वर्तमानकालिक एलोपैथिक वैद्यकों ने भी कहा है कि- **"Labour is said to be obstructed when there is absence of progress in the presence of strong uterine contractions. Such absence of progress may be shown in failure of the cervix to dilate or failure of the presenting part to descend the birth canal."**[532]

---

529 तदेव कदाचिदार्तवं सौम्यैर्बृंहणात्मभिराहारविहारैः स्तम्भितमनुपद्रवमेवोदरं गर्भाधिष्ठितमिव वर्धयति। येन तामगर्भा गर्भिणीमाहुर्मूढाः॥ *अ०सं०*, शा० 1/16-17

530 शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मानापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते। *सु०सं०*, शा० 10/57

531 *का०सं०*, खि० 9/37-40

532 *मा०नि०*, भा०-2, पृ० 406

4.8.2 मूढ़गर्भ व्याधि का निदान :- *अथर्ववेद* में मूढ़गर्भ के हेतुओं का वर्णन नहीं मिलता है। मूढ़गर्भ में मूढ़ का अर्थ है- निरुद्ध गति अर्थात् गर्भावस्था का समय पूरा होने पर गर्भ जब बाहर आने लगता है तो किन्हीं कारणों से उसकी गति रूक जाती है। *सुश्रुतसंहिता* में मूढ़गर्भ के विषय में वर्णित है कि **"सर्वावयव मनोबुद्ध्यादि संयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढ़गर्भोऽभिधीयते॥"**[533] सुश्रुत ने मूढ़गर्भ के कारणों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है- मैथुन/सम्भोग, यान अर्थात् बैलगाड़ी, रथादि, वाहन अर्थात् अश्वादि की सवारी, पैदल यात्रा, प्रस्खलन या फिसलना, गिरना, प्रपीडन, दौड़ना, शस्त्रादि से चोट लगना, विषम शयन, विपरीत अवस्था में बैठना अर्थात् ऊकड़ू बैठना, वेगाभिघात, अतिरुक्ष भोजन, कटु-तिक्त भोजन, शोक, लवणीय द्रव्यों का अत्यधिक मात्रा में सेवन, वमन-विरेचन, अतिसार, प्रेङ्खोलन, अजीर्ण और गर्भपात कराने वाली औषधियों के प्रयोग करने से गर्भ नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष पर लदे फलों पर पत्थरादि से चोट करने पर फल नीचे गिर जाता है।[534] चरक एवं वाग्भट ने मूढ़गर्भ के कारणों का वर्णन नहीं किया है।

वृद्ध वाग्भट मूढ़गर्भ का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जब गर्भ विरुद्ध गति वाली वायु से दबकर और गतिहीन होकर गर्भाशय के बाहर आने के अपने स्वभाविक मार्ग को त्याग अर्थात् योनिमार्ग के विपरीत पथ से एवं स्वभाविक स्थिति को छोड़कर अर्थात् गर्भस्थ शिशु के सिर का सर्वप्रथम बाहर न आना, अन्य अनेक स्थितियों से अर्थात् हाथ या पाँव बाहर आते हैं, तब इसे मूढ़गर्भ कहते हैं।[535] *भावप्रकाश*[536] में भी मूढ़गर्भ रोग के उपर्युक्त कारण माने हैं। इसलिए वातदोष के कुपित होने के कारण वायु विपरीत गति में चलती है, जिसके कारण गर्भस्थ शिशु की अवस्थिति भी विपरीत हो जाती है, प्रसव के समय गर्भिणी को अत्यधिक वेदना होती है तथा गर्भस्थ शिशु के अन्य अंग बाहर आते हैं।

---

[533] *सु०सं०*, नि० 8/1 पर डल्हण की व्याख्या

[534] *सु०सं०*, नि० 8/3

[535] तं तु गर्भं कदाचिदसम्यगपत्यपथमनेकधा प्रतिपन्नं विगुणेन वायुना पीड़ितं मोहितं च मूढ़गर्भमित्याहुः। विगुणानिलप्रतिपीड़नवैचित्र्यादसंख्यगतिं च॥ *अ०सं०*, शा० 4/29

[536] *भा०प्र०*,पू० 70/113

4.8.3 मूढ़गर्भ व्याधि के लक्षण :- चरक ने मूढ़गर्भ के लक्षणों को इस प्रकार विवेचित किया है- **"गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिरः संकुच्यांगानि आस्तेऽन्तः कुक्षौ"**[537] अर्थात् गर्भ गर्भाशय में माँ की कमर की ओर मुख करके विद्यमान रहता है एवं उसका सिर ऊपर की ओर हो जाता है। वह अपने हाथ-पाँव आदि अंगों को संकुचित करके जरायु से ढ़के रखता है।

सुश्रुत ने मूढ़गर्भ के लक्षणों के सन्दर्भ में कहा है कि बंधन से मुक्त हुआ गर्भ गर्भाशय से निकलकर यकृत, प्लीहा और अन्त्र के बीच से नीचे की ओर गिरता हुआ आमाशय एवं पक्वाशय में क्षोभ पैदा होता है। अतः क्षोभ से उत्पन्न गर्भिणी की विकृत अपानवायु पार्श्व, बस्तिशीर्ष, पेट और योनि में चुभन एवं आनाह पैदा करती है। इसके साथ-साथ गर्भवती स्त्री का मूत्र मूत्रनली में रुक जाता है तथा रक्तसहित गर्भ को निःसरित कर देता है।[538] माधव[539] भी कुपित वात से योनि, जठरादि में पीड़ा, मूत्रावरोध के साथ मूढ़गर्भ की उत्पत्ति बताते हैं।

वाग्भट[540] ने मूढ़गर्भ के लक्षणों में चरक द्वारा कथित लक्षण ही माने हैं- जब गर्भिणी का गर्भ मूढ़ हो जाता है, तब गर्भ के हाथ-पैर, सिर की ओर से तिरछा होकर योनिद्वार में फँस जाता है अथवा गर्भस्थ शिशु का एक पैर योनिमार्ग में एवं दूसरा पैर गुदामार्ग में फँस जाता है। *अष्टांगसंग्रह*[541] में भी उपर्युक्त लक्षण स्वीकृत हैं।

4.8.4 मूढ़गर्भ व्याधि के भेद :- वस्तुतः मूढ़गर्भों की संख्या निश्चित करना कठिन है, फिर भी आचार्यों ने सुविधा के लिए संख्या निर्धारित की है। सुश्रुत ने मूढ़गर्भ के चार भेद माने हैं- **"ततः कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति"**[542] अर्थात् कील, प्रतिखुर, बीजक एवं परिघ हैं। *माधवनिदान, भावप्रकाश* एवं *योगरत्नाकर* में भी मूढ़गर्भ के सुश्रुत द्वारा कहे गए चार भेद ही माने गए हैं।[543] परन्तु हारीत[544] दोष प्राधान्य के आधार पर मूढ़गर्भ के सात भेद कहते हैं।

---

[537] *च०सं०*, शा० 6/22

[538] *सु०सं०*, नि० 8/3

[539] मूढ़ः करोति पवनः खलु मूढ़गर्भं। शूलं च योनि-जठरादिषु मूत्रसङ्गम्॥ *मा०नि०* 64/3 ; *भा०प्र०*, पू० 70/113

[540] हस्तपादसिरोभिर्यो योनिं भुग्नं प्रपद्यते। पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः॥ *अ०हृ०*,शा० 2/29

[541] *अ०सं०*, शा० 4/30

[542] *सु०सं०,* नि० 8/4

[543] संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीजः। *मा०नि०* 64/6 ; *भा०प्र०*, पू० 70/114 ; *यो०र०*, स्त्री०रो०, चि०

"तत्र ऊर्ध्वबाहुशिरः पादो यो योनिमुखं निरुद्धि कील इव स कीलः

निःसृतहस्तपादशिरः कायसङ्गी प्रतिखुरः

यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः

यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् स परिघ इति

चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते॥"[545]

क.कील :- इस मूढ़गर्भ में गर्भस्थ शिशु के हाथ, पैर और सिर ऊपर की ओर हो जाते हैं तथा वह योनिमुख में आकर कील की तरह फँस जाता है।

ख. प्रतिखुर :- इसमें गर्भ के सिर, हाथ और पाँव तो योनि से बाहर आ जाते हैं, परन्तु काय भाग फँस जाता है।

ग. बीजक :- इसमें सिर के साथ एक भुजा भी योनि से बाहर आ जाती है एवं एक भुजा अन्दर रहती है।

घ. परिघ :- इसमें गर्भस्थ शिशु योनिमुख में आकर अर्गलादण्ड के समान फँस जाता है। मूढ़गर्भ के चारों भेदों एवं आधुनिक नामों को सारणी द्वारा स्पष्ट किया गया है-

मूढ़गर्भ रोग के प्रमुख भेद

क्रम	नाम	आधुनिक नाम	लक्षण
1.	कील	Breech Presentation	हाथ, पाँव और सिर ऊपर की ओर आ जाते हैं।
2.	प्रतिखुर	Vertex presentation with prolapse of hands and legs.	हाथ, पाँव और सिर योनिमुख से बाहर आ जाते हैं परन्तु काय भाग फँस जाता है।
3.	बीजक	Vertex presentation with of one arm.	सिर के साथ एक भुजा योनि से बाहर आती है।
4.	परिघ	Transverse presentation.	इस गर्भस्थ शिशु योनिमुख में तिरछा स्थित होता है।

---

[544] *हा०सं०*, तृ० 52/4-8

[545] *सु०सं०*, नि० 8/4

सुश्रुत[546] इन चारों भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद भी माने हैं- १. दोनों टाँगों का योनिमुख में आना। २. किसी मूढ़गर्भ में केवल एक टाँग योनिमुख में आती है जब कि दूसरी टाँग संकुचित हो जाती है। ३. किसी मूढ़गर्भ में दोनों अधःशाखाएँ ऊपर की ओर मुड़ जाती है और स्फिक् देश योनि में तिर्यक् विद्यमान होता है। ४. किसी मूढ़गर्भ में वक्षःस्थल, पार्श्व या पृष्ठ में से कोई एक योनिमुख को रोक कर स्थित हो जाता है। ५. किसी मूढ़गर्भ में गर्भस्थ शिशु का सिर पार्श्वों के बीच में स्थित होता है तथा एक भुजा योनिद्वार पर आ जाती है। ६. कभी-कभी सिर मुड़ा हुआ होता है और दोनों भुजाएँ योनिमुख में विद्यमान होती है। ७. किसी मूढ़गर्भ में सिर, हाथ, पाँव योनिद्वार में होते हैं और मध्यभाग मुड़ा होता है। ८. कभी-कभी एक टाँग योनिद्वार में और दूसरी टाँग गर्भिणी की गुदा की ओर होती है। अतः *सुश्रुतसंहिता* में संक्षिप्त रूप से मूढ़गर्भ के अन्य आठ भेदों का विवेचन मिलता है। इनका वर्णन अन्य संहिताओं में नहीं मिलता। इन भेदों के लक्षण एवं आधुनिक नाम को सारणी द्वारा समझाया गया है-

मूढ़गर्भ रोग के लक्षण[547]

क्रम	लक्षण	आधुनिक नाम
1.	दोनों अधःशाखाओं का योनिमुख में आना	Both the legs presentation
2.	एक अधःशाखा योनिमुख में, दूसरी मुड़ी हुई	One les presentation
3.	दोनों अधःशाखाएँ ऊपर, स्फिक्प्रदेश योनिमुख में	Breech presentation
4.	छाती, पार्श्व या पीठ योनिमुख में अवरुद्ध	Chest or sides or back presentation
5.	सिर पार्श्वों के बीच, एक भुजा योनिमुख में	One hand presentation
6.	सिर मुड़ा हुआ, दोनों भुजाएँ योनिमुख में	Hands presentation
7.	सिर, हाथ-पाँव योनिमुख में एवं मध्यभाग मुड़ा हुआ	Head presentation with prolapse of two hands and legs
8.	एक टाँग योनिमुख में एवं दूसरी गुदा में	Footing prolapsed

[546] *सु०सं०*, नि० 8/5

[547] परिशिष्ट- 7 से 12 देखें

आधुनिक स्त्रीरोग विज्ञान में इसके अतिरिक्त भी मूढ़गर्भ[548] के भेद मिलते हैं- "1. Face presentation 2. Brow presentation 3. Breech presentation with extended legs 4. Shoulder presentation 5. Shoulder presentation with prolapsed of arm 6. Prolapse of arm with vertex presentation."

4.9.1 मूढ़गर्भ का उपद्रव मक्कल व्याधि :- आयुर्वेद में मक्कल का अर्थ है- तीव्र उदरशूल। सुश्रुत[549] मक्कल को मूढ़गर्भ का ही उपद्रव मानते हैं। वस्तुतः यह प्रसव के उपरान्त सफाई या स्वच्छता के नियमों का पालन न करने के कारण होने वाला रोग है, जिसमें अनेक प्रकार की वेदनाएँ, ग्रन्थिनिर्माण एवं मूत्रावरोध लक्षण नवप्रसूता को हो जाते हैं। सुश्रुत[550] ने मूढ़गर्भ के लक्षणों के विषय में कहा है कि प्रसव के उपरान्त यदि रूक्ष शरीर वाली स्त्री का तीक्ष्ण औषधियों द्वारा रक्त शुद्ध नहीं किया जाता है तो उसके गर्भाशय में स्थित प्रकुपित वात रक्त के प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है, जिससे नाभि के दोनों पार्श्वों एवं बस्ति या बस्तिशिर में ग्रन्थि पैदा हो जाती है। इसके कारण नाभि, उदर एवं बस्ति में शूल हो जाता है, पक्वाशय में सूइयों जैसी चुभन, भेदन एवं दारण जैसी वेदना होती है, नवप्रसूता के सम्पूर्ण उदर में आध्मान हो जाता है और मूत्र अवरुद्ध हो जाता है।

टीकाकार डल्हण[551] के मतानुसार गर्भिणी मक्कल रोग में गर्भ गर्भाशय से च्युत होकर योनिमार्ग में रुक जाने के कारण गर्भाशय से स्रवित रक्तस्राव अन्दर ही रुक कर पच्यमान होकर मक्कल संज्ञा प्राप्त करता है। यह उचित नहीं है क्योंकि मूढ़गर्भा स्त्री के असाध्यता के लक्षणों में प्रसव हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। टीकाकार आढ़यमल्ल ने वायु एवं रक्त से पैदा होने वाले विशिष्ट मक्कल्ल के दो भेद बताए हैं- गर्भावस्था में एवं सूतिकावस्था में। जो मानसिक एवं आगन्तुज व्याधियों से पीड़ित गर्भ उदर में पीड़ा उत्पन्न कर देता है, वह गर्भिणी मक्कल्ल रोग से पीड़ित है। जब मूढ़गर्भ रोग में मक्कल्ल प्रसव पूर्व रक्त-जन्य शूल या

---

[548] *सु०सं०*, भा०-1, पृ०-520

[549] गर्भकोषपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः। *सु०सं०*, सू० 33/13

[550] *सु०सं०*, शा० 10/22

[551] प्रसूताया वायुरसृग् आरोध्य बस्तिशिरः प्रभृतिषु शूलं करोति स मक्कल्लः। *सु०सं०*, नि० 8/6 पर डल्हण की टीका ; मक्कल्ल इति। मक्कल्लो रक्तमारुतजः शूलविशेषः। स द्विविधो भवति। एको गर्भावस्थायां, अपरः सूतिकावस्थायां इति। तद्यथा मनसागन्तुभिरुपतापैः प्रपीडितो यो गर्भः कुक्षौ वेदनां जनयति स गर्भमक्कल्लः। *शा०सं०*, पू० 7/181 पर आढ़यमल्ल की टीका

गर्भाशय की मांसपेशियों के अधिक या असामान्य संकोच-जन्य शूल होता है, उसे सूतिकावस्था मक्कल्ल कहते हैं।

नवयुगीन चिकित्सकों के अनुसार इस अवस्था में गर्भाशय तीव्र संकुचित ही नहीं होती, बल्कि इसकी संकुचन प्रक्रिया ही असामान्य हो जाती है। अतः इसके अधोलिखित लक्षण हैं-

- तीव्र एवं लगातार उदरशूल होना।
- कुछ समय के उपरान्त ज्वररोग तथा तीव्र नाडी की गति।
- गर्भोदक लगभग पूर्णतया निकल जाता है।

4.9.2 गर्भ पर मक्कल्ल का प्रभाव- गर्भ-शरीर का अपरा पर दबाव बनता है, जिसके कारण रक्त-संवहन में बाधा उत्पन्न होने पर गर्भस्थ शिशु की संभवतः मृत्यु भी हो सकती है।

4.9.3 गर्भिणी पर मक्कल्ल का प्रभाव- मक्कल्ल उत्पन्न होने पर उस मूढ़गर्भ से गर्भिणी की मृत्यु हो जाती है। अधुनातन वैद्य भी इस मत को मानते हैं कि यह अवस्थिति गर्भवती स्त्री के लिए हानि पहुँचा सकती है, क्योंकि इसमें गर्भाशय विदार की पूरी सम्भावना रहती है।

4.10.1 मृतगर्भ व्याधि का परिचय :- *अथर्ववेद* में मृतगर्भ के कारणों का वर्णन नहीं मिलता है। जब गर्भस्थ शिशु सातवें महीने या अट्ठाइसवें सप्ताह तक सामान्य रूप से विकसित होने के बाद गर्भ में ही मर जाता है, तब उसे मृतगर्भ की संज्ञा दी जाती है। मृतगर्भ स्वाभाविक प्रसव के समान स्वतः नहीं निकलता, अपितु उसे निकालना पड़ता है। वर्तमानकालिक चिकित्सा-विज्ञान में इसे **'Still Birth'** कहते हैं।

कभी-कभी प्रसवकाल के ठीक पूर्व तक गर्भस्थ शिशु में जीवन के सभी लक्षण मिलते हैं, गर्भिणी को प्रसव पीड़ा भी होती है। परन्तु जब शिशु पैदा होता है तब उसमें जीवन के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते, जैसे- हृदय का धड़कना, गर्भनाल का स्पन्दन होना, पेशियों में गति आदि। गर्भस्थ शिशु की प्रसव से ठीक पहले या प्रसव की अवधि में ही मृत्यु हो जाती है। अतः ऐसे शिशु को मृतजात कहते हैं।

अद्यतन चिकित्सा-विज्ञान में ऐसी मृत्यु को दो प्रकार से बाँटा गया है- प्रसवकालीन मृत्यु एवं नवजातावस्था में मृत्यु। प्रसवकाल तथा प्रसव होने के उपरान्त एक सप्ताह के अन्दर

होने वाली नवजात शिशु की मृत्यु को '**Perinatal mortality'** के अन्तर्गत तथा जन्म के बाद एक महीने के अन्दर होने वाली शिशु की मृत्यु को '**Neonatal mortality'** के अन्तर्गत रखा जाता है।

4.10.2 मृतगर्भ का निदान :- चरक ने मृतगर्भ के कारणों में दोषों का अपचय, आहार-विहार वैषम्य, मानसिक सन्ताप, उपवास, पूर्वजन्मकृत कर्म आदि को स्वीकार किया है- गर्भवती महिला के शरीर में दोषों के अत्यधिक संचय से, तीक्ष्ण, उष्ण भोजन का अधिक सेवन से, अपानवायु, मल या मूत्रवेगों को ज्यादा देर तक रोकने से, विपरीत भोजन करने से, विपरीत उठने, बैठने, सोने से, पेट पर दबाव पड़ने से, क्रोध, शोक, ईर्ष्या, भयादि के कारण तथा अपने बल से अधिक कार्य करने से गर्भस्थ शिशु गर्भाशय में ही मर जाता है।[552]

सुश्रुत ने मृतगर्भ के निदानों के विषय में कहा है कि- **"मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः। गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः॥"**[553] अर्थात् यदि गर्भवती स्त्री मानसिक तथा आगन्तुज आमयों से आक्रान्त है अथवा अन्य व्याधियों से पीड़ित है तो गर्भस्थ शिशु की गर्भाशय में ही मृत्यु हो जाती है।

वाग्भट ने मृतगर्भ के विषय में है कि- गर्भवती स्त्री में कुपित वातादि दोषों के अत्यन्त संचय हो जाने से, अपथ्य आहार-विहार का बार-बार सेवन करने से अथवा भाग्यदोष से गर्भाशय के अन्दर गर्भस्थ शिशु मर जाता है, जिसके कारण गर्भवती स्त्री के उदर का स्पर्श शीतल, गतिहीन एवं अधिक कष्टप्रद हो जाता है। अतः चरक इस रोग जो के कारण माने हैं, वही वाग्भट भी स्वीकार करते है।

"गर्भेऽतिदोषोपचयादपथ्यैर्दैवतोऽपि वा।

मृतेऽन्तरुदरं शीतं स्तब्धं ध्मातं भृशव्यथम्॥"[554]

---

552 *च०सं०*, शा० 8/30

553 *सु०सं०*, नि० 8/13 ; तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुःखव्याधिभेदेन द्विविधं मरणहेतुमाह-मानसागन्तुभिरित्यादि। उपतापैः दुःखैः॥ *मा०नि०* 64/9 पर मधुकोश व्याख्या ; *भा० प्र०*, चि० 70/118

554 *अ०हृ०*, शा० 2/22

कश्यप[555] जातहारिणियों का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि जिसमें गर्भस्थ शिशु मर जाता है, उसे मृतगर्भ कहा जाता है। जब जातहारिणी गर्भस्थ शिशु के सम्पूर्ण अंगों वाले अर्थात् सात महीने या इसके बाद के गर्भस्थ शिशु का हरण कर लेती है तब इस अवस्था में गर्भिणी बड़े कष्ट से जीवित रहती है। जिसमें गर्भिणी का गर्भ स्पन्दन नहीं करता, उसे 'स्तम्भनी' जातहारिणी कहते हैं। कश्यप ने अन्य स्थान पर भी कहा है कि गर्भिणी के प्रसवकाल में किसी व्यवधान के कारण यदि गर्भस्थ शिशु मर जाता है तो उसे मृतजात गर्भ कहते हैं। इसे 'नाकिनी' जातहारिणी कहा गया है-

"जायते तु मृतं नित्यं यस्या नार्याः सवे सवे। नाकिनीमिति तां विद्याद्दारुणां जाहारिणीम्॥"[556]

इसके अतिरिक्त *काश्यपसंहिता*[557] में पिशाची एवं पुण्यजनी जातहारिणियों का वर्णन भी मिलता है- जिस महिला के सन्तान पैदा होते ही नष्ट हो जाती हैं, उस मांसभक्षी जातहारिणी को पिशाची एवं जिसकी नवजात पैदा होते ही मर जाते हैं, उसे भयंकर 'पुण्यजनी' जातहारिणी की संज्ञा दी जाती है।

अधुनातन चिकित्सा-विज्ञान गर्भाशय में गर्भस्थ शिशु की मृत्यु के निम्नोक्त कारण स्वीकारते हैं-

- कुपोषण।
- गुणसूत्र की विकृति।
- मधुमेह।
- उच्च रक्तचाप।
- गर्भविकृति।
- गर्भाशय संक्रमण।
- गर्भावसाद।
- विकृत अपरा।

---

[555] सम्पूर्णाङ्गं यस्या गर्भं हरते जातहारिणी। कालरात्रीति सा प्रोक्ता दुःखात् स्त्री तत्र जीवतित॥
यस्या न स्पन्दते गर्भः स्तम्भनी नाम सा स्मृता। *का०सं०*, क०रे० 38, 40

[556] *का०सं०*, क०रे० 42

[557] *का०सं०*, क०रे० 43, 51

- प्रसव पूर्व रक्तस्राव।[558]

4.10.3 मृतगर्भ व्याधि के लक्षण :- चरक ने मृतगर्भ रोग के लक्षणों में गर्भस्थ शिशु का स्पन्दनहीन होना, अत्यधिक शूल होना आदि लक्षण बताए हैं- गर्भवती स्त्री का पेट निश्चल, जकड़े हुए तनाव से युक्त, शीतल एवं जैसे पेट में पत्थर का टुकड़ा पड़ा हो, ऐसा गर्भिणी को लगता है। गर्भ स्पन्दन से रहित, अत्यधिक शूलयुक्त होता है। उसको प्रसव की पीड़ा नहीं होती और न ही योनिमुख से रक्त बाहर निकलता है। उसकी आँखें अन्दर की ओर धँस जाती है, वह ग्लानि से मलिन रहती है, व्यथा से पीड़ित होती है, चक्कर आते रहते हैं, साँस बढ़ जाती है, अत्यधिक बेचैन हो जाती है। गर्भवती के मल-मूत्रादि के वेग भी सम्यक् रूप से नहीं उठते हैं।[559] अतः प्रसवकाल में गर्भस्थ शिशु की साँस अवरुद्ध होने से या कष्टप्रद प्रसव में होने वाली मृत्यु के अतिरिक्त कई बार प्रसव के निर्धारित समय से पहले ही गर्भस्थ शिशु मर जाता है। सुश्रुत ने भी भ्रूण के हृदय की गति का रुकना, प्रसव-वेदनाओं की अनुपस्थिति, श्यावता, पाण्डुता, गर्भिणी की साँस से दुर्गन्ध आना, वेदना की उपस्थिति आदि लक्षण स्वीकार करते हैं-

"गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।

भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ॥"[560]

वाग्भट[561] मृतगर्भव्याधि के उपरोक्त लक्षण मानते हैं एवं इनके अतिरिक्त बिना परिश्रम के थकावट होना तथा आँखों का अपने स्थान से नीचे की ओर झुकना, ये लक्षण भी माने हैं।

वृद्ध वाग्भट[562] भी उपर्युक्त लक्षण स्वीकारते हैं तथा इनसे अतिरिक्त गर्भिणी का मन उदास रहता है, रात-दिन रोती रहती है, उसे नींद नहीं आती, बड़ी कठिनाई से जीवन धारण किए रहती है एवं अत्यधिक कठिनाई से भोजन ग्रहण करती है।

---

[558] *अ०प्र०त०*, पृ०-236

[559] *च०सं०*, शा० 8/30

[560] *सु०सं०*, नि० 8/12 ; *भा०प्र०*, चि० 70/117

[561] *अ०हृ०*, शा० 2/23

हारीतसंहिता[563] में मृतगर्भ के उपर्युक्त पूर्वरूपों को नहीं माना गया है- जब गर्भवती स्त्री भ्रमयुक्त हो, मूर्च्छा, अधिक प्यास, पेट फूलना, वात अवरुद्ध, बेचैनी, वमन एवं पारुष्य आदि लक्षण दिखाई दे तो गर्णिणी का गर्भस्थ शिशु मरा हुआ समझना चाहिए।

4.10.4 मृतगर्भ की अवस्थाएँ :- आयुर्वेद की संहिताओं में मृतगर्भ के लक्षणों के आधार पर तीन अवस्थाएँ स्वीकृत हैं- गर्भाशयान्तर्गत मृतगर्भ, मृतजात गर्भ एवं जातमात्र मृतगर्भ, जिसे सारणी द्वारा सरलतया समझा जा सकता है-

क्रम	अवस्थाएँ	अर्थ
1.	**गर्भाशयान्तर्गत मृतगर्भ**	गर्भिणी के गर्भाशय के अन्दर ही गर्भस्थ शिशु की मृत्यु।
2.	**मृतजात गर्भ**	गर्भिणी के प्रसव के समय गर्भस्थ शिशु की मृत्यु।
3.	**जातमात्र मृतगर्भ**	प्रसवोपरान्त प्रथम दिन ही नवजात की मृत्यु।

आधुनिक स्त्री-रोग विज्ञान के मतानुसार गर्भिणी की इस अवस्था में निम्नोक्त लक्षण दिखाई देते हैं-

- गर्भिणी को गर्भ की गति प्रतीत नहीं होती।
- गर्भ की हृदय ध्वनि अनुभूत नहीं होती।
- एक्स-रे द्वारा मृतगर्भ का निदान सम्भव है परन्तु इसकी उपयोगिता सीमित है, क्योंकि इसके द्वारा उपचार गर्भावस्था के उत्तरार्ध में ही सम्भव है। अतः एक्स-रे मशीन द्वारा अधोलिखित चिह्न मिल सकते हैं-

➢ गर्भस्थ शिशु के सिर की अस्थियाँ, कपाल सीवन (Cranial suture) एक दूसरे पर चढ़ने लगते हैं। इस चिह्न को स्पाल्डिंग साइन (Spaldings sign) कहते हैं। यह गर्भ-मृत्यु के 1-2 सप्ताह बाद ही मिलता है।

➢ गर्भ के रीढ़ की हड्डियों की वक्रता या आकुञ्चन अधिक (Hyperflexion) हो जाती है।

---

[562] *अ०सं०*, शा० 4/28

[563] *हा०सं०*,तृ० 52/9-10

- गर्भ के हृदय में तथा बड़ी शिरा एवं धमनियों में गैस शैडो मिलती है। इस लक्षण को रार्बरिस साइन कहते हैं। यह लक्षण गर्भमृत्यु होने पर शीघ्र ही मिलता है, परन्तु ऐसा बहुत कम स्त्रियों में लक्षित होता है।
- पराध्वनि द्वारा ही इसका शत-प्रतिशत सफल निदान संभव है।
- गर्भोदक परीक्षण से भी अर्थात् जिसमें क्रिएटीन फास्कोकाइनेज सान्द्रता 30 से बढ़कर 1000 nu/ml. तक हो जाती है।[564]

4.11.1 रक्तगुल्म व्याधि का परिचय :- यह गुल्म स्त्री की योनि में होता है। अतः इसे योनिगुल्म भी कहते हैं। नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञान में गर्भाधान के बाद की एक ऐसी विकृत स्थिति वर्णित है, जिसे अंगुरीमोल कहते हैं। यह एक प्रकार की **'Abnormal Pregnancy'** है। इसके लक्षण आदि योनिगुल्म में समानता रखते हैं। इस रोग में जरायु अंकुर में विकार होने पर छोटी-२ अनेक पिडिकाएँ जैसी आकृतियाँ बन जाती है, जिसका आकार सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होकर २ से०मी० तक हो सकता है। यह विकृति प्रायशः गर्भावस्था के आरम्भ में होती है, लेकिन कभी-कभी यह विकृति अपरा निर्माण के बाद भी प्रारम्भ हो जाती है, जिसके कारण अपरा के कुछ अंशों में पीडिकाएँ दिखाई देती है, कुछ अंश नाभिनाड़ी में तथा गर्भ भी मरा हुआ प्रतीत होता है। अतः यह विकृति देखने पर पहचानी जा सकती है।

इस रोग में गर्भ कई सप्ताहों तक गर्भाशय में पड़ा रहता है। गर्भवती स्त्री को बार-बार रक्तस्राव होता है, विकृत गर्भ सूख जाता है, गर्भोदक शुष्क होकर गर्भ की वृद्धि को रोक देता है। स्त्री का प्रेग्नेंसी टेस्ट निगेटिव आ जाता है। आयुर्वेद की संहिताओं में रक्तगुल्म रोग को गुल्म के प्रकार के रूप में स्वीकार करते हैं। गुल्म का मूल कारण कुपित वायु है, जिसकी उत्पत्ति गूढ़ मूल वाले कन्दादि की तरह होती है।

आयुर्वेद की सभी संहिताओं में गुल्म के त्रिविध दोषों अनुसार पाँच एवं आठ भेद[565] माने गए हैं जिनमें रक्तगुल्म भी एक प्रमुख भेद है।

---

[564] *प्र०त०*, पृ० 237

[565] *च०सं०*, नि० 3/3 ; *सु०सं०*, उ० 42/3 ; *अ०हृ०*, नि० 11/32 ; *अ०सं०*, नि० 11/34 ; *शा०सं०*, पू० 7/52

4.11.2 रक्तगुल्म व्याधि का निदान :- *अथर्ववेद* में रक्तगुल्म व्याधि के कारणों का विवेचन नहीं मिलता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में रक्तगुल्म आमय के विषय में कहा गया है कि रक्तगुल्म व्याधि केवल महिलाओं में होती है, पुरुषों में नहीं।[566] क्योंकि गर्भाशय में आर्तव अवरुद्ध हो जाने पर ही पैदा होता है। चरक[567] ने रक्तगुल्म के हेतुओं का विवेचन करते हुए कहा है- गर्भवती महिलाएँ पराधीन होने के कारण, अशिक्षित, अज्ञानता के कारण, पति आदि की सेवा में लगे रहने के कारण मल-मूत्र आदि के वेगों को रोक लेती है या अपरिपक्व गर्भ का पतन हो जाता है या प्रसव को अधिक समय नहीं हुआ हो तब या मासिकधर्म की स्थिति में वात को प्रकुपित करने वाले आहार तथा विहार का उपयोग करती है, जिससे शीघ्र ही वायु विकृत होकर बढ़ जाती है। तत्पश्चात् वह रक्तगुल्म आमय से रोगी हो जाती है।

सुश्रुत रक्तगुल्म रोग के हेतुओं को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं- जब सद्यःप्रसूता महिला अहितकर भोजन का सेवन करती है या जिसका छः महीने पहले गर्भपात हुआ हो या जो मासिकधर्म में अपथ्य का सेवन करती है उसकी वात विकृत हो जाती है और रक्त में 'गुल्म' का प्रादुर्भाव होता है, जिससे स्त्री को पीड़ा एवं जलन होती है।

"नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।

वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥"[568]

वाग्भट[569] भी रक्तगुल्म के यही हेतु मानते हैं और रुके हुए आर्तव से गर्भाशय में अभिवृद्धि होती है, इस प्रकार कहते हैं। कश्यप[570] ने उपर्युक्त हेतुओं का वर्णन करते हुए कुछ अन्य कारण भी बताए हैं- जिस स्त्री का प्रसव सम्यक् रूप से नहीं हुआ हो, जिसका गर्भ अपूर्ण हो, बहुत अधिक मैथुन करती हो, आर्तव ठण्डा हो, प्रायशः उदावर्त रोग होता हो,

---

[566] अनेनहेतुना स्त्रीणां रक्तगुल्मो हि जायते। तदाशयस्य चाभावात् पुरुषाणां च जायते॥ *का०सं०*, खि० 18 ;
रक्तगुल्मस्तु स्त्रिया एव प्रजायते। *अ०हृ०*, नि० 11/49 ;
शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तवगमनवैशेष्यात्। *च०सं०*, नि० 3/13

[567] *च०सं०*, नि० 3/13 ; *च०सं०*, चि० 5/18

[568] *सु०सं०*, उ० 42/13 ; *भा०प्र०*, चि०32/17 ; *मा०नि०* 28/15

[569] *अ०हृ०*, नि० 11/50 ;
रक्तगुल्मस्तु गर्भकोष्ठार्तवोपगमनवैष्यात्पारतन्त्र्यादवैशारद्यादपचारानुरोधाश्च स्त्रिया एव भवति॥ *अ०सं०*, नि० 12/44,45

[570] *का०सं०*, गु०चि० 15-16

जिससे वात के कारण गर्भाशय में आर्तव इकट्ठा हो जाता है एवं कुछ सप्ताह बाद स्त्री में गर्भयुक्त लक्षण दिखाई देने लगते हैं, जिसे देखकर स्त्री को गर्भ से सम्पन्न समझा जाता है। *काश्यपसंहिता*[571] में अन्य स्थान पर विवेचन करते हुए कहा गया है कि जब मासिकधर्म के समय स्त्री लज्जा, डर या सम्भोग के कारण वेगों को रोकती है अथवा अन्य कारणों से कुपित हुई वायु रक्त को लेकर स्त्रोतों में पहुँचती है तब स्त्री के गर्भाशय में पहुँचने पर रक्त बनने लगता है, जिसके कारण कुछ सप्ताह बाद स्त्री में गर्भ के लक्षण देखे जाते हैं। *भेलसंहिता*[572] में भी रक्तगुल्म के उपर्युक्त कारण स्वीकार किए हैं। अतः रक्तगुल्म के हेतुओं को अधोलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं-

क. रक्तगुल्म में गर्भवत् चेष्टा का कारण- वस्तुतः रक्तगुल्म गर्भ की तरह चेष्टा नहीं करता, लेकिन गर्भ सदृश होने के कारण एवं यह गर्भ ही है, इस प्रकार स्त्री के मन में भावना होने पर गर्भवती स्त्री के समान अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करती है।

ख. रक्तगुल्म में दौहृद का कारण- प्रायः रस रक्तादि अन्य धातुओं की वृद्धि में हेतु होता है। उत्पत्ति धर्म की समानता से स्त्री रसों के सेवन की इच्छा करती है, क्योंकि यह व्याधि वात और पित्त दोष के कुपित होने पर गर्भाशय में रक्त के इकट्ठा होने के कारण होता है। अतः स्त्री कड़वे, खट्टे एवं लवणादि रसों की तीव्र इच्छा करती है।

ग. रक्तगुल्म में स्तन्योत्पत्ति का कारण- स्त्री यह समझती है कि वह गर्भवती हो गई है एवं प्रेम तथा स्नेह के कारण स्तन्योत्पत्ति हो जाती है।

घ. रक्तगुल्म में पाण्डुता का कारण- सभी रसवहा नाड़ियाँ नाभि के चारों ओर आश्रित होती है। वह गर्भ स्त्री में रसवहा नाड़ियों का पीड़न करती है। उसी प्रकार रक्तगुल्म भी पीड़न करता है। उनके पीड़ित होने के कारण शरीर में सम्यक् प्रकार से रस का संवहन नहीं होता, जिसके कारण गण्डप्रदेश में पाण्डुतादि के लक्षण होते हैं।

ङ. रक्तगुल्म में वृद्धि होने का कारण- स्त्री रक्तगुल्म को गर्भ समझ कर आघातादि से बचाती है। इस प्रकार रक्षा करने से गुल्म शनैः शनैः वृद्धि करता है।

---

[571] *का०सं०*,खि०र०गु० 24-26

[572] *भे०सं०*, नि० 3/21

च. रक्तगुल्म के स्वयमेव भेदन का कारण- हानि पहुँचाने वाले कारणों से कुछ ही समय के बाद नीचे से फटे हुए जल के घड़े के समान इसका भेदन हो जाता है।

वर्तमानकालिक चिकित्सा-विज्ञान में इस व्याधि के निम्नोक्त कारण माने गए हैं- आयु, पोषण, माता की बाधित प्रतिरक्षात्मक प्रक्रिया, इतिवृत एवं कोशिकीय असामान्यता।

- **आयु**- यह व्याधि गर्भ ग्रहण करने योग्य आयु के प्रारम्भिक एवं अन्तिम वर्षों में अधिक होती है अर्थात् २० वर्ष से पहले तथा ३५-४० के बाद अधिक होती है। ४५ वर्ष के बाद २०-४० वर्ष की तुलना में दस गुना बढ़ जाती है।
- **पोषण**- असम्यक् पोषण। विशेषतया उच्चकोटि के प्रोटीन का बहुत कम सेवन करने के कारण।
- **माता की बाधित प्रतिरक्षात्मक प्रक्रिया**- ए बी रक्तवर्ग की महिलाओं में अपेक्षाकृत आधिक्य एवं यकृत व्याधि की अनुपस्थिति में भी रक्त में गॉमाग्लोब्यूलिन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।
- **कोशिकीय असमानता**- पूर्णमोल में, सूत्र विरहित या निष्क्रिय सूत्र वाला स्त्रीबीज अर्धसूत्रीय विभक्त होकर पुंबीज से गर्भित हो जाता है। पुंबीज के सूत्र अर्धसूत्रीय विभक्त होने के बाद पूर्णसूत्रीय रूप में विभाजन हो जाता है। अतः मोल कैरियाटाइप ४६ गुणसूत्र का होता है, कोई ४५ गुणसूत्र भी हो सकता है। ये सभी गुणसूत्र पितृज होते हैं इसे एण्ड्रोजेनिसिस कहते हैं। अपूर्ण मोल में २३ गुणसूत्र स्त्रीबीज या तो अर्धसूत्रीय दो पुंबीजों अथवा एक ही पूर्णसूत्रीय पुंबीज से गर्भित होता है।
- **इतिवृत्त**- इस रोग के होने के कारण बहुप्रसवा महिलाओं में अपेक्षाकृत अधिकता।

4.11.3 रक्तगुल्म व्याधि की सम्प्राप्ति :- उपर्युक्त हेतुओं से कुपित हुई वायु जब योनिमुख में प्रवेश करती है तब कुपित वायु ऋतुधर्म को अवरुद्ध कर देती है। यह आर्तव प्रत्येक मास अवरुद्ध होकर उदर में वृद्धि कर देता है और स्त्री का पेट फूल जाता है, जिसे अज्ञानतावश स्त्री स्वयं को गर्भयुक्त समझ लेती है। चरक ने रक्तगुल्म के सन्दर्भ में कहा है कि-

"स प्रकुपितोयोनिमुखमनुप्रविश्यार्तवमुपरुणद्धि,

मासि मासि तदार्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्धयति।"[573]

सुश्रुतसंहिता में इस व्याधि की सम्प्राप्ति के लक्षण प्राप्त नहीं मिलते हैं। वाग्भट[574] ने कहा है कि- प्रकुपित वात के कारण योनिमुख को अवरुद्ध करके गर्भाशय में आर्तव को रोक देता है। यह आर्तव प्रत्येक मास गर्भाशय में इकट्ठा होता रहता है एवं रुका हुआ आर्तव गर्भाशय को बढ़ा देता है, जिसके कारण स्त्री में जी मिचलाना, स्तनों में दूध का आना, चेहरे आदि का सूखना आदि गर्भयुक्त लक्षण प्रत्यक्षतः देखे जा सकते हैं। वृद्ध वाग्भट[575] ने इन गर्भयुक्त लक्षणों के अतिरिक्त तन्द्रा, अंगों में शिथिलता एवं दौहृद लक्षण भी बताए हैं।

कश्यप[576] ने भी रक्तगुल्म की सम्प्राप्ति इस प्रकार बताई है- स्त्री की कुपित वायु योनि में पहुँच कर आर्तव को अवरुद्ध कर देती है, जिसके कारण मासिक स्राव इकट्ठा हो जाता है। इसलिए रक्त के अवस्थित होने पर स्त्री स्वयं को गर्भवती समझने लगती है परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह रक्तगुल्म रोग से ग्रस्त है। *भेलसंहिता*[577] में भी वर्णित है कि- कुछ मास पहले हुए गर्भस्राव अथवा प्रसव होने पर या अतिप्रजनन या अप्रजनन होने या भारवहन करने के कारण रक्त का वायु द्वार आध्मापन हो जाता है, रक्त के गर्भाशय में स्थित हो जाने के कारण स्त्री अपने को गर्भिणी मानती है परन्तु वास्तविक रूप में वह रक्तगुल्म व्याधि से आक्रान्त होती है।

4.11.4 रक्तगुल्म व्याधि का लक्षण :- सद्यप्रसव, आमगर्भपात एवं आर्तवस्राव तीनों अवस्थितियों में गर्भाशय समान रूप से प्रभावित हो जाता है, इसलिए इन तीनों अवस्थाओं में अपथ्यसेवन के परिणामस्वरूप रक्तगुल्मरोग हो जाता है। *चरकसंहिता*[578] में रक्तगुल्म रोग के सन्दर्भ में वर्णित है कि इस रोग से पीड़ित स्त्री के पेट में वेदना, कास, अतिसार, उल्टी, अरुचि, अपचन, अंगमर्द, नींद, आलस्य, गीले कपड़े से ढ़का हुआ-सा प्रतीत होना एवं मुख से

---

573 *च०सं०*,नि० 3/14

574 *अ० हृ०*, नि० 11/51

575 *अ०सं०*,नि० 12/45

576 निरुणद्ध्यार्तवं तत्र मासिकं संचिनोति च। रक्ते च संस्थिते नारी गर्भिण्यस्मीति मन्यते॥ *का०सं०*, गु०चि० 17

577 *भे०सं०*, नि० 3/22-24

578 *च०सं०*, नि० 3/14 ; *च०सं०*, चि० 5/19 ; *मा०नि०* 28/16 ; *भा०प्र०* 32/18

कफ निकलना, ये लक्षण गर्भिणी में प्रत्यक्षः देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्री के स्तनों से दूध का आना, होंठ और मुखमण्डल में काला रंग दिखना, आँखों में ग्लानि, बेहोशी, जी मिचलाना, दौहृद, पैरों में सूजन, नाभि में रोमराजि का उठना, योनि का फैल जाना, योनि से दुर्गन्ध आना एवं योनि से पानी निकलते रहना आदि लक्षण होते हैं। महिला का सम्पूर्ण गुल्म गोले के सदृश फड़कता है, जिसे अनुभवहीन मनुष्य अज्ञानतावश स्त्री को गर्भ न रहने पर भी गर्भिणी कहते हैं।

सुश्रुत ने आर्तवगुल्म के लक्षण पित्तजगुल्म के लक्षणों के सदृश माने है। अतः यहाँ पित्तजगुल्म[579] के लक्षणों का देखना आवश्यक है- रोगी को पसीना आना, ज्वर होना, आहार करने पर जलन की अनुभूति, सम्पूर्ण शरीर में जलन, प्यास, शरीर के अवयवों का लाल होना, मुँह का स्वाद कड़वा एवं पित्त के सम्पूर्ण लक्षणों की उपस्थिति होती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भ में स्पन्दन नहीं होता, न उदर में वृद्धि होती है एवं न ही गर्भिणी के लक्षण उपस्थित होते हैं। अतः उसकी चिकित्सा गर्भकाल के बीत जाने पर अर्थात् दस मास के बाद करनी चाहिए।

वाग्भट[580] कहते हैं कि रक्तगुल्म के लक्षणों में वात दोष के संसर्ग से पित्तदोष के कुपित होने से आर्तव गुल्म में पीड़ा, जड़ता, जलन, दस्त, पिपासा, ज्वर आदि उपद्रवों को पैदा कर देता है। गर्भाशय में अत्यधिक कष्टदायक शूल होता है, क्योंकि यह दूषित रक्त का आधार हो जाता है। इसके अन्य लक्षण चरक द्वारा बताए गए रक्तगुल्म के लक्षणों के समान हैं।

काश्यपसंहिता[581] में भी रक्तगुल्म आमय के उपर्युक्त लक्षण माने गए हैं तथा रक्तगुल्म व्याधि होने पर रोगी को निरन्तर अन्धेरा दिखाई देना, शरीर कमजोर होना, पेट में गांठे होना एवं शरीर नीला होना, स्तनों का मध्यभाग, नाभि एवं लोमराजि मूर्च्छित दिखाई

---

[579] *सु०सं०*, उ० 42/11 ; न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिं भवन्ति लिंगानि च गर्भिणीनाम्।
तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यमसृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः॥ *सु०सं०*, उ० 42/14-15

[580] *अ०हृ०*, नि० 11/51-53

[581] *का०सं०,* खि० 30-35, *का०सं०*, चि० 18-19

देना, अनेक प्रकार के रसों अर्थात् अम्ल आदि रसों की इच्छा होना एवं बारम्बार थूकना आदि लक्षण होते हैं, जिसे स्त्री गर्भयुक्त लक्षण समझकर स्वयं को गर्भिणी मानती है।

अतः रक्तगुल्म व्याधि में वमन, अतिसार, ज्वरादि उपद्रव हो जाते है एवं स्त्री का आर्तव अवरूद्ध होकर गर्भाशय में रुक जाता है, जिससे उसमें गर्भिणी युक्त लक्षण दिखाई देते हैं एवं वह स्वयं को गर्भवती समझने लगती है। यदि इसके लक्षणो की चर्चा करे तो सुश्रुत को छोड़कर सभी आचार्य लगभग एक समान लक्षण बताते हैं। सुश्रुत पित्तजगुल्म में जो लक्षण होते हैं वही रक्तगुल्म के भी लक्षण मानते हैं। अतः आयुर्वेद की संहिताओं में वर्णित रक्तगुल्म के लक्षणों को निम्नोक्त प्रकार से विभक्त कर सकते हैं-

सामान्य- ज्वर, कास, वेदना, नींद, आलस्य, अंगमर्द, पैरों में सूजन, पाण्डु, मूर्च्छा, कमजोरी एवं उदर में ग्रन्थियाँ होना।

पाचन संस्थान संबंधी- शूल, अरुचि, अविपाक, वमन, अतिसारादि।

गर्भ संबंधी- स्तन-वृद्धि, कुक्षि-वृद्धि, चिरकाल में शूल के साथ स्पन्दन, दौहृद, रोमराजी।

प्रजनन संस्थान संबंधी- अनार्तव, गर्भाशय शूल, योनि से दुर्गन्ध युक्त स्राव, रक्त का एकत्रीकरण, तोद, भेद, योनिविस्फार, स्वयं भेदित हो जाने की प्रवृत्ति एवं भेदन होने से रक्तस्राव का होना।

अधुनातन चिकित्सा-शास्त्र में रक्तगुल्म व्याधि के निम्नोक्त लक्षण बताए गए हैं-

- योनिगत रक्तस्राव।
- कभी-कभी मोलर ऊतक भी निकलते हैं।
- गर्भाशय वृद्धि प्रायः अनार्तव काल से अधिक लगभग ५०%, लेकिन कभी-कभी सामान्य एवं कम भी होती है।
- गर्भस्थ हृदयध्वनि सुनाई नहीं देती है।

4.11.5 रक्तगुल्म और गर्भ में अन्तर :- वैद्य द्वारा उपचार की दृष्टि से रक्तगुल्म एवं गर्भ में अन्तर अवश्य कर लेना चाहिए। *काश्यपसंहिता* में भी कहा गया है कि जो गर्भ में गुल्म की

तथा गुल्म में गर्भ की चिकित्सा करता है वह अपयश एवं पाप का भागी होता है। रक्तगुल्म एवं गर्भ में अन्तर अधोलिखित वर्णित है-

क्रम	रक्तगुल्म के लक्षण	गर्भ के लक्षण
1.	पिण्ड रूप में, लोष्ट के समान एवं नाभि के नीचे बंधन युक्त, कुछ स्पन्दन करता है या कभी-कभी स्पन्दन नहीं करता।	भ्रूण के अंग-प्रत्यंगों में, स्वतन्त्र रूप से और तीव्र गति से स्पन्दन होता है।
2.	चिरकाल में शूल के साथ स्पन्दन करता है।	बिना शूल के ही स्पन्दन करता है।
3.	गुल्म की वृद्धि होती है, उदर की नहीं।	गुल्म के साथ पेट की भी वृद्धि होती है।
4.	पेट में ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती है एवं स्तनान्तर तथा नाभि प्रदेश में नीले निशान दिखाई देते हैं।	इसमें कोई निशान नहीं दिखाई देते हैं।
5.	यह धीरे-धीरे बढ़ता है और बढ़ने का निश्चित क्रम नहीं होता।	गर्भ प्रतिदिन बढ़कर क्रमशः मासानुमासिक वृद्धि होती है।
6	इसमें बिना किसी कारण के खाँसी, दस्त, निद्रा, ज्वर एवं जलनादि अनेक उपद्रव होते हैं।	इसमें गर्भिणी को विशिष्ट कारण होने पर खाँसी, दस्त, ज्वर एवं जलनादि रोग दिखाई देते हैं।
7.	गर्भाशय में वेदना तथा योनि से दुर्गन्ध युक्त स्राव होता है।	इसमें इस प्रकार का कोई लक्षण नहीं होता।
8.	गुल्म का भेद होने पर केवल रक्त का स्राव होता है।	गर्भपात या प्रसव होने पर रक्त के साथ-साथ गर्भ भी बाहर निकलता है।

4.11.6 रक्तगुल्म का नैदानिक परीक्षण :- इसके अन्तर्गत चार प्रकार के परीक्षण होते है- कोरियॉनिक गोनाडोट्राफिन का मात्रात्मक आकलन, एमनियोग्राम, क्ष-किरण परीक्षा एवं पराश्रव्य परीक्षण।

क. कोरियॉनिक गोनाडोट्राफिन का मात्रात्मक आकलन- गर्भिणी का तीन मास से अधिक गर्भ होने पर १ : २०० या १ : ५०० में मूत्र लिया जाता है, जिसमें एच०सी०जी० की उपस्थिति ज्ञात की जाती है या ०.३ से ३ मिलियन अन्तर्राष्ट्रीय इकाई का २४ घण्टे में मूत्र निकलना मोल का द्योतक है। इसके साथ रक्त में भी एच०सी०जी० की मात्रा का अध्ययन किया जाता है। गर्भिणी के बहुगर्भता में एच०सी०जी की मात्रा की अधिकता तथा अत्यधिक व्यक्तिगत वैभिन्नता इस परीक्षण के महत्त्व को सीमित कर देता है।

ख. एमनियोग्राम- स्त्री की उदरभित्ति के मार्ग से गर्भाशय के अन्दर हाइपेक २० मिलीलीटर की मात्रा में ५-१० मिनट में सूचिकाभरण कर क्ष-किरण परीक्षा करने पर **'हाइडेटीफार्म मोल'** एक मधुमक्खी के छत्ते के समान दिखाई देता है। वस्तुतः इसका प्रयोग स्वस्थ गर्भ के स्रवित या पतित होने के डर से नहीं किया जाता।

ग. क्ष-किरण परीक्षा- १६ सप्ताह के बाद पेट की क्ष-किरण परीक्षा में गर्भ के अंगों की छाया की अनुपस्थिति मोल द्योतक होती है। जुड़वां गर्भ, तीव्र गर्भोदक आधिक्य आदि से भी कभी-कभी गर्भ के अंगों की छाया दिखाई नहीं देती।

घ. पराश्रव्य परीक्षण- यह सबसे अधिक विश्वसनीय एवं अधिकतम प्रयुक्त विधि है। इसमें प्रारम्भिक सगर्भता के साथ गर्भाशय, मांसार्बुद, बहुगर्भता आदि शंका होने पर दो सप्ताह के बाद पुनः परीक्षण निश्चितरूप से निदान कर देता है।[582]

4.11.7 रक्तगुल्म व्याधि के भेद :- सामान्यतया इस व्याधि के तीन प्रकार माने गए हैं- रक्तगुल्म या अंगूरीमोल, कॉरियॉ एडिनोमा डिस्ट्रुएन्स एवं कॉरियॉन इपिथिलियॉमा। नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञान दृष्टया रक्तगुल्म व्याधि के तीन भेद स्वीकृत हैं-

क. रक्तगुल्म या अंगूरीमोल- पूर्ण एवं अपूर्ण या अर्धमोल।

ख. गर्भावस्थीय बीजपोषकस्तर के अर्बुद- इसके अन्तर्गत स्थानिक रोगव्याप्ति- गर्भाशय तक ही सीमित या कॉरिया एडिनॉमा डिस्ट्रुएन्स एवं दूरस्थ रोग व्याप्त होना।

ग. बीजपोषक स्तर की अवशिष्ट व्याधि- कुछ विद्वान् अंगूरीमोल के निकल जाने के बाद अवशिष्ट अंश से पैदा होने वाले विकारों के कारण यह भेद भी मानते हैं।

4.11.8 अपरागत प्रसवपूर्व रक्तस्राव रोग का परिचय :- आयुर्वेदीय संहिताओं में अपरा, जरायु एवं उल्व तीन शब्दों का उपयोग मिलता है। जरायु शब्द कभी अपरा के पर्याय के रूप में तथा कहीं-कहीं उल्व के पर्याय के रूप में प्राप्त होता है। अपरा गर्भावस्था में गर्भाशय में रहने वाले एक ऐसा अंगावयव है, जिसका गर्भ के पोषण में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

---

[582] प्र०त०, पृ० 340

आयुर्वेद दृष्टया गर्भाधान होने के बाद गर्भ द्वारा आर्तववाही स्रोतस अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः स्त्री को आर्तवदर्शन नहीं होता। यही रुका हुआ आर्तव गर्भाशय में ऊपर की तरफ जाकर एवं एकत्र होकर अपरा का निर्माण करता है।

अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से आर्तव का अपरा निर्माण में कोई सम्बन्ध नहीं है। गर्भ की अवस्था में अपरा का निर्माण होना तथा आर्तव का न होना ये दोनों स्थितियाँ मिलती है तथा अपरा में रक्त बढ़ जाता है, सम्भवतः इसीलिए उन्होंने ऐसा अनुमान लगाया है।

आयुर्वेदज्ञ प्रसवोपरान्त अपरा पतन का वर्णन करते हैं। *चरकसंहिता* में कथित है कि **"यदा च प्रजाता स्यात्तदैवैनामवेक्षेत-काचिदस्या अपरा प्रपन्ना न वेति॥"**[583] अर्थात् जब स्त्री का प्रसव हो जाए, तब उस अवस्था में परिचारिकाओं में से कोई प्रसूता को ध्यान से देखे कि अपरा बाहर आ गई या नहीं।

4.12.1 अकाल प्रसव का परिचय :- स्त्री के अन्तिम आर्तव के दिन से गणना करने पर ३८ से ४२ सप्ताह के बीच का गर्भ, पूर्णकाल का गर्भ या प्रसवित शिशु होता है। इसके पूर्व का प्राक्कालिक तथा बाद का कालोत्तीर्ण स्थायी गर्भ कहलाता है। किन्तु आयुर्वेद की संहिताओं के अनुसार आठवें मास के बाद एक दिन भी व्यतीत हो जाने पर नौवें महीने से लेकर दसवें मास तक का समय प्रसवकाल कहा जाता है। *चरकसंहिता* में कथित है कि-

"तमिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरा दशमान्मासात्।

एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कक्षाववस्थानं गर्भस्य॥"[584]

अतः सामान्य काल से पहले अथवा बाद में होने वाले प्रसव को अकल प्रसव कहा जा सकता है। अकाल प्रसव को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-

1. पूर्वकालिक प्रसव या अप्रगल्भ शिशु-प्रसव (Preterm labour)।
2. कालातीत प्रसव या अतिप्रगल्भ शिशु-प्रसव (Post mature labour)।

---

583 *च०सं०*, शा० 8/41

584 *च०सं०*, शा० 4/25 ; तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम्। *अ०हृ०*, शा० 1/66 ;

4.12.2 अकाल प्रसव का निदान :- *अथर्ववेद* में अकाल प्रसव का वर्णन नहीं मिलता है। आयुर्वेद की संहिताओं में सुखप्रसव के अनेक कारण मिलते हैं, जिनके उपस्थित रहने पर ही गर्भ पूर्णकाल में परिपूर्ण देहयुक्त होकर सुखपूर्वक उत्पन्न होता है तथा विपरीत कारण अकाल प्रसव के कारण हैं। अतः *चरकसंहिता* में सुखप्रसव के विषय में वर्णित है कि-

"शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद् यस्योपचारश्च हितैस्तथाऽन्नैः।

गर्भश्च काले च सुखी सुखं च सञ्जायते सम्परिपूर्णदेहः॥"[585]

अर्थात् शुक्र, आर्तव, आत्मा, आशय एवं काल आदि सभी शुद्ध हों, गर्भिणी द्वारा हितकारक अन्न का सेवन किया गया हो, अन्य उपचार भी शुद्ध हों। तभी गर्भ परिपूर्ण शरीर होकर सुखपूर्वक पूर्णकाल में उत्पन्न होता है तथा विपरीत स्थिति होने पर अकाल प्रसव की सम्भावना होती है। हारीत[586] अकाल प्रसव के कारणों को स्पष्टरूप से व्यक्त करते हैं- वातादि दोषों के बल से गर्भ का प्रसव होता है और वात से प्रेरित गर्भ अपूर्ण दिवस अर्थात् प्रसव के पूरे हुए दिनों से पहले या बाद में पैदा होता है। जब वात अधिक प्रकुपित होता है तब गर्भ समय से पहले ही उत्पन्न हो जाता है।

4.12.3 पूर्वकालिक प्रसव का निदान :- गर्भ की आयु एवं प्रगल्भता में सामञ्जस्य होते हुए भी विभिन्नता है, जैसे ३२ सप्ताह का शिशु यद्यपि काल या आयु की दृष्टि से प्राक्कालिक होता है परन्तु उसका श्वसन केन्द्र परिपक्व या विकसित होने के कारण शिशु की परिचर्या में कोई कठिनाई पैदा नहीं करता अर्थात् यह प्राक्कालिक प्रगल्भ शिशु है। अतः २८ से ३७ सप्ताह के बीच का गर्भ पूर्वकालिक या प्राक्कालिक या अप्रगल्भ माना जाता है।

आयुर्वेद की संहिताओं में इसे विप्रसव या अकाल प्रसव तथा प्रसूता स्त्री को अपप्रजाता एवं उत्पन्न शिशु को अचिरजात कहा गया है। *अष्टांगहृदय* के टीकाकार अरूणदत्त[587] सातवें महीने में गर्भवृद्धि के विषय में कहते हैं कि इस मास में गर्भ जीवन के योग्य सभी लक्षणों एवं अंगों से युक्त हो जाता है। अतः अकाल प्रसव हो जाने के कारण गर्भ में पूर्ण प्रसव में उत्पन्न शिशु के सदृश जन्म एवं जीवन के लक्षण घटित नहीं होंगे।

---

[585] *च०सं०*, शा० 2/6

[586] अथ दोषबलेनापि गर्भो वापि प्रसूयते। वातसंप्रेरिते गर्भे अपूर्णे दिवसैर्यदि॥
प्रसूयते वाप्यथ तद्गर्भे बालः प्रदृश्यते। *हा०सं०*, ष० 1/24-25

[587] *अ०हृ०*, शा० 1/58 पर अरूण दत्त की टीका

इस मास में पैदा हुआ शिशु जीवित रहता है, परन्तु अकाल में प्रसवित होने के कारण शिशु में दीर्घायु आदि लक्षण नहीं होते। इसी प्रकार अष्टम मास में ओज के स्वरूप को व्याख्यातित करते हुए कहते हैं कि इस मास में पैदा होने वाला शिशु जीवित नहीं रहता अथवा अकाल प्रसव होने के कारण गर्भस्थ शिशु के जीवन की सम्भावना नहीं होती।

माधवनिदान की टीका मधुकोष[588] में भी पूर्वकालिक प्रसव के संबंध में कहा गया है कि गर्भ के सातवें मास में गुणानुसार बालक जीवित रह सकता है, परन्तु विगुण जन्म के सातवें मासादि में भी गर्भपात ही कहा जाएगा। कुछ आचार्य पाँचवें एवं छठे मास में ही गर्भपात स्वीकार करते हैं और सातवें मास में दोष वैगुण्य के कारण भी विप्रसव होता है अर्थात् यदि सातवें महीने में गर्भस्थ शिशु का जन्म अनुगुण है तो वह बालक जीवित रहता है, लेकिन वह गर्भ विगुण या विकारयुक्त प्रसव होने पर शिशु जीवित नहीं रहता। अतः सातवें महीने में जन्मा शिशु प्रसव की अवस्था में अनुगुण के अनुसार जीवित रह सकता है एवं विप्रसव में उत्पन्न शिशु अधिक समय तक जीवित नहीं रहता।

चरकसंहिता में भी पूर्वकालिक हेतुओं के सन्दर्भ में कहा गया है कि **"ये ह्यस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्ययादुदरे विनाशमापद्यते, अथवाऽप्यचिरजातः स्यात्॥"**[589] अर्थात् गर्भ की वृद्धि के लिए आवश्यक भावों में विपर्यय होने पर गर्भ उदर में ही मर जाता है अथवा शीघ्र समय से पूर्व ही जन्म लेकर विनष्ट हो जाता है जिसे अचिरजात कहा गया है। चक्रपाणि ने भी कहा है कि अल्प दोष होने के कारण थोड़ा विपर्यय होने पर गर्भ अचिरजात होता है। अतः अचिरजात शब्द से अचिर-काल अर्थात् सामान्य से पूर्वकाल के प्रसव को ग्रहण किया जाता है।

चरक ने अन्य स्थान पर भी पूर्वकालिक प्रसव के कारणों को परिलक्षित किया है- शुक्रस्थ विकृत वायु के द्वारा गर्भ का शीघ्र मुञ्चन अथवा उत्सर्ग भी अप्रगल्भ शिशु प्रसव का द्योतक माना गया है। इसी प्रकार *अष्टांगसंग्रह* तथा *अष्टांगहृदय* में उपर्युक्त हेतुओं को स्वीकार करते है।

---

[588] पञ्चमषष्ठयोरिति सप्तमे अनुगुणजनने जीवदर्शनायोक्तं, विगुणजनने तु सप्तमादि मासेष्वपि गर्भपातः।
अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः, सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद्विप्रसव इति॥ *मा०नि०* 64/2 पर मधुकोष टीका

[589] *च०सं०*, शा० 4/29 पर चक्रपाणि टीका

"क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा। विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनलः॥"[590]

अतः संहिताओं मे पूर्वकालिक प्रसव के निम्नोक्त कारण हैं-

- शुक्र अशुद्ध होना।
- गर्भाशय शुद्ध न होना।
- वायु का अकाल प्रेरण।
- आर्तव का समाप्त न होना।
- काल सामान्य नहीं होना।
- गर्भिणी का सामान्य आहार-विहार न होना।

अद्यतन चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार कुछ ऐसे भाव हैं, जिन स्त्रियों का यदि पूर्व इतिहास है तो गर्भावस्था पूर्वकालिक प्रसव में अन्तर हो सकता है।

- गर्भिणी का निम्न आय वर्ग से होना।
- गर्भिणी की आयु १७ वर्ष से कम होना।
- गर्भिणी का गर्भावस्था से पहले भार ४५ किलो से कम होना।
- गर्भिणी का यदि पहले भी पूर्वकालिक प्रसव हुआ हो।
- उसके जननांगों तथा मूत्रवह संस्थान का बार-बार संक्रमित होना।
- धूम्रपान।
- गर्भाशयगत विकार।

इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भावस्था की कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनकी उपस्थिति में पूर्वकालिक प्रसव की शंका हो सकती है।

- अत्यधिक गर्भ में उदक का होना।
- गर्भावस्था जन्य उच्च रक्तचाप।
- गर्भावस्था में रक्तस्राव।
- गर्भावस्था में विकार।
- गर्भिणी द्वारा अल्प भार करना।
- ज्वर रहना।
- गर्भांग विकृति होना।

---

[590] *च०सं०*, चि० 28/34 ; *अ०हृ०*, नि० 15/13 ; *अ०सं०*, नि० 15/15-16

- मृतगर्भ होना।

4.12.4 कालातीत प्रसव का निदान एवं लक्षण :- यदि सामान्य प्रसव काल अर्थात् ३८ से ४२ सप्ताह के बाद प्रसव होता है तो उसे कालातीत प्रसव कहते हैं। *चरकसंहिता*[591] में कथित है कि जब विकृत वायु गर्भ को गर्भाशय में अत्यधिक समय तक धारण करके रहती है, तब प्रसव विलम्ब से होता है, जिसे कालातीत प्रसव की संज्ञा दी जा सकती है। चरक[592] ने दशवें मास में होने वाले प्रसव को कालातीत एवं अन्य आचार्यों ने बारहवें मास के पश्चात गर्भ की उदर स्थिति को विकारी माना है। टीकाकार चक्रपाणि ने ग्यारहवें एवं बारहवें महीने में अपेक्षाकृत अल्पदोष युक्त माना है। टीकाकार इन्दु ने भी एक वर्ष के बाद गर्भ की अन्तःस्थिति वैकारिक स्वीकार की है एवं टीकाकार अरूणदत्त ने गर्भ की दीर्घकालिक स्थिति का कारण वातविकार जन्य गर्भ निष्क्रमण का अवरुद्ध होना स्वीकार किया है।[593]

भावप्रकाश एवं *योगरत्नाकर* में भी स्पष्ट रूप से वर्णित है कि प्रसव के सामान्य काल के बीत जाने पर गर्भ के प्रसव नहीं होने के कारण वात द्वारा प्रसवमार्ग का संकुचित करना है।[594] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सकते हैं कि चरक, सुश्रुत, वाग्भटद्वय, डल्हण, इन्दु ने गर्भावस्था में गर्भ के बहुत समय तक बने रहने के लिए प्रकुपित वात को कारण माना है।

अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान कालातीत प्रसव के अधोलिखित कारण स्वीकार करता है-

- गर्भ में पीयूषिका ग्रन्थि का न होना।
- अपरा-विकृति।
- एनसिफेली।

इसके अतिरिक्त कालातीत प्रसव के कुछ प्रमुख कारण भी हैं- चिकित्सक द्वारा प्रथम परीक्षण में कालोतीर्ण स्थायित्व का निश्चित रूप से पता लगाना कठिन होता है। अतः ध्यानपूर्वक देखने से निम्नोक्त बिन्दुओं की सहायता मिलती है-

---

591 _____कुपितस्तु खलु_____ विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यति कालं वा धारयति। *च०सं०* 12/8

592 *च०सं०*, शा० 4/25 की चक्रधर टीका ; *सु०सं०*, शा०3/30 ; *अ०सं०*, शा० 2/30 ; *अ०ह्र०*, शा० 1/16

593 संवत्सरात् परञ्च त्रयोदशादिषु मासेषु अन्तस्थितो गर्भो विकारित्वं भजते। *अ०सं०*, शा० 2/30 की इन्दु टीका
वातेन धारितो-रुद्धनिष्क्रमणो, विकारकारी भवेत् विकारमवश्यं करोति। *अ०ह्र०*, शा० 1/16 की अरूणदत्त टीका

594 *भा०प्र०*, चि० 70/103-104 ; *यो०र०*, स्त्री०रो०चि०

- **अन्तिम आर्तव तिथि**- गर्भाधान से पहले नियमित ऋतुचक्र वाली महिलाओं में अन्तिम पुष्प-दर्शन तिथि का ज्ञान कालोतीर्ण स्थायित्व निदान हेतु अधिक महत्त्वपूर्ण है, लेकिन स्तनपान कराने के कारण, अनार्तव, अनियमित ऋतुचक्र, गर्भनिरोधक गोलियों का प्रयोग समाप्त होते ही गर्भाधान होने पर यह मापदण्ड शंकास्पद हो जाता है।
- **भारहानि**- हर सप्ताह में भार मापने से ज्ञात होता है कि गर्भिणी का भार या तो स्थिर है या कुछ घट गया है।
- **उदर-आकृति**- नाभि के स्तर से मापने पर उदर का घेरा ३८ सप्ताह तक वृद्धियुक्त, ३८ से ४० सप्ताह तक एक जगह स्थिर तथा तदुपरान्त शनैः शनैः क्षय होने लगता है।
- **मिथ्या वेदना**- ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सामान्य प्रसव काल में मिथ्या वेदना पीड़ा आरम्भ होती है। अतः यदि एक बार वेदनाएँ आरम्भ होकर समाप्त हो जाए एवं गर्भकाल बढ़ता जाए तो कालोतीर्ण स्थिति का संदेश होता है।
- **योनि परीक्षा**- गर्भाशयग्रीवा की मृदुता एवं कुछ ऊर्ध्वसरण गर्भ की पूर्णता की द्योतक है। ग्रीवा के माध्यम से कठिन गर्भशिर की अनुभूति निदान में सहायक है।

4.12.5 कालातीत प्रसव का गर्भ पर प्रभाव :- गर्भिणी की इस अवस्था तक गर्भ कभी-कभी भार एवं वृद्धि करता रहता है एवं वह गर्भावस्था के अनुसार अतिवृद्ध हो जाता है, जिसके कारण गर्भशिर एवं कुक्षि का व्यास असामान्य हो जाता है।

४२ सप्ताह उपरान्त गर्भोदक की मात्रा अत्यल्प हो जाती है, जिससे नाभिनाड़ी पर गर्भाशय का प्रभाव पड़ता है। इसके कारण गर्भावसाद होता है। गर्भस्थ शिशु गर्भाशय में ही मल का त्याग कर सकता है, जिसको वह प्रसव के समय ग्रहण कर सकता है, दूसरी तरफ कभी-कभी गर्भ के लिए गर्भाशय का वातावरण प्रतिकूल हो जाता है। ऐसी स्थिति में गर्भवृद्धि रूक जाती है, तब गर्भ कालातीत हो जाता है, किन्तु वह प्रसव अवरुद्ध वृद्धि वाला होता है।

इस प्रकार गर्भवती स्त्री में गर्भावस्था के दौरान गर्भस्राव, गर्भपात, उपविष्टक, नागोदर, किक्किस, मृतगर्भ, मूढ़गर्भ एवं रक्तगुल्म आदि व्याधियाँ हो जाती हैं, जिनके कारणों एवं लक्षणों का विवेचन यहाँ किया गया। आयुर्वेद में इन आमयों के उपचार का वर्णन भी मिलता है, जिनका अगले अध्याय में पर्यालोचन किया जाएगा।

पञ्चम अध्याय

गर्भवती स्त्री को गर्भावस्था के दौरान अनेक व्याधियाँ हो जाती हैं। इनके होने का कारण अपथ्य आहार और विहार के ग्रहण करने से, ऋतुचर्या में परिवर्तन एवं दैव्यादि हैं। जब गर्भिणी किसी व्याधि से ग्रस्त होती है तब उसके व्याधि का प्रभाव गर्भिणी एवं भ्रूण या गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है। गर्भिणी को गर्भकाल के अन्तर्गत दो प्रकार की व्याधियाँ होती है सामान्य एवं विशिष्ट व्याधियाँ। गर्भिणी के सामान्य रोगों का हेतु एवं उपचार तृतीय अध्याय में बताया जा चुका है एवं पिछले अध्याय में विशिष्ट रोगों के निदानों का विवेचन किया जा चुका है। गत अध्याय में विशिष्ट रोग के अन्तर्गत गर्भस्राव, गर्भपात, उपविष्टक, नागोदर, किक्किस, मूढ़गर्भ, मृतगर्भ एवं रक्तगुल्मादि के कारण, लक्षण एवं सम्प्राप्ति का विवेचन बताया है। अतः इस अध्याय में गर्भिणी को होने वाले विशिष्ट रोगोपनयन का पर्यालोचन किया जाएगा।

आयुर्वेदीय संहिताओं में गर्भवती स्त्री को होने वाले विशिष्ट आमयों के उपचार का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। गर्भवती महिला के उपचार में प्रथम आठ मास तक वमन, विरेचन, नस्य, रक्तमोक्षण, अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। *चरकसंहिता* में कथित है कि यदि गर्भवती महिला कोई रोग से ग्रस्त हो जाए, तब उस अवस्था में उसे मृदुवीर्य, मधुर रस से युक्त, शीतवीर्य, सुखकारक और कोमल औषधियों से युक्त आहार एवं उपचार करना चाहिए। यदि गर्भिणी का आठवाँ मास प्रारम्भ हो जाए और उसको आत्ययिक रोग हो जाए, तब उस अवस्था में मृदु वमनकारक एवं मृदु विरेचनकारक या मृदु नस्य का प्रयोग वैद्य द्वारा करना चाहिए। अथवा वमन के स्थान पर कवल, गण्डूष या निष्ठीवन, विरेचन के स्थान पर गुदावर्ति एवं नस्य के स्थान पर शिरोबस्ति कर्म भी कराया जा सकता है।

चरक गर्भिणी-चिकित्सा के संबंध में उदाहरण द्वारा कहते हैं कि जैसे तेल से भरे हुए पात्र को हाथ में उठाने पर हाथों को कम्पन रहित रखना चाहिए, वैसे सावधानीपूर्वक गर्भवती स्त्री का उपचार करना चाहिए, जिससे उसे किसी भी प्रकार का क्षोभ न उत्पन्न हो।[595] *सुश्रुतसंहिता* में भी कथित है कि यदि गर्भवती स्त्री किसी तीव्र व्याधि से ग्रस्त हो जाए

---

[595] *च०सं०*, शा० 8/22

तब उस अवस्था में मधुर और खट्टे आहार द्रव्यों का सेवन करवाकर वमन कराना चाहिए। उसे अन्नपान और संशमन भी मृदु ही देना चाहिए। उसे खाने के लिए मृदुवीर्य, मधुर एवं गर्भानुकूल द्रव्यों का प्रयोग करें तथा अन्य क्रियाएँ भी गर्भानुकूल एवं मृदु होनी चाहिए।[596]

5.1.1 गर्भस्राव/गर्भपात रोग का उपचार :- जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि गर्भिणी को चार मास से पहले रक्त के स्राव को गर्भस्राव एवं चार मास के बाद होने वाले रक्तस्राव को गर्भपात की संज्ञा दी गई है। गर्भिणी के प्रथम चार मास में गर्भस्थ भ्रूण के शरीर बनने की प्रक्रिया चलती है। अतः यदि किसी कारणवश गर्भिणी को इन मासों में रक्तस्राव निसरित हो, तो उसे गर्भस्राव कहा जाता है। वर्तमानकालिक चिकित्सा-विज्ञान में इसे **'Abortion'** कहते हैं।

अथर्ववेद में गर्भस्राव या गर्भपात आमय से पीड़िता को उदुम्बर औषधी का सेवन कराने के सम्बन्ध में कहा गया है कि

"ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः। अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥"[597]

अर्थात् हे गर्भिणी ! जो रोगभूत कृमि तुम्हारे गर्भ को, योनि को घेरे हुए हैं, उसे उदुम्बर औषधी से मिले हुए योग द्वारा, रक्त को खाने वाली कृमियों का नाश करो। उस कच्चा मांस खाने वाली कृमि को उदुम्बर औषधी के साथ एक योग बनाकर नष्ट किया जा सकता है अर्थात् जो गर्भवती स्त्री के गर्भ को नष्ट करने का प्रयास करती है, उसे उदुम्बर नामक औषधी द्वारा प्रशमित किया जाता है। उपर्युक्त मन्त्र में कृमि को गर्भ का नाशक बताया है।

अथर्ववेद[598] में गर्भस्राव, गर्भपात की चिकित्सा के सम्बन्ध में वर्णित है-

"यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।

जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥"

---

[596] *सु०सं०*, शा० 10/67

[597] *अ०वे०* 20/96/11-12

[598] *अ०वे०*, 20/96/11-14,16

अर्थात् हे गर्भिणी ! जो तुम्हारे गर्भाशय में शुक्ररूप प्रविष्ट होते हुए अंश को एवं स्थित हुए गर्भ को नष्ट करता है तथा जो गर्भाशय में गति करते हुए गर्भस्थ शिशु को नष्ट करता है, जो उत्पन्न हुए शिशु को मारना चाहता है, उसका अग्नि देव शमन करे। इसका उपचार करते हुए *अथर्ववेद* में अन्य स्थान पर कथित है- **"यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये। योनिं यो अन्तरा रेढि तमितो नाशयामसि॥"** अर्थात् हे गर्भिणी ! जो विकार तुम्हारे शरीर में ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रवेश कर जाते हैं, जो तुम्हारी सन्तानों को नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें अग्नि की सहायता से नष्ट करते हैं। *अथर्ववेद* में कहा गया है- **"यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते। प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥"** अर्थात् जो तुम्हारे स्वप्न एवं निद्रावस्था में मोहित होकर रोग आते हैं और जो तुम्हारी सन्तान को नष्ट करने की इच्छा रखते हैं, उसे अग्नि की सहायता से नष्ट करते हैं। जब गर्भिणी अचेतनावस्था में होती है तब कुछ विकार उसको ग्रस्त कर लेते हैं, जिनका वर्णन *अथर्ववेद* में किया गया है। अतः प्रस्तुत मन्त्रों में गर्भिणी के गर्भाशय में **'दुर्णामा कृमि'** व्याधि होती है, जिसका उपचार अग्नि अर्थात् चीता (चित्रक) और ब्रह्म वृक्ष अर्थात् उदुम्बर के संयोग से शमन करने का विधान मिलता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी चित्रक को अग्नि एवं उदुम्बर को ब्रह्म कहा गया है।

अथर्ववेद के अन्यत्र सूक्त में वर्णित है कि-

"परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्। गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ॥"[599]

अर्थात् गर्भिणी के विकसित एवं स्थिर हुए गर्भ को गिरने न दें। वस्त्र या नियम में रखने वाली उग्र औषधी गर्भिणी की रक्षा करे। जो रोग कच्चे मांस को खाते हैं, जो मनुष्यों के भी मांस को खाते हैं, जो बड़े-बड़े केश वाले राक्षस छलपूर्वक प्रवेश करके गर्भों का भक्षण करते हैं, ऐसे तीनों प्रकार के रोगों को गर्भिणी से दूर करते हैं अर्थात् उनका शमन करते हैं।

[599] *अ०वे०*, 8/6/20 ; य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ *अ०वे०*, 8/6/23

गर्भवती स्त्री को जिस समय रक्तस्राव होता दिखाई पड़े, उसी समय वैद्य द्वारा यह सलाह देनी चाहिए कि उसे ऐसी शय्या या पलंग पर सोना आरम्भ कर देना चाहिए, जिसका सिराहना कुछ नीचे हो और जिस पर मुलायम, शरीर को आराम देने वाला, शीतल बिछौना सम्यक् प्रकार से बिछाया गया हो। वृद्ध वाग्भट[600] ने उसकी शयनावस्था को अधिक स्पष्टरूप से विवेचित किया है- जिसको रक्तस्राव आना प्रारम्भ हो गया हो, उसे सर्वप्रथम कोमल, सुखदायक केले के पत्ते आदि से शीतल बनाए हुए बिस्तर पर शयन कराना चाहिए, तत्पश्चात् उसके शिर को नीचे की ओर तथा पैरों को उँचा उठा देना चाहिए अर्थात् उसे इस प्रकार लेटना चाहिए कि रक्त का प्रवाह नीचे की ओर न रहे। इसके लिए गर्भिणी का शिर नीचे रखकर पैरों की तरफ से पलंग को उँचा कर देना चाहिए। तदनन्तर उसकी शीतल प्रदेह एवं शीतल परिषेक आदि से उपचार करना चाहिए।

चरकसंहिता में गर्भस्राव या गर्भपात रोगोपनयन को लक्षित करते हुए बताया गया है- गर्भिणी को इसके बाद बर्फ जैसे अतिशीतल जल में रखे हुए जेठीमधु के चूर्ण और घी के मिश्रण में रूई का फोहा अच्छी प्रकार से डुबाकर, गर्भवती स्त्री की योनि के समीप रखनी चाहिए। गर्भिणी के नाभि के नीचे चारों ओर शतधौत, सहस्रधौत घी का लेप लगाना चाहिए। या उसकी नाभि के चारों ओर ठण्डा गाय का दूध या मुलहठी का काढ़ा या न्यग्रोधादि गण के काढ़े को लगाएँ एवं उसका सेवन भी कराना चाहिए। या उसके नाभि के नीचे स्पञ्ज से शीतल जल गिराते रहे या उसे ठण्डे जल से भरे टब में बैठाना चाहिए।

अथवा गर्भिणी की योनि पर वट-गूलर-पीपर-पाकड़-पारीष और कषाय वृक्षों अर्थात् कपित्थ-जामुन-महुआ आदि की छाल पीसकर निकाले गए स्वरस में बारीक कपड़ा भिगोकर रखना चाहिए अथवा न्यग्रोधादि गण की औषधियों से पकाए गए दूध और घी में कपड़ा भिगोकर योनिमुख पर रखवाएँ एवं उसमें से १ तोले की मात्रा खिलाना चाहिए अथवा उसे दूध में मिलाकर पिलाया भी जा सकता है। या गर्भिणी को लाल कमल, नीलकमल और कुमुद के केशरों का कल्क बनाकर एवं उसमें शहद तथा चीनी सहित कल्क खिलाना चाहिए।[601]

---

600 *अ०सं०*, शा० 4/3

601 *च०सं०*, शा० 8/24

सुश्रुत भी गर्भस्राव और गर्भपात रोगोपनयन हेतु कहते हैं कि यदि उसे पीड़ा हो रही हो, उस अवस्था में मांषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलहठी, गोखरू, छोटी कटेरी से सिद्ध दूध में शक्कर और शहद के साथ पिलाना चाहिए अथवा कोष्ठागारिका के घर की मिट्टी, मंजीठ, धाय के पुष्प, वनमल्लिका के पुष्प, गेरु, राल और रसौत के चूर्ण को शहद सहित कल्क बनाकर खिलाएँ अथवा न्यग्रोधादि द्रव्यों में से जितने मिल जाए, उनकी छाल और नवपल्लवों के कल्क को दूध के साथ पिलाएँ अथवा कशेरु, सिंघाड़ा और कमलकन्द के कल्क को उबले हुए दूध के साथ पिलाएँ अथवा गूलर के फल और कमलादि जल में उत्पन्न कन्द के काढ़े से शालिधान्य के कल्क को शक्कर तथा मधुसहित पिलाना चाहिए ।[602]

गर्भवती स्त्री की योनि में साफ वस्त्र या रुई को न्यग्रोधादि के स्वरस में अच्छी प्रकार से भिगोकर रखना चाहिए। यदि गर्भिणी को केवल वेदना हो रही हो और रक्तस्राव नहीं आ रहा हो तो उसे मुलहठी, देवदारु, मंजीठ, अर्कपुष्पी से सिद्धदूध पीने के लिए दें अथवा अश्मन्तक, शतावरी, अर्कपुष्पी से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए अथवा छोटी-बड़ी कटेरी, कमल, शतावरी, सारिवा, अर्कपुष्पी और मुलहठी से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए । अतः गर्भवती स्त्री का अतिशीघ्र उपचार करने पर पीड़ा शांत होती है और गर्भ में भी वृद्धि होती है।[603] अतः सुश्रुत मुख्यतः गर्भस्राव एवं गर्भपात रोग के रोगोपनयन में औषधसिद्ध दूध गर्भिणी को पीने के कहते हैं।

यदि गर्भिणी को रक्तस्राव के शमन के बाद मूत्रसंग उपद्रव[604] हो जाए, तब उसे कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षुक से सिद्ध शक्कर अथवा मधुयुक्त दूध अथवा तृणपञ्चमूल से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए। यदि उसे गर्भस्राव का प्रशमन होने के बाद आनाह उपद्रव[605] हो जाए, तब उस अवस्था में उसे हिंगु, सौवर्चल नमक, लहशुन एवं वचा से सिद्ध हुआ दूध शहद एवं शक्कर मिलाकर पिलानी चाहिए।

---

602 *सु०सं०*, शा० 10/57

603 *सु०सं०*, शा० 10/57

604 *सु०सं०*, शा० 10/57 ; कुशकाशनालदर्भकाण्डेक्षुकाः इति तृणसंज्ञकः॥ *सु०सं०*, सू० 38/75
भा०प्र०, चि० 70/84-85 ; *यो०र०* स्त्री०चि०

605 *भा०प्र०*, चि० 70/79, 83-84 ; *यो०र०* स्त्री०चि०

सुश्रुतसंहिता[606] में अन्य स्थान पर भी गर्भस्राव और गर्भपात के उपचार हेतु सात औषधयोगों का वर्णन किया गया है, जिनका क्रमशः उपयोग गर्भधारण के प्रथम माह से सातवें मास तक कराया जाता है- १. मुलहठी, सागवान के बीज, अर्कपुष्पी और देवदारु। २. अश्मन्तक, मंजीठ और शतावरी। ३. बन्दाक, अर्कपुष्पी, गिलोय, कमल एवं अनन्तमूल। ४.अनन्ता, सारिवा, रास्ना, भार्गी और मुलहठी। ५. छोटी-बड़ी कटेरी, गंभेरी, क्षीरीवृक्ष-न्यग्रोधादि के नवपल्लव छाल और घी। ६. पीठवल, बला, सहिजन, गोखरु और गिलोय। ७. सिंघाड़ा, भिस, मुनक्का, कशेरु, मुलहठी और मिश्री। इन सभी औषधियों को दूध के साथ गर्भिणी को सेवन कराना चाहिए।

सुश्रुत ने गर्भिणी के अष्टम, नवम एवं दशम मास में होने वाले रक्तस्राव का भी उपचार करने का विधान बताया है- उसे आठवें महीने में छोटी-बड़ी कटेरी, परवल, कैथ, बेल और गन्ने के मूल से सिद्ध दूध पीना हितकारक है। उसे नौवे मास में सारिवा, अनन्तमूल, मुलहठी एवं क्षीरकाकोली के काढ़े को पिलानी चाहिए। उसको दशवें मास में शुण्ठी और क्षीरविदारी से सिद्ध दूध पिलाएँ अथवा देवदारु-सोंठ-मुलहठी के चूर्ण को दूध मिलाकर देना चाहिए।[607] अतः इस प्रकार गर्भस्राव होने पर उपर्युक्त योगों का सेवन करने पर रक्तस्राव नहीं होता, पीड़ा भी समाप्त होकर एवं मासानुसार गर्भ की वृद्धि होती है।

वाग्भट[608] ने भी गर्भस्राव और गर्भपात के उपचार को परिलक्षित करते हुए कहा है कि गर्भवती स्त्री को स्निग्ध और शीतल द्रव्यों का सेवन अन्दर एवं बाहर से करना चाहिए। उसे खस, कमलपुष्प, चन्दन, कपूर तथा क्षीरिवृक्षों के छाल का कल्क बनाकर एवं घी में मिलाकर खिलाना चाहिए। इसी कल्क को रूई के फोहे से अथवा साफ वस्त्र के टुकड़े में लगाकर योनि के अन्दर रखना चाहिए।

---

606 *सु०सं०*, शा० 10/58-62

607 *सु०सं०*, शा० 10/63-65

608 *अ०हृ०*, शा० 2/2

वाग्भट[609] ने गर्भिणी की नाभि के नीचे शतधौत घी लगाने के लिए भी कहा है- गर्भवती स्त्री की नाभि के नीचले भाग में चारों ओर सौ बार धोया हुआ घी का अभ्यंग कराना चाहिए, तदुपरान्त ऊपर कहे गए खस आदि द्रव्यों से युक्त जल में अवगाहन करना चाहिए, जिससे उसकी नाभि से नीचे का भाग जल में डूब जाए। इसके अतिरिक्त दूध पकाकर निकाला गया मक्खन एवं उससे निर्मित घी में मिश्री, शहद, कुमुद, कमल, नीलकमल, इनके केसर को मिलाकर गर्भिणी को सेवन कराना चाहिए एवं उसे सिंघाड़ा तथा कसेरू खिलाना चाहिए, जिसके सेवन करने के उपरान्त रक्तस्राव रुक जाता है। गर्भिणी का गर्भ एक जगह स्थिर होकर एवं गर्भ की वृद्धि शुरू हो जाती है। अथवा गर्भिणी को नागरमोथा, खस, गिलोय, अरलु, धनियाँ, पित्तपापड़ा, चन्दन, अतीस एवं बला इन औषधियों को जल में डालकर काढ़ा बनाना चाहिए, उसके बाद उसको पिलाएँ।

"दुरालभापर्पटकचन्दनातिविषाबला। क्वथिताः सलिले पाने---------॥"[610]

वृद्ध वाग्भट[611] ने भी गर्भस्राव या गर्भपात के उपचार में चरकोक्त औषधियों, औषधयुक्तदूध गर्भिणी को पीने के लिए कहते है। *भावप्रकाश* में गर्भिणी को रक्तस्राव होने पर उत्पलादिगण की औषधियों के काढ़े में दूध पकाकर पिलाएँ, जिससे शीघ्र ही रक्त निकलना बन्द हो जाता है- **"गुर्विण्या गर्भतौ रक्तं स्रवेद्यदि मुहुर्मुहुः। तन्निरोधाय सा दुग्धमुत्पलादिशृतं पिबेत्॥"**[612] नीलकमल, लाल कमल, नीलोफर, कुमुद, सफेद कमल एवं मुलहठी से युक्त औषधियाँ उत्पलादि गण के अन्तर्गत शामिल हैं। इसके सेवन से दाह, प्यास, बेहोशी, वमन आदि रोगों में भी शान्ति मिलती है।

इसके अतिरिक्त भाव मिश्र ने गर्भिणी को १२ महीने में से किसी भी मास में रक्तस्राव होने की चिकित्सा को बताया है, जिसमें प्रथम १० मास की उपचार का विवेचन सुश्रुत द्वारा कथित वक्तव्य अनुसार ही किया है। उसे ग्यारहवें मास में लज्जावन्ती की जड़ एवं हरड़, इनको ठण्डे जल में पीसकर १ तोला कल्क दूध में घोलकर पिलाना चाहिए। इसके सेवन से

---

609 *अ०हृ०*, शा० 2/3

610 *अ०हृ०*, शा० 2/8

611 *अ०सं०*, शा० 4/4-6

612 *भा०प्र०*, चि० 8/74

गर्भवती स्त्री को शूल में शान्ति मिलती है। बारहवें महीने में उसे मिश्री, विदारीकन्द, असगन्ध की मूल, पारिस पीपल के फल एवं कमल की नाल इनका १ तोला कल्क दूध में घोलकर पिलाना चाहिए। ऐसे उपचार करने से गर्भ की वृद्धि और पुष्टि होती है एवं तीव्र वेदना में शान्ति मिलती है।[613] अतः आयुर्वेद की संहिताओं में गर्भस्राव एवं गर्भपात का उपचार किया गया है। केवल *काश्यपसंहिता* में इस रोगोपनयन का वर्णन नहीं मिलता है, क्योंकि उसका प्रमुख कारण यही है कि यह ग्रन्थ ही अपूर्ण पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त हुआ था।

5.1.2 पथ्य आहार का प्रयोग :- इसके अतिरिक्त गर्भिणी को औषधयुक्त भोजन कराना चाहिए, जिससे उसको औषधियों के साथ-साथ पथ्य सेवन में गर्भस्राव एवं गर्भपात में लाभ मिल सकता है। अतः *चरकसंहिता* में कथित है कि गर्भवती स्त्री को सिंघाड़ा, कमलगट्टा और कशेरु के आटे का हलवा खिलाना चाहिए, उसे गन्धप्रियंगु, नीलकमल, कमल की जड़, गूलर के कच्चे फल और बरगद की ठूसे को २० ग्राम मिश्रित रूप में पीसकर एवं बकरी के दूध सहित पिलाना चाहिए या उसे बरियार, अतिबला, साठी धान एवं ईख, इन सभी की जड़ तथा काकोली के क्वाथ से सिद्धदूध में पकाए गए लाल अगहनी चावल के भात को, जो कोमल एवं सुगन्धित तथा शीतल हो, उसमें शहद तथा चीनी सहित भोजन खिलाना चाहिए।

यदि गर्भिणी को मांस खाने की इच्छा हो रही हो, तब उसे बटेर, गोरैया, हिरण, बारहसिंगा, साँभर, काला हिरण, काली पूँछ वाला हिरण इन पक्षियों एवं जानवरों के मांसरस को घी में तल कर देना चाहिए। तदुपरान्त गर्भिणी को लाल चावल के साथ कोमल एवं सुगन्धित भात को मांस के साथ सुखदायक स्थान पर बैठाकर सेवन कराना चाहिए।[614] परन्तु वर्तमान समय में उपरोक्त पक्षियों एवं जानवरों में से अनेक पशु-पक्षियों को मारना वर्जित है। इसलिए इसके साथ पर वैद्य द्वारा अन्य पशुओं के मांस का सेवन करने की सलाह दी जा सकती है।

---

[613] *भा०प्र०*, चि० 8/94-96

[614] *च०सं०*, शा० 8/24

सुश्रुत[615] ने गर्भिणी को होने वाले उपचार का विवेचन करते हुए पथ्य आहार का भी वर्णन किया है- जब गर्भवती का गर्भ स्थिर हो जाए तब उसको गूलर के कच्चे फलों से सिद्ध किया हुआ भोजन, गाय के दूध के साथ देना चाहिए। सुश्रुत गर्भिणी को किसी भी पशु-पक्षी के मांस खाने के लिए नहीं कहते हैं।

वाग्भट[616] ने भी गर्भिणी को औषध सिद्ध दूध एवं भोजन खाने के लिए कहा है- उसे प्रियंगु, कमल की पंखुड़ी, कमलकन्द एवं कच्चे गूलर की चटनी के साथ दूध पिलाना चाहिए। लाल साठी चावल को काकोली, बला, अतिबला, मुलेठी एवं ईख के रस से पकाएँ। तदुपरान्त उसे इस भात को शहद तथा चीनी मिले हुए दूध अथवा जंगल में विचरण करने वाले पशु-पक्षियों के मांस सहित भोजन खिलाना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदय[617] में अन्य स्थान पर गर्भिणी को उपवास कराने के लिए भी कहा गया है- गर्भवती महिला को लघु भोजन कराना चाहिए। उसे सावाँ (शामक चावल) आदि तृणधान्यों के चावलों का भात मूँग आदि दालों के साथ खिलाना चाहिए। अतः इस प्रकार यदि आमदोष की शान्ति हो जाती है तब पहले की तरह गर्भिणी को स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों का सेवन करवाकर रक्तस्राव को रोकने का उपचार करना चाहिए। *अष्टांगसंग्रह*[618] में भी गर्भिणी को उपरोक्त आहार का सेवन कराना चाहिए।

नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञान में परीक्षण एवं पराध्वनि चित्रण (अल्ट्रा सोनोग्राफी) द्वारा यदि गर्भिणी के सम्भावित गर्भपात का निदान होता है तो उसे शारीरिक और मानसिक विश्राम कराना चाहिए। चिकित्सक द्वारा दम्पत्ति को इस रक्तस्राव की अवस्था में मैथुन नहीं करने के लिए कहना चाहिए। वस्तुतः अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान में गर्भपात की कोई सफल औषधी एवं चिकित्सा नहीं है। कुछ चिकित्सक इस अवस्था में प्रोजेष्टेरॉन युक्त दवाईयों का प्रयोग करते हैं, परन्तु अधुनातन चिकित्सक इन दवाईयों को सेवन करने की सलाह नहीं देते, क्योंकि इनके सेवन से गर्भ पर कुप्रभाव पड़ता है।

---

[615] *सु०सं०*, शा० 10/57

[616] *अ०हृ०*, शा० 2/4-5

[617] *अ०हृ०*, शा० 2/7-8

[618] *अ०सं०*, शा० 4/5

चिकित्सक को पराध्वनि चित्रण द्वारा यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि वैकृत डिम्ब है अथवा नहीं। यदि डिम्ब विकृत अवस्था में है, तब गर्भस्राव को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि डिम्ब स्वस्थ है, तभी रक्तस्राव रोकने का प्रयास करना चाहिए।

5.1.3 वर्जित आहार-विहार :- यदि उपचारक को लगे कि गर्भिणी को मानसिक क्षोभ एवं शारीरिक थकावट हो सकती है, उस अवस्था में उसे क्रोध, शोक, परिश्रम, सम्भोग एवं व्यायाम आदि कार्यों को नहीं करने की सलाह देनी चाहिए अर्थात् रक्तस्राव की अवस्था में उसके लिए आराम अधिक लाभप्रद है, इस प्रकार कहना चाहिए। इस दौरान उसके मन को प्रसन्न रखने के लिए सौम्य एवं उत्तम कहानियाँ सुनानी चाहिए।[619] उसे कहानियाँ सुनाने का कार्य परिवार की वृद्ध या ज्येष्ठ महिला कर सकती है, क्योंकि उन्हें अनुभव होता है कि गर्भवती स्त्री के मन को कैसे प्रसन्न रखा जाता है। इस प्रकार गर्भिणी द्वारा औषधी सेवन और आहार-विहार एवं सदाचार से गर्भ का स्राव रुक जाता है और गर्भ एक जगह स्थिर होकर वृद्धि करना प्रारम्भ कर देता है।

5.1.4 गर्भपात के बाद की चिकित्सा :- *चरकसंहिता* में गर्भपात के उपरान्त उपचार का वर्णन नहीं मिलता है। *सुश्रुतसंहिता*[620] में गर्भस्राव के बाद उपचार के विषय में वर्णित है कि गर्भपात हो जाने पर जितने महीने स्त्री का गर्भ हो, उतने ही दिन नमक और स्नेह से रहित एवं शुष्ठी आदि पाचक द्रव्यों के साथ संस्कृत उद्दालक आदि से बनी यवागू स्त्री को पिलानी चाहिए। यदि उसको गर्भपात के पश्चात् बस्ति एवं उदरशूल हो, तब दीप्त द्रव्यों सहित पुराना गुड़ दे या दीपनीय द्रव्यों से युक्त अरिष्ट (अभयारिष्ट) पिलाना चाहिए। उसे आनाह व्याधि[621] हो जाए, तब हींग, सोंचर नमक, लहसुन एवं वचा से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए।

अष्टांगहृदय में गर्भपात के बाद की चिकित्सा का वर्णन समुपलब्ध होता है। गर्भिणी को गर्भस्राव या गर्भपात हो जाने के बाद तीक्ष्ण मदिरा पिलानी चाहिए, परन्तु उसे सामर्थ्यानुसार ही मदिरा का सेवन कराना हितकारक होता है, यदि उसको अधिक मात्रा में मदिरा का सेवन कराया गया, तो मद्यविकार होने की संभावना हो सकती है। इसके सेवन से

---

[619] *च०सं०*, शा० 8/24

[620] *सु०सं०*, शा० 10/57

[621] *सु०सं०*, शा० 10/57

गर्भकोष्ठ की शुद्धि हो जाती है एवं वह गर्भपात की पीड़ा को भूल जाती है। तत्पश्चात् उसे शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, वनभण्टा, कण्टकारी एवं गोखरू (लघुपञ्चमूल) के काढ़े में पकाई गई पेया पिलानी चाहिए एवं इसे घी आदि स्नेहरहित पेया पिलानी चाहिए।

जो महिला शराब नहीं पीती है, ऐसी महिला को पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, चित्रक एवं चव्य की कल्क (चटनी) से तैयार की गई पेया पिलानी चाहिए अथवा बेलादि बृहत् पञ्चमूल के क्वाथ द्वारा तैयार की गई तिल, कोदो-चावलों की पेया बनाकर पिलानी चाहिए। यह पेया उतने दिनों तक गर्भिणी को देनी चाहिए, जितने मास में गर्भपात हुआ हो। यह पेया स्नेह और लवणरहित होनी चाहिए।[622] वृद्ध वाग्भट[623] भी गर्भपात हो जाने के बाद गर्भिणी का उपर्युक्त उपचार, पथ्य करने के लिए कहते हैं।

शाङ्गर्धरसंहिता में गर्भस्राव या गर्भपात हो जाने के उपरान्त स्वेदन कर्म करने का विधान बताया गया है- **"काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी"**[624] अर्थात् गर्भिणी को अकाल रक्तस्राव अथवा गर्भपात होने के पश्चात् औषधियों से युक्त तैल, लेप आदि से स्वेदन कर्म करना चाहिए।

5.2.1 उपविष्टक एवं नागोदर रोग का शमन :- *अथर्ववेद* में उपविष्टक एवं नागोदर व्याधियों के रोगोपनयन का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है। जब गर्भवती स्त्री के चार मास पूर्ण हो जाते हैं, उसके बाद किसी कारणवश गर्भ की वृद्धि रूक जाती है एवं कभी-कभी गर्भ का आकार घटने लगता है, जिसे आयुर्वेद की संहिताओं में उपविष्टक एवं नागोदर रोग कहा गया है। *चरकसंहिता*[625] में दोनों व्याधियों के उपचार को एक साथ विवेचित किया गया है एवं सर्वप्रथम भूताधिकार में प्रयुक्त औषधियाँ पीड़िता को देने के लिए कहा गया है- दौहृद को वच, गुग्गुलु, जटामांसी, सर्पष आदि एवं जीवनीय, बृंहणीय, मधुर तथा वातनाशक औषधियों से सिद्ध घी खिलाना चाहिए, उसे इन्हीं औषधियों से युक्त दूध पिलाएँ एवं अण्डे

---

[622] *अ०हृ०*, शा० 2/9-12

[623] *अ०सं०*, शा० 4/10

[624] *शा०सं०*, उ० 2/7

[625] *च०सं०*, शा० 8/27

का सेवन भी गर्भ वृद्धि करने वाला होता है। यहाँ पर यह नहीं बताया गया है कि किस पक्षी के अण्डे का सेवन करना गर्भिणी एवं गर्भ के लिए हितकारक है।

सुश्रुत उपविष्टक एवं नागोदर आमय के उपचार का वर्णन नहीं करते हैं। इन्होंने उपविष्टक के लक्षणों में सञ्जातसार गर्भ में योनि से रक्त या अन्य स्राव तथा कुक्षि का न बढ़ना, स्पन्दन होना बताया है। अतः यह अवस्था देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि चौथे से छठे महीने में गर्भ की गर्भाशय में मृत्यु हो गई है। ये नागोदर व्याधि को अति प्रारम्भिक अवस्था की स्थिति स्वीकार करते हैं तथा इन्होंने इसे भूतहृत गर्भ भी कहा है।

वाग्भट[626] इन दोनों व्याधियों में गर्भिणी को शरीरवर्धक औषधियों देने के लिए कहते हैं- उसे वातनाशक, मधुर द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाया गया घी, दूध एवं मांसरसों का सेवन कराना चाहिए, जिससे वह सम्यक् रूप से तृप्त हो जाए। यदि वह माँसाहारी हो, उसे अण्डे आदि को भूनकर खिलाने चाहिए। गर्भिणी द्वारा औषधीयुक्त पेय, भक्ष्य का सेवन करने से दोनों रोगों का शमन होता है एवं गर्भ वृद्धि करना प्रारम्भ कर देता है। वृद्ध वाग्भट[627] भी उपर्युक्त उपचार को मानते है।

इससे भिन्न गर्भिणी के दोषानुसार उपचार का वर्णन किया है- यदि दोनों व्याधि में वातदोष की अधिकता हो, तब सर्वप्रथम सैंधव मिले दूध की बस्ति देनी चाहिए एवं भोजन के बाद विदार्यादि गण की औषधियों से सिद्ध घी की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए तथा उसे वायुरहित स्थान पर रहना चाहिए।[628] यदि उपविष्टक एवं नागोदर रोग में पित्तदोष का आधिक्य हो, तब उसे मुलहेठी एवं विदारी द्रव्यों के काढ़े से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए। उसे क्षीरविदारी, काकोली, क्षीरकाकोली एवं चौलाई औषधियों के कल्क से सिद्ध दूध में घी पकाना चाहिए। इस घी में अण्डे को भूनकर खाना चाहिए। यदि उपविष्टक एवं नागोदर में कफदोष की अधिकता हो तो तिल, मूंग, उड़द, सैंधव नमक एवं बिल्वफल के चूर्ण को प्रत्येक औषधी २५६ तोला और घी २५६ तोला मिलाकर सम्यक् रूप से सुरक्षित रख देना चाहिए। तत्पश्चात् उसे प्रातःकाल इसमें से दो तोला गर्म करके ठण्डे किए हुए बकरी के दूध के साथ

---

626 *अ०हृ०*, शा० 2/17

627 *अ०सं०*, शा० 4/18

628 *अ०सं०*, शा० 4/19

देना चाहिए।[629] भावमिश्र ने इन दोनों आमयों की चिकित्सा में गर्भिणी को दोनों हाथों से ओखली में धान कूटने के लिए कहा है- **"धान्यकुट्टनमुख्या स्याच्चिकित्सा तूभयोरपि।"[630]**

5.2.2 पथ्य आहार-विहार का प्रयोग :- सर्वप्रथम उसे बार-बार प्रसन्न करते हुए, दानादि द्वारा मानसिक शान्ति प्रदान करानी चाहिए। इन दोनों रोगों में कुछ ऐसे व्यञ्जनों का सेवन भी गर्भवती स्त्री को करना चाहिए, जिससे उसको शक्ति प्राप्त हो एवं उसे ऐसी सवारी, आसन आदि पर बैठाना चाहिए, जो उसके लिए हितकर हो। चरक[631] ने गर्भिणी के पथ्य आहार का परिलक्षित करते हुए कहा है कि उसे भूताधिकार में वर्णित औषधियों को भूख लगने पर दूध और घी में बनाए गए आहार खिलाना चाहिए। वाग्भट[632] भी उपर्युक्त पथ्य को गर्भिणी के लिए स्वीकार करते हैं। *अष्टाङ्गसंग्रह* में गर्भिणी के लिए पथ्य आहार का वर्णन दोषानुसार किया गया है। उपविष्टक एवं नागोदर व्याधि में वातदोष को शमन करने के लिए उसे ठण्डे जल से स्नान कराकर सुपाच्य भोजन खिलाना चाहिए।

उपविष्टक को बढ़ाने के लिए एवं नागोदर को पुष्ट करने के लिए तीन मुर्गियों को तथा आढ़क छिलके रहित उड़दों को एक मात्रा में लेकर ओखल से कूटना चाहिए तथा उड़दों को कूटते समय पानी मिले दूध को डालते रहना चाहिए। जब अच्छी प्रकार से कुट जाए तब इनका रस निकाल लेना चाहिए। इस रस के साथ तीतर या कपिञ्जल में से किसी एक पक्षी के मांसरस को पकाकर गर्भवती स्त्री को खिलाना चाहिए। इन व्याधियों में कफ दोष की अधिकता को साम्य करने के लिए, जिस स्थान पर जल की अधिकता हो, उस क्षेत्र में पशु-पक्षियों का मांस या जलीय प्राणियों के मांस को भोजन के साथ देना चाहिए एवं शुद्ध शराब पिलानी चाहिए। यह प्रक्रिया जब तक सम्भव हो, तीन दिन अथवा पाँच दिन अथवा सात दिन तक करनी चाहिए। इस प्रकार इन व्याधियों में औषधियों के साथ-साथ पथ्य आहार भी लाभप्रद होता है, जिसके ग्रहण करने से गर्भ की वृद्धि शुरू हो जाती है।

5.2.3 वर्जित आहार-विहार :- गर्भवती स्त्री को इन दोनों व्याधियों में ताँगा एवं बैलगाड़ी आदि की सवारी नहीं करनी चाहिए। उसे स्नान, अभ्यंग, जम्भाई लेना, छींकना, अंगों को

---

[629] *अ०सं०*, शा० 4/19-21

[630] *भा०प्र०*, चि० 8/101

[631] तथा सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभिक्षायाः। *च०सं०*, शा० 8/27

[632] *अ०हृ०*, शा० 2/17

फैलाना एवं चलना-फिरना आदि पारिश्रमिक कार्य वैद्य की सलाहानुसार ही करना चाहिए।[633] वाग्भट भी गर्भिणी के लिए ताँगा, ऊँट, अश्वादि की सवारी वर्जित बताते हैं- **"क्षोभणं यानवाहनैः।"**[634] अतः उपरोक्त प्रकार से की गई इन व्याधियों में चिकित्सा, पथ्य आहार सेवन एवं वर्जित आहार-विहार के निषेध से गर्भवती स्त्री शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है एवं गर्भ वृद्धि करना शुरू कर देता है।

5.3.1 किक्किस व्याधि का शमन :- आयुर्वेद की संहिताओं में विशेषतया *चरकसंहिता, अष्टांगहृदय* और *अष्टांगसंग्रह* में इस व्याधि का उपचार मिलता है। इसका प्रमुख कारण गर्भ की वृद्धि होकर उदर की त्वचा पर रेखाएँ अंकित होना है। इसके उपचार में क्वाथ, अवलेह और कल्कादि का प्रयोग करना चाहिए। अतः चरक ने किक्किस व्याधि के रोगोपनयन को अभिव्यक्त करते हुए विविध औषधयोगों का वर्णन किया है-

१. गर्भवती स्त्री को मधुरस्कन्ध की औषधियों से सिद्ध किया हुआ मक्खन एक तोला लेकर बड़ी बेर के काढ़े के साथ पिलाना चाहिए।
२. उसके स्तनप्रदेशों में एवं पेट पर सफेद चन्दन पीसकर उसमें कमलनाल का कल्क मिलाकर धीरे-धीरे लेप लगाना चाहिए।
३. कोरया की छाल, वनतुलसी का बीज एवं हल्दी के मिश्रित चूर्ण को पीड़िता की नाभि के चारों ओर प्रलेप लगाना चाहिए ।
४. नीम की पत्ती, बेर की पत्ती, तुलसी की पत्ती और मंजीठ के साथ पीसकर उसके उदर पर लगाना चाहिए।
५. बूँदीदार मृग, खरगोश के रक्त की भावना दिए हुए त्रिफला चूर्ण को पीड़िता गर्भिणी के शरीर पर मर्दन करना चाहिए।
६. कनैल की पत्ती या फल डालकर पकाए गए तिल के तेल का मर्दन पीड़िता के शरीर पर करना चाहिए।
७. मालती की पत्ती और मुलेठी इन दोनों के बने काढ़े से पूर्ववत् स्तन एवं उदरभाग को सेंकना चाहिए।

---

633 *च०सं०*, शा० 8/27

634 *अ०हृ०*, शा० 2/18

८. शिरीष की छाल, धवपुष्प, सरसों एवं मुलेठी को बराबर माप में लेकर एवं चूर्ण बनाकर पीड़िता के शरीर पर मर्दन करना चाहिए।[635]

यदि उसे शरीर के इन अंगों पर खुजली हो तब भी खुजलाना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से त्वचा शुष्क, लाल एवं फट जाती है, साथ ही शरीर पर निशान हो जाते हैं। *सुश्रुतसंहिता* और *काश्यपसंहिता* में किक्किस रोग के उपशमन का वर्णन नहीं मिलता है।

वाग्भट[636] किक्किस रोग के शमन में चरक द्वारा बताए गई उपचार को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री की टाँगों, स्तनों एवं पेट पर सफेद चन्दन और खस को पीसकर लेप लगाना चाहिए। उसके शरीर पर परवल, नीम, मंजीठ एवं तुलसी के गुनगुने काढ़े से सिंचन करना चाहिए। तत्पश्चात् दारुहल्दी एवं मुलेठी के गर्म जल से गर्भिणी के मैल को उतारना चाहिए। वृद्ध वाग्भट[637] भी इस व्याधि का शमन चरक के मतानुसार ही करने के लिए कहते हैं। इसके अतिरिक्त गर्भिणी के उदर एवं स्तन पर कनेर के पत्तों एवं करञ्ज के पत्तों का कल्क बनाकर सिद्ध किए गए तेल से मालिश करनी चाहिए। अतः उपर्युक्त प्रकार से किए गए उपचार से गर्भिणी का उदर मुलायम हो जाता है एवं खुजली का शमन होता है।

5.3.2 पथ्य सद्वृत्त :- पीड़िता को वातदोष का हरण करने वाले मधुर द्रव्यों से युक्त भोजन खिलाना चाहिए, जिसमें अल्पमात्रा में घी एवं नमक मिला हुआ हो। उसे जल का सेवन कम मात्रा में कराना चाहिए। *चरकसंहिता* में विवेचित है- **"मधुरमाहारजातं वातहरमल्पस्नेहलवणमल्पोदकानुपानं च भुञ्जीत।"**[638] वाग्भट ने गर्भिणी के लिए पथ्य आहार में चरक द्वारा कथित भोजन को ही माना है एवं कहा है कि यह भोजन खाने में स्वादिष्ट होना चाहिए, सुपाच्य हो एवं अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए अर्थात् अल्पाहार हो- **"सिद्धमल्पटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम्।"**[639] *अष्टांगसंग्रह*[640] में चरक द्वारा कथित पथ्य आहार को ही स्वीकार किया गया है।

---

[635] *च०सं०*, शा० 8/32

[636] *अ०ह्रि०*, शा० 1/59-61

[637] *अ०सं०*, शा० 3/10

[638] *च०सं०*, शा० 8/32

[639] *अ०ह्रि०*, शा० 1/59

[640] *अ०सं०*, शा० 3/10

अतः उपर्युक्त प्रकार से किक्किस रोग में किए गए उपचार से गर्भवती को जल्द ही शान्ति मिलती है।

5.4.1 लीनगर्भ व्याधि का शमन :- *अथर्ववेद* में लीनगर्भ के उपचार का विवेचन नहीं मिलता है। इस व्याधि में गर्भवती स्त्री का मुदु एवं स्नेहादि द्रव्यों से उपचार करें, क्योंकि इस अवस्था में तीक्ष्ण वमन, विरेचन आदि गर्भस्थ शिशु के लिए हानिकारक है। चरक ने इस रोग के विषय में कहा है कि **"तैलाभ्यङ्गेन चास्या अभीक्ष्णमुदरबस्तिवंक्षणोरुकटीपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत्।"**[641] अर्थात् सर्वप्रथम तिल या कटु तैल (सरसों आदि) को अच्छी प्रकार से गर्म करने के पश्चात् गर्भिणी के पेट, वंक्षण, कमर, पार्श्व एवं पीठ पर मालिश करानी चाहिए, जिसके कारण इस व्याधि में उसको शीघ्र आराम मिलता है।

सुश्रुत ने भी इस आमय में सबसे पहले गर्भिणी को स्नेहनादि मृदु कर्म करने के लिए कहा है। तदुपरान्त उसे कुररभेद पक्षी (उत्क्रोश) के मांसरस से सिद्धि किया हुआ एवं अधिक स्नेहयुक्त यवागू पिलाना चाहिए। इस औषधी का गर्भवती स्त्री द्वारा प्रतिदिन सेवन करने से आराम मिलता है।

"तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्।"[642]

वाग्भट ने इस रोग से पीड़ित को सर्वदा प्रसन्नचित रखने की सलाह दी है- **"हर्षयेत्सततं चैनामेवं गर्भः प्रवर्द्धते।"**[643] अर्थात् यदि गर्भिणी लीनगर्भ से ग्रस्त हो जाए, उसे इस अवस्था में सदा प्रसन्न रखना चाहिए, जिसके प्रभाव से गर्भ वृद्धि करता है और पूर्णतः पुष्ट होता है। वैद्य द्वारा कच्चे बेल का गुदा (गिरी), तिल एवं उड़द का चूर्ण बनाना चाहिए, उसके इस चूर्ण को दूध के साथ पीड़िता को पिलाना चाहिए। इसका नित्य सेवन करने पर पीड़िता शीघ्र ही स्वस्थ हो जाती है एवं गर्भ की भी अभिवृद्धि होती है। अथवा गर्भिणी की कमर पर अभ्यंग कराना चाहिए, इसमें तैल या लेप का प्रयोग हितकारक होता है।

---

641 *च०सं०*, शा० 8/28

642 *सु०सं०*, शा० 10/57

643 *अ०हृ०*, शा० 2/20

वाग्भट ने अन्यत्र स्थान पर लीन गर्भ के दुष्परिणाम के सन्दर्भ में कहा है कि- **"पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्राज्जायेत्, नैव वा।"**[644] अर्थात् यदि इसका उपरोक्त प्रकार से उपचार नहीं किया गया, तब संयोगवश कई महीनों में विकसित होने के कारण उसका जन्म हो भी सकता है अथवा नहीं भी। अतः इसका समयानुसार उपचार अवश्य करना चाहिए।

अष्टांगसंग्रह[645] में लीनगर्भ के उपचार को बताते हुए चरक द्वारा कथित वक्तव्य को माना गया है। इससे अतिरिक्त इसकी चिकित्सा में तिल, उड़द, कच्चे बेल के साथ सत्तु को अच्छी प्रकार मिलाकर एवं दूध में इन द्रव्यों को उबालकर गर्भिणी को पिलाना चाहिए। लीनगर्भ रोग की उपशमन के साथ नागोदर और उपविष्टक चिकित्सा में बताई गई औषधियों का सेवन भी किया जा सकता है। *काश्यपसंहिता* में लीनगर्भ रोग की चिकित्सा का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

अधुनातन चिकित्सा विज्ञान का मानना है कि एक बार लीनगर्भ का निदान होने पर यदि गर्भिणी में अन्य लक्षण सामान्य है, तब ४ से ६ सप्ताह तक प्रतीक्षा की जा सकती है। कई महिलाओं में देखा गया है कि गर्भ में गर्भस्थ शिशु की मृत्यु हो जाने के बाद ४-६ सप्ताह में स्वयं ही गर्भपात हो जाता है।

- इस अवस्था में बारम्बार रक्त में फाइब्रिनोजन की मात्रा अवश्य देखनी चाहिए। यदि गर्भिणी के रक्त की मात्रा में कमी आ जाए, तब शीघ्र ही उसका गर्भपात कराना हितकर होता है।
- यदि यह स्थिति गर्भिणी के पहले तीन महीनों में प्रारम्भ हुई है, तब गर्भपात के लिए डी०एण्ड०सी० औषधी सर्वाधिक उपयुक्त होती है।
- यदि यह स्थिति द्वितीय महीने में प्रारम्भ हुई है तब उसको डी०एण्ड०ई०, हाई टाइटर ऑक्सीटोसिन ट्रिप एवं हाइपरटोनिक सलाइन अथवा प्रोस्टाग्लेण्डिन द्वारा उल्ब भरण औषधियाँ देनी चाहिए।

---

644 *अ०हृ०*, शा० 2/21

645 *अ०सं०*, शा० 4/44

गर्भवृद्धि रुक जाने का अनुमान होने पर गर्भावस्था परीक्षण[646]

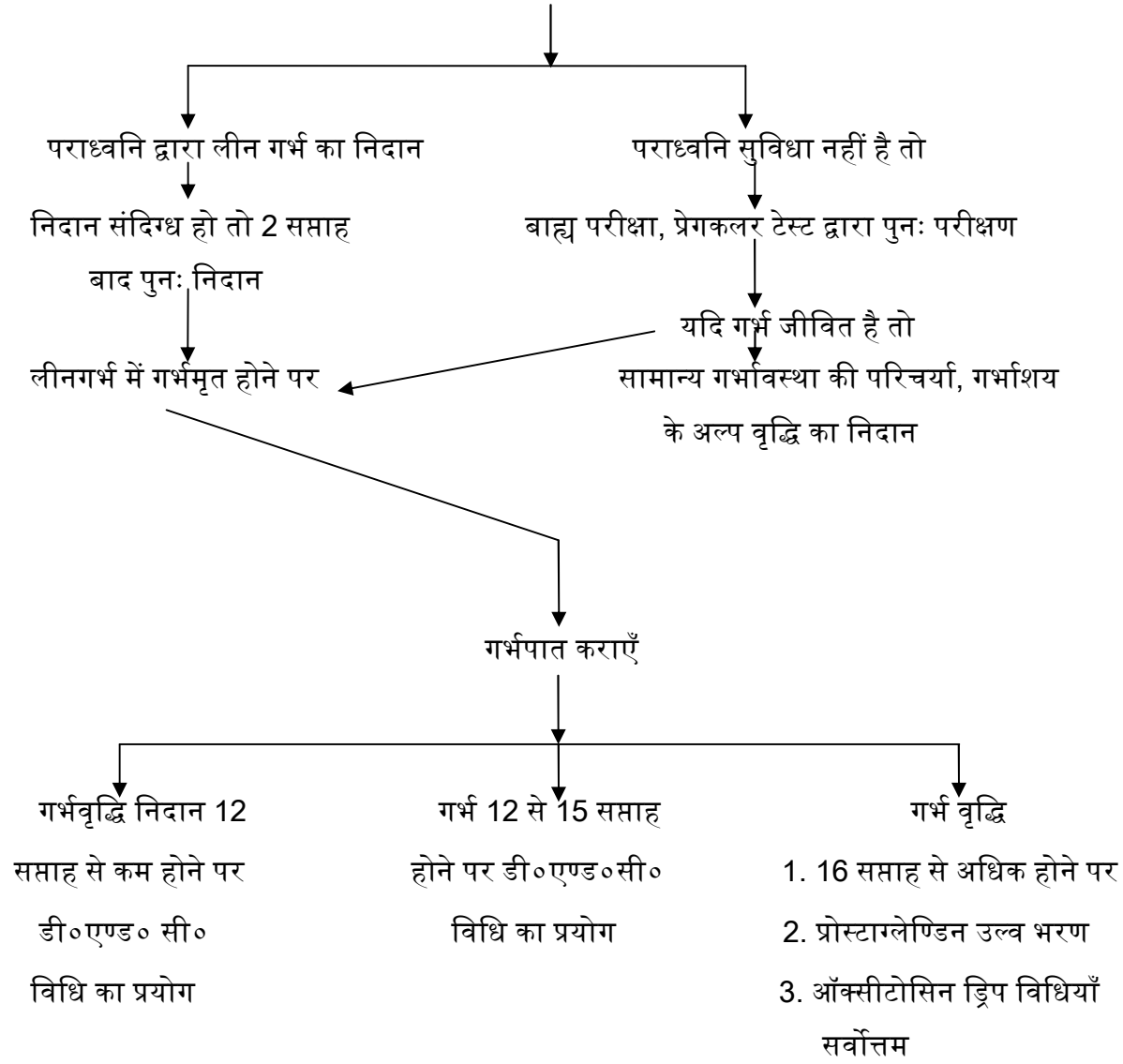

5.4.2 पथ्य आहार का प्रयोग :- आयुर्वेदज्ञों ने इस व्याधि के उपचार हेतु गर्भिणी को औषधसिद्ध भोजन करने के लिए कहा है। चरक ने शारीरस्थान[647] में लीनगर्भ का उपचार करते हुए कहा है कि- इससे ग्रस्त पीड़िता को मछली, बाज पक्षी, तीतर अथवा मुर्गा, मोर, नीलगाय के मांस में घी डालकर, उड़द की दाल या घी अधिक मात्रा में डालकर मूली के यूष के साथ लाल चावल से निर्मित मीठे एवं ठण्डे भात को भोजनरूप में देना चाहिए।

---

[646] *प्र०त०*, पृ० 219

[647] *च०सं०*, शा० 8/28

सुश्रुत पीड़ित गर्भवती महिला को पथ्याहार के रूप में कुलथी खाने के लिए कहते हैं- **"माषतिलबिल्बशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन् मधुरमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्।"**[648] अर्थात् पीड़िता को उड़द, तिल तथा बेल के कच्चे फलों से सिद्ध कुल्माष खिलाना चाहिए। तदुपरान्त उसे सात दिनों तक मधुमाध्वीक पिलाना चाहिए।

अष्टाङ्गहृदय[649] में लीनगर्भ का उपचार करते हुए चरकोक्त पथ्याहार को स्वीकार किया गया है तथा कुछ अन्य पथ्यों को भी इस प्रकार विवेचित किया है- जो गर्भवती स्त्रियाँ शाकाहारी हैं, उन्हें इस परिस्थिति में वैद्य द्वारा मूली तथा उड़द के जूस को सेवन करने के लिए कहना चाहिए। अथवा जो गर्भिणी मांस का सेवन करती हो, उसे मेदस्वी जीवों के मांस को भोजनरूप में देना चाहिए तथा इसके साथ ही द्राक्षासव या द्राक्षारिष्ट या महुआ की शराब पिलानी चाहिए। वृद्ध वाग्भट[650] भी इसके उपशमन में चरकोक्त पथ्याहार को मानते हैं।

अतः उपरोक्त प्रकार से की गई चिकित्सा एवं पथ्य से गर्भिणी शीघ्र स्वस्थ हो जाती है एवं व्याधि का शमन हो जाता है। गर्भस्थ शिशु की रुकी हुई वृद्धि पुनः आरम्भ हो जाती है।

5.5.1 गर्भशोष व्याधि का शमन :- *अथर्ववेद* में इस व्याधि के उपशमन का वर्णन नहीं किया गया है। इस आमय का लगभग सभी आयुर्वेद की संहिताओं में उपचार प्राप्त होता है। *चरकसंहिता* में गर्भशोष रोग का उपचार करते हुए गर्भ को पुष्ट करने के लिए कहा गया है- **"सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः"**[651] अर्थात् गर्भवती स्त्री के गर्भ को परिपक्व बनाने के लिए गम्भार की छाल, मिश्री तथा मुलहठी का कल्क मिलाकर क्षीरपाकविधि से दूध को अच्छे प्रकार से पकाकर पिलाना चाहिए। वाग्भट[652] भी इस आमय के उपशमन हेतु चरकोक्त रोगोपनयन को मानते हैं।

---

[648] *सु०सं०*, शा० 10/57

[649] *अ०हृ०*, शा० 2/19

[650] *अ०सं०*, शा० 4/24

[651] *च०सं०*, चि० 28/96

[652] *अ०हृ०*,चि० 21/22

सुश्रुत इस व्याधि में गर्भिणी को दूध, बृंहणीय द्रव्य एवं मांसरसों द्वारा चिकित्सा करने का विधान बताते है- **"तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्।"**[653] *अष्टाङ्गसंग्रह* में गर्भशोष व्याधि के उपचार को परिलक्षित करते हुए कहा गया है-

"शुष्यति तु गर्भे बालेषु च यष्टीमधुककाष्मर्यफलशारिवाशर्कराशृतं पयो दद्यात्।

मांसाद् मांसरसाश्च बृंहणीय स्नेहयुक्तान्॥"[654]

अर्थात् गर्भिणी के गर्भाशय में गर्भ के सूखने पर तथा बालकों के दुर्बल होने पर, उन्हें मुलेठी, गम्भारी की छाल, सारिवा एवं शक्कर मिलाकर सिद्ध दूध पिलाना चाहिए। जिन्हें मांस खाना प्रसन्द हो, उन्हें मांसाहारी जानवरों के मांस में बृंहणीय स्नेह मिलाकर देना चाहिए। अथवा जीवन्ती, अश्वगन्धा आदि से सिद्ध घी खिलाना चाहिए। टीकाकार इन्दु ने कहा है कि एरण्ड तैल के समान जो स्नेह विरेचित हो, वह देना चाहिए।

काश्यपसंहिता में इसके उपचार में दूध का सेवन करने के लिए कहा गया है। इससे गर्भ पुष्ट होकर दृढ़ होता है- **"क्षीरं हि सद्यो बलमदधाति दृढ़ीकरोत्याशु तथेन्द्रियाणि। पुष्टिर्दृढ़त्वं लभते च गर्भो।"**[655] अर्थात् यह गर्भिणी के शरीर में शक्ति बढ़ाता है, गर्भस्थ शिशु की इन्द्रियों को दृढ़ करता है। अतः संहिताओं में दूध को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भाव मिश्र[656] इस व्याधि के शमन में जीवनीयगण की औषधियों को खाने के लिए कहते हैं- यदि वातदोष के प्रकोपयुक्त होने पर गर्भिणी के उदर में गर्भ की पुष्टि नहीं होती है तो ऐसी स्थिति में उसे जीवनीयगण की औषधियों से सिद्ध दुग्ध पिलाएँ तथा उसे मांसरस को भोजन के खिलाना चाहिए। भेल[657] ने इस आमय के शमन हेतु रूक्ष पदार्थों का निषेध करने के लिए कहा है।

5.6.1 गर्भक्षय रोग का शमन :- *अथर्ववेद* में गर्भक्षय व्याधि का शमन करते हुए पृश्निपर्णी औषधी का वर्णन किया गया है-

"शं नो देवी पृश्निपर्न्यशं निरृत्या अकः। उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्॥"[658]

---

653 *सु०सं०*, शा० 10/57

654 *अ०सं०*, चि० 23/12

655 *का०सं०*, क० भो० 86-87

656 गर्भो वातेन संशुष्को नोदरं पूरयेद्यदि। सा बृंहणीयैः संसिद्धं दुग्धं मांसरसं पिबेत्॥ *भा०प्र०*,चि० 8/97

657 तस्माद्रूपा (क्षा) णि वर्जयेत्। *भे०सं०*, शा० 3/7

658 *अ०वे०* 2/25/1

अर्थात् यह पृश्निपर्णी औषधी स्वास्थ्य को सम्यक् रखकर सुख प्रदान करती है, रोगों को शान्त करती है एवं कष्टप्रद रोगों का सम्यक् रूप से शमन करती है। अतः उस बलवर्धक औषधी का सेवन गर्भिणी को कराना चाहिए। गर्भिणी द्वारा इस औषधी का सेवन करने से गर्भक्षय व्याधि में आराम मिलता है। परन्तु आयुर्वेद में केवल एक औषधी से रोग की चिकित्सा नहीं की जाती। इसमें औषधी की मात्रा का वर्णन भी नहीं किया गया, जैसे इसकी कितनी मात्रा में औषधी रोगी को देनी चाहिए।

अथर्ववेद में वर्णित है कि- **"अरायमसृक्पावनं यश्च स्फार्ति जिहीर्षति। गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णी सहस्व च॥"**[659] अर्थात् जो रोग गर्भवती स्त्री के गर्भ की वृद्धि को अवरुद्ध कर देते हैं, जो गर्भ का भक्षण करने वाले एवं रक्त को नष्ट करते हैं उन्हें इस औषधी द्वारा शान्त कर सकते हैं।

"पराच एनान् प्रणुद कण्वाञ् जीवितयोपनान्।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम्॥"[660]

अर्थात् जैसे सूर्योदय अन्धकार को दूर भगाता है वैसे ही गर्भवती स्त्री के गर्भ को कष्ट पहुँचाने वाले रोग को पृश्निपर्णी नष्ट करती है। इसके सेवन से गर्भिणी को शीघ्र आराम मिलता है। अतः इस औषधी द्वारा गर्भक्षयकारक कृमियों का शमन किया जाता है। परन्तु यह मन्त्रोक्त गुण आयुर्वेदीय निघण्टुओं में प्रत्यक्षतः नहीं मिलते हैं।

सुश्रुतसंहिता में केवल इसके शमन का विवेचन प्राप्त होता है। सुश्रुत ने गर्भिणी को गर्भक्षय रोग हो जाने पर क्षीरबस्ति का प्रयोग एवं स्निग्ध अन्न का प्रयोग कराने के लिए कहा है- **"तत्र प्राप्तबस्तिकालायाः क्षीरबस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोगश्चेति।"**[661] टीकाकार डल्हण **"मेध्य अन्न"** शब्द से स्निग्ध अन्न का सेवन गर्भिणी को करने के लिए कहते हैं एवं 'मेध्याण्डोपयोग' आदि पाठभेद का वर्णन करते हुए मेध्य से वस्त का वृषण एवं मछली आदि के अण्डे खाने के लिए कहते हैं।

5.6.2 गर्भक्षय रोग में पथ्य सद्उतत् :- *भावप्रकाश* में गर्भक्षय रोग को विस्तृतरूप से अभिव्यक्त किया गया है- जब गर्भिणी के सात मास समाप्त हो जाते हैं तब आठवें मास में

---

[659] *अ०वे०* 2/25/3

[660] *अ०वे०* 2/25/5

[661] *सु०सं०*, सू० 15/16 ; प्राप्तबस्तिकालायाः इति प्राप्तष्टमासाया इत्यर्थः। मेद्यान्नोपयोगः इति स्निग्धान्नोपयोगः। मेध्याण्डोपयोग इत्यन्ये पठन्ति। मेध्याण्डानि वृष्याण्डानि, वस्तमत्स्याण्डादीनिति व्याख्यानयन्ति। *सु०सं०*, सू० 15/16 पर डल्हण की टीका

ओज के आदान-प्रदान से मुख की कान्ति मलीन हो जाती है, शरीर कमजोर दिखाई देता है। उसे अत्यन्त स्निग्ध, मधुर रसों से युक्त, बलवर्धक एवं विशेषतया दूध और मांसादि पदार्थों का भोजन खिलाना चाहिए।[662] इस प्रकार प्रतिदिन सुपाच्य, स्वादिष्ट, बलवर्धक आहार लेने से गर्भवती स्त्री का ओज एवं गर्भ की वृद्धि शुरु हो जाती है। भावमिश्र[663] ने अन्य स्थान पर गर्भिणी को पशुओं के मांस खाने के लिए कहा है- गर्भ के कारण कृशा हुई महिला को इच्छानुसार हिरण, सूअर, भेड़-बकरी के मांस को सम्यक् रूप से भूनकर खिलाना चाहिए। उसे भरपूर वसायुक्त पदार्थों को खाने की इच्छा हो एवं यदि ये पदार्थ वर्जित हो तो अन्याहार के साथ सेवन कराना चाहिए, जिससे उसकी इच्छा पूर्ण हो सके। अतः इस प्रकार गर्भक्षय रोग में की गई चिकित्सा एवं पथ्याहार के कारण गर्भ पुष्ट होता है।

5.7.1 गर्भवृद्धि व्याधि का शमन :- इसका रोपोपनयन *अर्थववेद* में नहीं मिलता है। इस व्याधि का उपचार केवल *सुश्रुतसंहिता* एवं *भावप्रकाश* में मिलता है। इसमें धातु, उपधातु एवं मलों को संशोधन एवं क्षपण (संशमन) प्रक्रियाएँ करते हैं। यह उपचार गर्भिणी के बल को देखकर होता है, क्योंकि यदि संशोधनादि कर्मों का अधिक उपयोग हो जाता है, तो धातु आदि क्षय हो जाएगी। अतः वैद्य द्वारा गर्भिणी की चिकित्सा करते हुए विशेष ध्यान रखें। *सुश्रुतसंहिता* में गर्भिणी की चिकित्सा के विषय में कहा गया है कि-

"तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत॥"

5.7.2 गर्भवृद्धि रोग में पथ्य सद्वृत्त :- भावमिश्र[664] गर्भिणी के बढ़े हुए दोष, धातु एवं मलों को आहार सेवन एवं शयन, विचरणादि विहार द्वारा गर्भवृद्धि को क्षय करने हेतु कहते हैं। अतः गर्भवृद्धि व्याधि में उचित आहार-विहार ही प्रमुख उपचार है। इसलिए अत्यधिक बढ़ी हुई धातुओं को कम करना लाभप्रद है।

अतः इस व्याधि में सामान्यतः गर्भिणी की योग्यतानुसार सात्म्य, संशोधन, संशमन एवं आहार-विहार द्वारा उपचार करना चाहिए। लेकिन वैद्य को यह विशेषतया ध्यान रखें कि यह चिकित्सा गर्भक्षय के प्रतिकूल हो।

---

662 *भा०प्र०*, पू० 7/94

663 मृगाजाविवराहाणां गर्भान्वाञ्छति संस्कृतान्। वसाशूल्यप्रकारादीन्भोक्तुं गर्भपरिक्षये॥ *भा०प्र०*, पू० 7/113

664 *भा०प्र०*, पू० 7/74-75

5.8.1 भूतहृतगर्भ रोग का उपचार :- *अथर्ववेद* में इस रोग के उपशमन का वर्णन नहीं किया गया है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका उपचार *सुश्रुतसंहिता* एवं *भावप्रकाश* में मिलता है। सुश्रुत इसको लीनगर्भ के अन्तर्गत ही स्वीकारते हैं। इसके उपचार[665] में गर्भिणी को दोनों हाथों से ओखली में धान कूटने के लिए कहा गया है तथा उसे विपरीत आसन अथवा बैलगाड़ी, तांगा आदि विषमयान पर बैठकर यात्रा करने के लिए कहा है। संभवतः आयुर्वेदज्ञों को गर्भिणी की स्थिति को देखकर यह ज्ञात हो जाता है कि अब गर्भस्थ शिशु जीवित नहीं है, इसलिए गर्भ का स्राव या पात होना ही उचित है, क्योंकि यदि गर्भस्थ मृत शिशु अधिक दिनों तक गर्भाशय में रहता है तो उससे गर्भिणी की मृत्यु भी हो सकती है। *भावप्रकाश*[666] में भी गर्भिणी को इस व्याधि में धान कूटने के लिए कहा गया है।

5.8.2 भूतों द्वारा गर्भ का हरण किए जाने की धारणा का खण्डन :- आयुर्वेद की संहिताओं में सामान्यतः यह मत है कि गर्भावस्था के अन्तिम मासों में गर्भ का भूतों द्वारा भक्षण अथवा हरण किया गया है। संभवतः यह मत पूर्वपक्षी आचार्यों का है, जिसका खण्डन चरकादि आचार्य करते हैं। चरक ने पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करते हुए कहा है-

"ओजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।

गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः॥"[667]

अर्थात् वस्तुतः भूतगणों का आहार ओज धातु होता है, इसलिए वे शरीरस्थ ओज को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। उन्हें रक्त, मांसादि खाने में रुचि नहीं होती है। यदि वे गर्भ को बलात् हरण करते तो अवसरानुकूल माँ के ओज को ही हरण कर लेते। इसलिए भूतों द्वारा गर्भ हरने की बात कहना हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि वे माता के ओज का हरण नहीं कर सकते तो उनमें गर्भ का हरण करने का सामर्थ्य भी नहीं है।

अतः गर्भ को भूतहृत कहना तर्कसंगत नहीं है। टीकाकार चक्रपाणि[668] ने भी कहा है कि गर्भिणी के शरीर में प्रवेश का अवसर प्राप्त करके भूतगण स्त्री के ओजधातु का ही भक्षण कर लेते।

---

665 कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत॥ *सु०सं०*, शा० 10/57

666 *भा०प्र०*,चि० 70/101

667 *च०सं०*, शा० 2/10

668 लब्धावकाशा इति प्राप्तगर्भिण्यभिगमनकारणाः। *च०सं०*, शा० 2/10 पर चक्रपाणि की टीका

वाग्भट ने भी भूतहृतगर्भ का खण्डन करते हुए चरकोक्त मत को माना है- **"ओजोशनत्वादथवाऽव्यवस्थैर्भूतैरुपेक्ष्येत न गर्भमाता।"**[669] अर्थात् वस्तुतः भूतगण मनुष्य के ओजधातु का भक्षण किया करते हैं, इसी प्रकार वे गर्भिणी के ओजधातु का भी भक्षण कर सकते हैं। शास्त्रों में गर्भशरीर के भक्षण का विधान प्राप्त नहीं होता। यदि ऐसा विधान होता तो वे माता के ओज का ही भक्षण कर लेते, उसकी उपेक्षा ये भूतगण क्यों करते ? *अष्टांगसंग्रह*[670] में भी भूतहृतगर्भ का खण्डन करते हुए उपर्युक्त वर्णन को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त भूतहृतगर्भ के खण्डन के संदर्भ में विवेचित है- कभी भूतों द्वारा गर्भशरीर के हरण करने का दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। टीकाकार इन्दु[671] ने भी स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि कभी भूतों में इच्छा होती है, परन्तु शक्ति नहीं होती और जब शक्ति होती है तब उन्हें इच्छा नहीं होती। अतः वे इच्छाशक्ति के अभाव में शरीर का हरण नहीं कर सकते। अत्यधिक शक्ति से युक्त राक्षस माता के शरीर का हरण कर सकते हैं, आदि भूतों की अनिष्टशक्तिता का वर्णन अनुमानगम्य है एवं आचार्य इसकी मात्र सम्भावना का ही वर्णन करते हैं, क्योंकि जैसे शरीर के लिए कहा जाता है कि हरण करना देखा नहीं गया, उसी प्रकार राक्षसों द्वारा ओज का भी अपहरण देखा नहीं गया, इसीलिए यह सब अनुमान के आधार पर ही वर्णित है।

उपर्युक्त तथ्यानुसार कह सकते हैं कि भूतों द्वारा गर्भशरीर का हरण संभव नहीं है। संभवतः गर्भिणी को सम्पूर्ण आहार नहीं मिलने के कारण गर्भ का आकार सामान्य स्थिति से कम रहता है, जिसे अज्ञानतावश, मतान्धता के कारण भूतहृतगर्भ समझ लिया जाता है। गर्भिणी को उचित प्रोटीन, विटामिन, वसा, कार्बोहाइड्रेड एवं पोषकतत्त्व युक्त आहार देने से गर्भ पुष्ट तथा संवर्द्धित होता है और माता का मुख कान्तियुक्त होता है।

---

669 *अ०हृ०*, शा० 2/62

670 *अ०सं०*, शा० 1/18-19

671 -------ननु कथं न सम्भाव्यत इत्याह अनिष्टत्वात्, अथवा शक्तितः शक्तोऽपि कदाचिदनिष्टे न प्रवर्तते दृष्टेऽपि वा अशक्त्या न प्रवर्तते। -------। अतोऽनुमानात् ज्ञायते शरीरापहरणं भूनामानिष्टमशक्तता वा तत्रेति। एतच्चाचार्यस्य असंभवमात्रप्रदर्शनमं इति कृत्वा गृह्यते। अन्यथा शरीरवदोजसि पर्यनुयुक्तः किमुत्तरं दास्यति। *अ०सं०*, शा० 1/18-19 पर इन्दु की टीका

5.8.3 मूढ़गर्भ व्याधि का शमन :- आयुर्वेद की संहिताओं में गर्भिणी को होने वाले मूढ़गर्भ रोग की रोगोपनयन को विविध प्रकार से बताया गया है, जिसमें सामान्य चिकित्सा, जीवित मूढ़गर्भ की प्रसव विधि, दोषयुक्त मूढ़गर्भ की चिकित्सा, मूढ़गर्भ के उपचार में उपेक्षा का परिणाम सम्मिलित है।

5.8.4 मूढ़गर्भ का सामान्य शमन :- चरक ने इस उपचार का वर्णन करते हुए अपने पूर्वतन आचार्यों के मत को उद्धृत किया है- इस व्याधि में जरायुपातन (गर्भस्थ शिशु) के लिए सामान्य उपचार करें, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। अन्य आयुर्वेदज्ञ का मत है कि *अथर्ववेद* में कथित मन्त्रादि द्वारा उपचार करना चाहिए। अन्यद् आचार्यों ने भी कहा है कि अनुभवी उपचारक द्वारा शल्यकर्म कराना चाहिए।[672]

सुश्रुत ने भी मूढ़गर्भ के उपचार में बस्तिसाध्य एवं आहरण योग्य उपचार को वैध माना है।[673] वृद्धवाग्भट[674] भी आहरण योग्य शल्यों के संदर्भ में गर्भ शल्योपचार को मान्यता देते हैं। *हारीतसंहिता*[675] में भी कथित है कि यदि गर्भिणी द्वारा आहार नहीं करने के कारण गर्भाशय में गर्भ की मृत्यु हो जाती है, उस अवस्था में स्त्री का मर्दन करके या अभ्यंग करके गर्भस्थ शिशु को यत्नपूर्वक बाहर निकाल लेना चाहिए। सभी आचार्यों ने अकालप्रसूता में स्नेह का प्रयोग वर्जित बताया है। टीकाकार हेमाद्रि ने अप्रसूता का अभिप्राय अकालप्रसूता बताया है। अतः मूढ़गर्भ में स्नेह द्रव्यों का निषेध करना चाहिए।

5.8.5 जीवित मूढ़गर्भ की प्रसव विधि :- मूढ़गर्भ व्याधि के होने पर यदि प्रारम्भिक लक्षण हो तब वैद्य द्वारा गर्भिणी की स्थिति एवं गर्भस्थ शिशु की जीवित अनुभूति को ज्ञात करके औषधियों द्वारा गर्भ को बाहर निकाले लेना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में मूढगर्भ व्याधि के सन्दर्भ में कहा गया है कि- यदि गर्भ जीवित है, उस अवस्था में यह प्रयत्न करना चाहिए कि गर्भस्थ शिशु जीवित ही बाहर आ जाए। यदि किसी कारणवश ऐसे प्रयास असफल हो जाए, तो गर्भिणी को जीवित प्रसव के लिए गर्भनिर्हरण मन्त्रों का श्रवण करवाना चाहिए-

"इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि ! उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते।
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री।

---

672 *च०सं०*, शा० 8/31

673 *सु०सं०*,चि० 35/5 ; *सु०सं०*,सू० 25/11-12

674 गर्भशल्यमाहार्याणाम्। *अ०सं०*,सू० 13/3

675 मर्दयित्वा मानुषीञ्च ततश्चापि प्रयत्नतः। निराहाराञ्च म्रियते यदि गर्भोऽन्तरे स्त्रियः॥ *हा०सं०,* तृ० 52/16

तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्॥

मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः। मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः॥"[676]

अर्थात् हे सुभागिनी ! तेरे मन्दिर में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्वा एवं तुरग निवास करें। हे गर्भिणि ! यह अमृत जो समुद्रमन्थन कर प्राप्त किया गया, वह तेरे लघु गर्भ की रक्षा करें। तुम्हें सूर्य, इन्द्र, अग्नि एवं वायु देवता तथा समुद्र शान्ति प्रदान करें। गोशाला से पशु बन्ध मुक्त हो गए हैं, सूर्य ने भी अपनी किरणें स्वतन्त्ररूप से संसार में फैला दी हैं। अतः हे गर्भ ! तुम सभी प्रकार के भय से मुक्त होकर बाहर आ जाओ ! आ जाओ ! अब देर न करो।

सुश्रुतसंहिता में अन्य स्थान पर मूढ़गर्भ के उपचार को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि- **"औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि"**[677] अर्थात् प्रसूतिहस्तोपचार में वर्णितानुसार औषधियों की व्यवस्था करनी चाहिए। तदुपरान्त गर्भिणी की सद्यःप्रसूतानुसार उपचार करना चाहिए। मूढ़गर्भा स्त्री को प्रसूतानुसार बलातैल के अभ्यंग के बाद पान-परिषेक आदि भद्रदार्वादि वातदोष का शमन करने वाली औषधियों का सेवन करना चाहिए। गर्भिणी में दोष अन्दर रहने पर उसी समय पिप्पली, गजपिप्पली, पीपलामूल, चित्रक और श्रृंगबेर के चूर्ण में गुड़ मिलाकर गुनगुने जल में पिलाना चाहिए। इसको दो या तीन दिनों तक या अशुद्ध रुधिर ठीक होने तक दे । उसके बाद चौथे दिन विदारिगन्धादि से सिद्ध स्नेह यवागू या क्षीर यवागू को तीन दिनों तक पिलाना चाहिए।[678]

सुश्रुत[679] ने बलवती एवं निर्बला प्रसूता की परिचर्या किस प्रकार करनी चाहिए ? इसका वर्णन भी किया है। जो स्त्री जंगल, मरुभूमि में रहती हो, वह शारीरिक रूप से अधिक बलवान होती है अतः इनकी परिचर्या में घी या तैल की मात्रा मिलाकर पिलानी चाहिए और उसे अनुपान के रूप में पिप्पल्यादि क्वाथ पिलाना चाहिए। इस प्रकार तीन से पाँच दिनों तक स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। यदि प्रसूता दुर्बल हो, तो उसे यवागू का तीन या पाँच दिनों तक पान कराना चाहिए। तदुपरान्त स्निग्ध अन्न, अग्नि एवं बल की वृद्धि तथा वातदोष के प्रशमन के लिए द्रव्य पिलाना चाहिए।

---

[676] *सु०सं०*, चि० 15/5-8

[677] *सु०सं०*, चि० 15/5-9

[678] *सु०सं०*, शा० 10/16

[679] *सु०सं०*, शा० 10/17

सुश्रुत अन्यत्र स्थान पर कहते हैं कि-

"प्रायश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादींश्च परिहरेत्॥"

अर्थात् उसकी योनि का पर्याप्त मात्रा में गुननुने जल द्वारा धार लगाकर सिंचन करना चाहिए। इस अवस्था में प्रसूता को संभोग, क्रोध, व्यायाम आदि का परित्याग कर देना चाहिए।[680] वाग्भट भी मूढ़गर्भ का उपचार करते हुए कहते हैं कि- सर्वप्रथम प्रसूता की योनि को कम उष्ण जल द्वारा सेंकना चाहिए। तदुपरान्त उसकी योनिमुख पर गुड़, किण्व एवं नमक पीसकर लेप लगाना चाहिए एवं उसकी योनि को बारम्बार पूरण करना चाहिए। उसके कुछ समय पश्चात् कल्क किया हुआ शाल्मली तथा अतसी की पिच्छा को घी के साथ मिलाकर योनि के अन्दर एवं बाहर पूरण करना चाहिए। अतः इन योगों से गर्भ फिसलकर बाहर आ जाता है। यदि उक्त उपायों द्वारा भी मूढ़ गर्भ नहीं निकलता है तो उस अवस्था में जरायु गिराने वाले योगों का सेवन ही गर्भवती स्त्री के लिए हितकारक हो सकता है।

"तस्याः कोष्णाम्बुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं प्रलेपयेत्।
गुड़ं किण्वं सलवणं तथान्तः पूरयेन्मुहुः। घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यसिपिच्छया।
मन्त्रैर्योगैर्जरायूक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत्॥"[681]

वृद्ध वाग्भट ने *अष्टांगसंग्रह* में भी सचेतन गर्भ के संग होने पर प्रसव कराने वाली महिला को पूर्वोक्त मन्त्र एवं औषधी सेवन करने हेतु कहा है। इसके टीकाकार इन्दु ने कहा है कि जिस वैद्य ने पहले अनेक प्रसव कराए हो अर्थात् जिसे प्रसव का सम्पूर्ण रूप से अनुभव हो, उसे ही मूढ़गर्भ से युक्त गर्भिणी का प्रसव कराना चाहिए।[682] *काश्यपसंहिता*[683] में वरणबन्ध के अन्तर्गत वर्णित **"मातङ्गी विद्या"** को कृच्छ्रप्रसवा को सुनाने से शीघ्र प्रसव होने का समुल्लेख मिलता है।

हारीतसंहिता[684] में मूढ़गर्भ से युक्त स्त्री की मन्त्र, औषध एवं पथ्याहार करने के लिए कहा गया है- गर्भिणी की नाभि के ऊपर कलिहारी वृक्ष के मूल को गर्म जल में पीसकर लेप लगा देना चाहिए, जिससे गर्भ शीघ्र ही गर्भाशय से बाहर आ जाता है एवं स्त्री को शीघ्र

---

[680] *सु०सं०*, शा० 10/18

[681] *अ०ह्र०*, शा० 2/24-26

[682] सत्यो या अनुभूतानेकप्रसवास्ताः प्रसवाय नानाविधैरुपायैः प्रयतेरन्॥ *अ०सं०*, शा० 4/33 की इन्दु टीका

[683] *का०सं०*, क० 6/80

[684] लाङ्गल्या मूलेन उष्णेन वारिणा योषितां नाभिलेपेन शीघ्रं गर्भो जायते प्रसूयते च।
बलामूलं सूर्यकान्तिसोमवल्लीकानि कञ्जलेन पिष्ट्वा लेपनं करोतु॥ *हा०सं०*, तृ० 52/18, 19-21

प्रसव हो जाता है। अथवा उसकी नाभि के चारों ओर खरेटी की जड़, सूरजमुखी एवं सोमवल्ली द्रव्यों को काजल की तरह पीसकर लेप लगाना चाहिए, जिससे उसको सुख की अनुभूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त गर्भिणी की नाभि के नीचे शतावरी, चिरायता, वार्ताकी (तोरई), कटेली एवं बृहतीमूल, पिप्पली एवं अजवाइन आदि द्रव्यों एवं पदार्थों को पीसकर लेप लगाना चाहिए, जिसके उपचार से गर्भवर्ती स्त्री को सुखपूर्वक प्रसव होता है। अथवा उसके नाभि के चारों ओर लांगली का मूल, देवदाली, तुम्बिका एवं कड़वी तोरई को अच्छी प्रकार से पीसकर लेप लगाएँ, यह उपचार इस रोग एवं प्रसूता का सर्वश्रेष्ठ उपचार है। अतः नाभि के चारों ओर लेप करने से सुखप्रसूति होती है।

तत्पश्चात् हारीत ने इन औषधों से अतिरिक्त मन्त्रों द्वारा भी क्षेत्रविशेष की मूढ़गर्भ से युक्त गर्भिणी का प्रसव कराने के लिए कहा है- भारत के उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत है, उसके उत्तरी किनारे पर सुरसा नामक राक्षसी का निवास है, जब वह रात में चलती या नाचती है तो उसकी पायलों की झंकार से मूढ़गर्भ से युक्त गर्भवती स्त्री का प्रसव हो जाता है। प्रसव से पूर्व उसे मन्त्र पढ़ते हुए दूध पिलाना चाहिए, जिससे उसका प्रसव सफलता पूर्वक हो जाता है-

"ऐं ह्रीं भगवति ! भगमालिनी ! चल चल भ्रामय पुष्पं विकाशय विकाशय स्वाहा।
ॐ नमो भगवते मकरकेतवे पुष्पधन्विनेप्रतिवालितसकलसुरासुरचित्ताय
युवतिभगवासिने ह्रीं गर्भं चालय चालय स्वाहा। एभिर्मन्त्रितं पयः पाययेत्तेन सुखप्रसवः॥"[685]

हारीत ने मूढ़गर्भ व्याधि से युक्त गर्भिणी की शय्या के नीचे मन्त्र लिखकर यन्त्र रखने का विधान बताया है, जिसके कारण उसका सुखप्रसव हो जाता है-

"ऐं ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रैं ह्रों ह्रौं ह्रः॥"[686]

अतः आयुर्वेदज्ञों द्वारा मूढ़गर्भ में गर्भिणी के शरीर की अवस्था एवं गर्भ को जीवित जानकर उपचार तथा मन्त्र का प्रयोग होता था। अद्युनातन ये सिद्धमन्त्र सार्थक है या नहीं, यह परीक्षणीय विषय है।

---

[685] *हा०सं०*, तृ० 52/22-23

[686] *हा०सं०*, तृ० 52/24

5.8.6 दोषयुक्त मूढ़गर्भ व्याधि का शमन :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में केवल *हारीतसंहिता* के अन्तर्गत मूढ़गर्भ रोग की दोषानुसार चिकित्सा का वर्णन मिलता है- वातिक मूढ़गर्भ, पैत्तिक मूढ़गर्भ, कफज मूढ़गर्भ एवं रक्तपित्तज मूढ़गर्भ चिकित्सा। अतः त्रिविध दोषानुसार मूढ़गर्भ का उपचार किया जाएगा।

5.8.7 वातिक मूढ़गर्भ का शमन- इस दोषानुसार हुए मूढ़गर्भ में गर्भिणी को मर्दन, अभ्यंग, स्वेदन एवं पंचकोल से निर्मित यवागू का सेवन कराना चाहिए। *हारीतसंहिता* में कहा गया है कि-

"वातिके मर्दनाभ्यङ्गं स्वेदनं वाल्पमेव च। यवागूं पञ्चकोलञ्च पययेद्भिषगुत्तमः॥"[687]

5.8.8 पैत्तिक मूढ़गर्भ का शमन- इस दोष के कारण बढ़े हुए मूढ़गर्भ में पीड़िता को शीतल अन्न, शीतल पान, शीतल व्यञ्जन एवं मुलेठी को दूध सहित पिलाना चाहिए।, जिसके सेवन करने से पैत्तिक मूढ़गर्भ में शीघ्र आराम रोगी को मिलता है। *हारीतसंहिता* में पैत्तिकमूढ़गर्भ का उपचार बताते हुए कहा गया है कि-

"पैत्तिके शीतलं पानं शीतान्नसहितानि च। व्यञ्जनानि तथा तस्य यष्टिकं पयसा पिबेत्॥"[688]

5.8.9 कफज मूढ़गर्भ का शमन- इसके होने पर पीड़िता को त्रिकटु, त्रिफला, लोध, कुड़ा वृक्ष की छाल, धायपुष्प एवं गुड़ इन पदार्थों का काढ़ा बनाकर पिलाना चाहिए। इसके नित्य सेवन पर रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जाता है। हारीत ने कहा भी है कि-

"त्रिकटु त्रिफला कुष्ठं रोध्रं वत्सकधातकी। सगुडं क्वथितं पाने श्लेष्मणा मूढगर्भके॥"[689]

5.8.10 रक्तपित्तज मूढ़गर्भ का शमन- इससे ग्रस्त होने पर गर्भिणी को मूर्वा, इमली, वास्तुकर्णी, मंजीठ, लोध, नीलिका, बेर वृक्ष की जड़, फिटकरी एवं गुड़ के साथ इन सभी पदार्थों का काढ़ा बनाकर पिलाना लाभप्रद है।[690] अतः वैद्य द्वारा गर्भिणी के दोष को ध्यान में रखकर मूढ़गर्भ का उपचार करना चाहिए, सभी मनुष्य की प्रकृति अलग-अलग होती है।

---

[687] *हा०सं०*, तृ० 52/11

[688] *हा०सं०*, तृ० 52/12

[689] *हा०सं०*, तृ० 52/13

[690] *हा०सं०*, तृ० 52/14-15

इसलिए गर्भवती स्त्री को अपथ्य आहार-विहार एवं ऋतुपरिवर्तन के दोषों में वृद्धि एवं क्षय होकर मूढ़गर्भ व्याधि की उत्पत्ति हो सकती है।

5.8.11 मूढ़गर्भ के उपचार में उपेक्षा का परिणाम :- आयुर्वेदज्ञों का मानना है कि मूढ़गर्भ की क्षणभर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इसकी उपेक्षा करने पर माता का श्वास अवरुद्ध हो जाता है, जिसके कारण वह शीघ्र मर जाती है।

नवयुगीन चिकित्सकों का भी मत है कि- "**In the majority of cases labour soon follows death of the foetus. There are, however, cases in which the signs of foetal death are clearly present. But labour does not occur spontaneously even after several even after several weaks, in these cases there is no urgent call for interfererence, unless the complication of hypofibrinogenaemia develops.**"[691]

गर्भिणी में वातदोष के कोपयुक्त होने से गर्भ की विविध गतियाँ हो जाती है। इसलिए प्रवीण वैद्यक ही विधिपूर्वक मूढ़गर्भ की चिकित्सा करता है। यदि चिकित्सक द्वारा इसकी उपेक्षा की जाती है तो उसका प्रभाव माता पर भी पड़ता है और यह प्रभाव इतना अधिक हो जाता है कि गर्भ मृत होने के कारण गर्भिणी के श्वासों में रूकावट हो सकती है, जिसके कारण उसकी मृत्यु शीघ्र हो सकती है। सुश्रुत ने भी मूढ़गर्भ की उपेक्षा करने पर कहा है कि-

"नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।

स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा॥"[692]

वाग्भटद्वय ने भी वैद्य को मूढ़गर्भ की उपेक्षा नहीं करने के लिए कहा है, क्योंकि इसके कारण गर्भिणी का जीवन समाप्त हो सकता है।[693] चिकित्सक द्वारा जीवित मूढ़गर्भ का शल्यकर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि वैद्य शल्यकर्म करता है तो गर्भ के अंगों को काटने के कारण उसके गर्भाशय में दूषित रक्त विष बनकर फैलने लगता है, जिससे गर्भ के साथ-साथ माता की भी मृत्यु हो जाती है। इसके विपरीत मृतगर्भ को निकालने में भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। अतः शीघ्र ही शल्यकर्म द्वारा गर्भ को सावधानीपूर्वक निकालना चाहिए।

---

691 Obstetrics by T.T, *सु०सं०* (भा-2) , पृ०- 294

692 *सु०सं०*, चि० 15/15

693 *अ०सं०*, शा० 4/32 ; *अ०हृ०*, शा० 2/37

भावप्रकाश एवं *योगरत्नाकर* में भी चिकित्सक द्वारा मूढ़गर्भ[694] की उपेक्षा नहीं करने के लिए कहा गया है। अतः ये आचार्य भी सुश्रुत के मत का पुनरावलोकन करते हैं।

5.8.12 गर्भ-शल्योद्धरण में सावधानियाँ :- वैद्यों का यह मानना है कि मूढ़गर्भ रूपी शल्य को निकालने से अधिक कष्टदायक अन्य चिकित्साएँ नहीं है, क्योंकि इसमें चिकित्सक को दोनों हाथों द्वारा स्त्री की योनि को स्पर्श करके, यकृत्, प्लीहा, आन्त्रविवर (आँतों का स्थान) एवं गर्भाशय के बीच स्पर्श अर्थात् हस्तकौशल से चिकित्सा करनी पड़ती है।

सुश्रुतसंहिता में मूढ़गर्भ व्याधि के सन्दर्भ में कहा गया है कि शल्यचिकित्सक को अत्यधिक नीचे आये हुए को ऊपर खींचना, ऊपर चले गए को नीचे खींचना, गर्भशय्या में आसक्त उत्तान गर्भ को अवाङ्गमुख करना, अवाङ्गमुख को उत्तान करना, ऊर्ध्व स्थित अंग को काटना, आध्मान युक्त कुक्षि का विदारण, मृतगर्भ के गर्भाशय में सक्त अंगों का छेदन या काटकर दो अंगों में बाँटना, दबाना, टेढ़े अंगों का सीधा करना एवं छेदन आदि कर्म, यदि गर्भ जीवित है एवं गर्भवती स्त्री को बिना आघात पहुँचाए, एक ही हाथ से करने पड़ते हैं। टीकाकार डल्हण ने पाठभेद का वर्णन करते हुए **'स्थानापवर्तन'** के स्थान पर **'स्थानव्यावर्तन'** अर्थात् गर्भशय्यादि तिर्य्यगादि की अवस्थिति में स्थित उत्तान गर्भ को **'अधोव्यावर्तन'** कर अर्थात् गर्भ को नीचे की ओर लाकर स्थिर करना स्वीकार करते हैं।[695] वृद्ध वाग्भट मूढ़गर्भ से पीड़ित हुई गर्भवती स्त्री के गर्भाशय में मृतगर्भस्थ शिशु को शल्यचिकित्सा द्वारा निकालने का विवेचन सुश्रुतोक्त के अनुसार ही स्वीकार करते हैं। टीकाकार इन्दु[696] ने कहा है कि स्त्री की योनि आदि की रक्षा करते हुए वैद्य को हस्तस्पर्श द्वारा ही ज्ञात करके बिना देखे ही शल्य कर्म करना पड़ता है। अतः मूढ़गर्भ को सारणी द्वारा सरलतया ज्ञान हो सकता है-

क्र०	नाम	अर्थ
1.	उत्कर्षण	अत्यधिक नीचे आए गर्भ को ऊपर खींचना।
2.	अपकर्षण	ऊपर चले गए गर्भ को नीचे की तरफ खींचना।
3.	स्थानापवर्तन	गर्भशय्या में आसक्त उत्तान गर्भ को अवाङ्मुख करना।
4.	उद्वर्तन	अवाङ्मुख को उत्तान करना।
5.	उत्कर्तन	किसी ऊर्ध्व स्थित अंग का उद्वर्तन।

694 *भा०प्र०*, पू० चि० 8/128 ; *यो०र०* स्त्रीरो० चि०

695 *सु०सं०*, चि० 15/3 ; *सु०सं०*, चि० 15/3 पर डल्हण की टीका

696 *अ०सं०*, शा० 4/36 पर इन्दु की टीका

6.	भेदन	आध्मान युक्त कुक्षि का विदारण।
7.	छेदन	मृतगर्भ के गर्भाशय में सक्त अंगों का छेदन।
8.	पीड़न	दबाना।
9.	श्रृजुकरण	टेढ़े अंगों को सीधा करना।
10.	दारण	छेदन आदि।

चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय एवं *काश्यपसंहिता* में मूढ़गर्भ व्याधि से मृतगर्भ के शल्यकर्म का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है।

अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान का मानना है कि सामान्यतः बहुप्रसवा में स्फिगोदय को छोड़कर प्रथम सगर्भा एवं बहुप्रसवा महिलाओं में असामान्य प्रसूति के अन्तर्गत उदर मार्ग को प्रसवित कराना श्रेष्ठ है। इसलिए मृतगर्भ होने पर ही अंगों को काट कर योनिमार्ग से निकालने का निर्देश है। अतः स्फिगोदय की अधोक्त स्थितियाँ हो सकती हैं-

- पूर्ण स्फिगोदय- जंघा एवं घुटने दोनों ही संकुचित।
- स्पष्ट स्फिगोदय- जंघा संकुचित एवं घुटने असंकुचित।
- पाद स्फिगोदय- एक या दोनों जंघा फैलाकर पाद प्रस्तुति।
- घुटने द्वारा प्रस्तुति- एक या दोनों जंघाओं का फैला होना एवं घुटने संकुचित होना तथा घुटने द्वारा प्रस्तुति।

5.8.13 शल्यकर्म के पूर्व भोजन का निषेध :- वैद्य द्वारा मूढगर्भ व्याधि से पीड़ित स्त्री की शल्यचिकित्सा करने से पूर्व भोजन न करने की सलाह देनी चाहिए, क्योंकि इससे शल्यकर्म में कष्ट और वात प्रकुपित हो जाता है। *सुश्रुतसंहिता* में कथित है कि-

"मूढ़गर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोष्वभुक्तः कर्म कुर्वीत॥"[697]

अर्थात् शल्यकर्मों का सामान्य निर्देश देते हुए मूढ़गर्भ, उदर, अर्श, अश्मरी, भगन्दर एवं मुखरोग में पीड़ित को बिना कुछ खाए या खाली पेट ही शल्य कर्म (ऑपरेशन) कराने का निर्देश हैं। टीकाकार डल्हण[698] ने अधिक स्पष्टरूप से कहा है कि इन पाँचों रोगों में अन्न द्वारा

---

[697] *सु०सं०*, सू० 5/16

[698] मूढ़गर्भादिषु षट्स्वन्नपूर्णकोष्ठत्वाद् यन्त्रदानादिभिः कष्टं मरणं वा प्राप्नोत्यातुरः, अनिलश्च प्रकोपमेति। *सु०सं०*, सू० 5/16 पर डल्हण की टीका।

कोष्ठ के पूर्ण होने पर रोगी की मृत्यु हो सकती है एवं वायु कोपयुक्त हो जाती है। वाग्भटद्वय ने मूढ़गर्भ की शल्यचिकित्सा से पूर्व भोजन का निषेध बताया है एवं टीकाकार इन्दु ने भी शल्यकर्म से पहले रोगी को भोजन नहीं देने के लिए कहा है। परन्तु टीकाकार अरुणदत्त ने भोजन का तो निषेध किया है परन्तु मद्यपान का सेवन कराने के लिए कहा है। टीकाकार हेमाद्रि ने शल्यचिकित्सा से पहले भोजन एवं मद्य दोनों का निषेध बताया है।[699]

5.8.14 गर्भ-शल्यकर्म से पूर्व पति की आज्ञा :- आयुर्वेदज्ञों का मानना है कि शल्यचिकित्सा से पहले गर्भिणी को भोजन का निषेध बताकर एवं परिवार के ज्येष्ठ व्यक्ति या पति से आज्ञा लेकर उपचार करना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता* में शल्यकर्म को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

"तस्मादधिपतिमापृच्छय परञ्च यत्नमास्थायोपक्रमेत।"[700]

अर्थात् गर्भ-शल्यचिकित्सा में अधिपति से पूछकर, गर्भिणी को उचित स्थिति में लिटाकर उपचार करना चाहिए। अतः इसमें पति या किसी वरिष्ठ व्यक्ति की सहमति लेना आवश्यक है, क्योंकि यह चिकित्सा बहुत कठिन होती है। इसमें स्त्री मर भी सकती है। इसलिए किसी वरिष्ठ की आज्ञा लेना अत्यावश्यक होता है।

अष्टांगसंग्रह में शल्यकर्म से पूर्व अनुमति लेने की अवस्था को स्पष्टरुप से व्यक्त करते हुए कहा गया है- **"तस्मादीश्वरमापृच्छय परं च यत्नमास्थाय तद्विद्यसहितस्तमुक्रमेत्। अक्रियायां ध्रुवं मरणम्।।"[701]** अर्थात् सर्वप्रथम वैद्य द्वारा शल्यकर्म करने के लिए गर्भिणी के स्वामी से आज्ञा लेनी चाहिए। तदुपरान्त पूर्ण तैयारी के साथ इस शस्त्रकर्म को जानने वाले दूसरे वैद्यों को साथ लेकर शल्यचिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। गर्भिणी के स्वामी को समझाना चाहिए कि यदि इस अवस्था में शल्यकर्म नहीं किया गया तो गर्भवती महिला का मरना निश्चित है। शल्यकर्म करने से गर्भिणी के बचने की अधिक सम्भावना है। टीकाकार इन्दु[702] का मानना है कि यदि स्वामी से पूछकर शल्यकर्म किया जाए तो यदि उस अवस्था में स्त्री की मृत्यु हो जाती है, तब उसे अपयश नहीं मिलता। वाग्भट ने भी शल्यकर्म से पहले स्वामी की आज्ञा लेने के लिए कहा है।

---

[699] *अ०सं०*, सू०38/14 ; *अ०हृ०,* सू० 29/16 ; मूढ़गर्भादिभियं आतुरस्तं वर्जयित्वेष्टं भोजनं मद्यपानं च कारयितव्यम्। *अ०हृ०,* सू०29/16 पर हेमाद्रि की टीका

[700] *सु०सं०*, चि० 15/3

[701] *अ०सं०*, शा० 4/37

[702] तस्माद्भिषगीश्वमापृच्छय यथा मृतायामयशसा योगो न भवतीति। *अ०सं०*,शा० 4/37 पर इन्दु की टीका ; *अ०हृ०*, शा० 2/26

वर्तमान समय में भी चिकित्सकों द्वारा शल्यकर्म से पूर्व अधिपति की आज्ञा लेना अनिवार्य है।

5.8.15 गर्भ-शल्योद्धरण के समय गर्भिणी की स्थिति, हस्त-प्रवेश विधि :- गर्भवती स्त्री को सर्वप्रथम उत्तान अर्थात् पीठ के बल लिटाना चाहिए एवं उसकी टाँगों को मोड़ देना चाहिए। उसके बाद वस्त्रधारक द्वारा उसके कटिभाग को ऊँचा कर देना चाहिए। तदुपरान्त वैद्य द्वारा अपने हाथ को स्निग्ध कर लेना चाहिए, इसके लिए धनुर्वृक्ष, शल्लकी, सेमल, मिट्टी एवं घी की सहायता ली जा सकती है। वैद्य एक हाथ को स्निग्ध करके गर्भिणी की योनिमुख में प्रवेश कराए एवं गर्भस्थ शिशु को सावधानीपूर्वक योनिद्वार से निकाल ले।

"मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्यारकोन्नमितकटया

धन्वनन्गवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं यौनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत्॥"[703]

टीकाकार डल्हण कहते हैं कि मृत्स्न का प्रयोग उचित नहीं है। इसकी जगह निर्यास या पिच्छा लेने के लिए कहते हैं अर्थात् औषधियों के गोंद तथा घी से हाथ को चिकना कर योनिमुख के अन्दर प्रवेश करके गर्भस्थ शिशु को बाहर निकालना चाहिए।

वृद्धवाग्भट ने भी कहा है कि **"अथोत्तानाया व्यभुग्नसक्थ्या वस्त्रचुम्भलोन्नमितकटिप्रदेशायाश्च धन्वनागमृत्तिकाशाल्मलीपिच्छाघृतैरभ्यज्य हस्तं योनिं च गर्भमाहरेत्॥"**[704] गर्भिणी को पीठ की ओर से लिटाकर टाँगों को घुटनों तक मोड़ देना चाहिए, जिसके कारण कटि प्रदेश ऊपर उठ जाता है। तत्पश्चात् वैद्य द्वारा धावन, सल्लकी, सिम्बल इन सभी के गोंद से हाथ को एवं योनि को चिकना करके गर्भस्थ शिशु को बाहर निकल लेना चाहिए। वाग्भट[705] शल्यकर्म से पूर्व उपर्युक्त कार्य करने के लिए कहते हैं, जिसे पूर्वोक्त आचार्यों ने भी कहा है एवं भावमिश्र तथा योगरत्नाकार ने कहा है कि सर्पिषाक्त हस्त का योनि में प्रवेश करके जीवित गर्भ को यत्नपूर्वक निकालना चाहिए।

अतः कटिप्रदेश को ऊँचा करके सक्थियों को मोड़कर उत्तान लेटाने पर गर्भवती स्त्री की स्थिति, लिथाटॉमि स्थिति के समान हो जाएगी। इस स्थिति में योनिमार्ग से गर्भ सुगमता से बाहर आ जाएगा।

---

[703] *सु०सं०*, चि० 15/9 ; *सु०सं०*, चि० 15/9 पर डल्हण की टीका

[704] *अ०सं०*, शा० 4/38

[705] हस्तमभ्यज्य योनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया। *अ०हृ०*, शा० 2/27 ;
गर्भे जीवति मूढे तु गर्भं यत्नेन निर्हरेत्। हस्तेन सर्पिषाक्तेन योनेरन्तर्गतेन सा॥ *भा०प्र०*, चि० 70/121 ; *यो०स्त्रीरो०* चि०

5.8.16 मूढ़गर्भ को हाथ द्वारा निकालने की विधि :- आयुर्वेदीय संहिताओं में मूढ़गर्भ की अनेक गतियाँ बताकर, उसको बाहर निकालने की विधियाँ बताई गई हैं। *सुश्रुतसंहिता* में मूढ़गर्भ को परिलक्षित करते हुए, उसको बाहर निकालने की प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है-

- यदि गर्भस्थ शिशु की दोनों टाँगे बाहर आई हुई हो, उस अवस्था में उन्हें खींचकर गर्भ को बाहर निकाल लेना चाहिए।
- यदि गर्भस्थ शिशु की एक टाँग (सक्थि) बाहर आई हुई हो तो दूसरी टाँग को भी वैद्य के हस्त कौशल द्वारा सीधा करके गर्भ को बाहर निकाल लेना चाहिए।
- यदि गर्भ के नितम्ब बाहर आए हुए हो, उस स्थिति में नितम्बों को दबाकर उसे ऊपर करके एवं टाँगों को बाहर निकालकर और कुशलतापूर्वक खींचकर प्रसव कराना चाहिए।
- यदि गर्भ तिरछा होकर परिघ की तरह बीच में फँस गया हो तो उसे बाहर निकालने के लिए गर्भ के निचले तथा पीछे के आधे भाग को ऊपर की ओर दबाएँ और ऊपर के आधे भाग को नीचे की तरफ लाकर प्रसवमार्ग में सीधा करके निकाल लेना चाहिए।
- यदि गर्भ का सिर एक तरफ मुड़ा हुआ हो तब उसके कंधों को दबाकर और ऊपर की ओर करके सिर को योनिमार्ग में नीचे लाकर बाहर निकाल लेना चाहिए।
- यदि प्रसव के समय गर्भ की भुजाएँ बाहर आई हुई हो तो कंधों को ऊपर की ओर दबाकर एवं सिर को प्रसवमार्ग में सीधा लाकर बाहर निकालें। अन्तिम दो विधियाँ मूढ़गर्भ में असाध्य हैं। अतः सफलता न मिलने पर शस्त्र प्रयोग करना चाहिए।[706]

अष्टांगसंग्रह[707] में भी मूढ़गर्भ की शल्यचिकित्सा का वर्णन सुश्रुत मतानुसार ही स्वीकार है। वाग्भट ने मूढ़गर्भ के उपचार के विषय में कहते हैं कि-

"हस्तेन शक्यं तेनैव गात्रं च विषमं स्थितम्।
आञ्छनोत्पीडसम्पीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः।
अनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम्॥"[708]

अर्थात् जब औषधी द्वारा मूढ़गर्भ का प्रसव न हो सके, तब उस अवस्था में शल्योपचारक द्वारा परिवार के कोई ज्येष्ठ मनुष्य या स्त्री के स्वामी, जो उस समय उपस्थित हो, उसकी

---

[706] *सु०सं०*, चि० 15/9 ; परिशिष्ट-14 देखें

[707] *अ०सं०*, शा० 4/39

[708] *अ०हृ०*, शा० 2/27-28

आज्ञा लेनी चाहिए। उसके बाद सेमल की राल से हाथ को और योनि को चिकिना करके योनिद्वार में डालकर गर्भ को पकड़कर बाहर निकालें। यदि किसी कारणवश गर्भशरीर के अंग विषम स्थिति में हो, तब उन्हें सीधा करके या ऊपर की ओर दबाकर या उसी स्थिति में उसके फैले हुए अंगों को दबाकर या इधर-उधर ले जाकर उन्हें सीधा करके खींचे, जिससे वह गर्भ योनि की ओर सीधे आ जाए।

हारीतसंहिता[709] में मूढ़गर्भ को बाहर निकालने की अलग विधि का वर्णन किया गया है- नाभि के विल के समान ऊँची कुण्डली बना लेनी चाहिए, तत्पश्चात् उसके ऊपर मूढ़गर्भ वाली स्त्री को बैठाकर उसके पैरों को फैला देना चाहिए। उसके पीछे की तरफ पृष्ठभाग में दबाव देकर गर्भ को नीचे की ओर लाना चाहिए। उसके योनिमुख में तिलतैल एवं पानी से मालिश करनी चाहिए। जब गर्भस्थ शिशु योनिद्वार पर आ जाए, तब तर्जनी अंगुली एवं अंगुठे को योनिमुख में डालकर शिशु के गर्दन को पकड़कर बाहर निकाल लेना चाहिए।

अद्यकालिक चिकित्सा विज्ञान में सुश्रुतोक्त अन्तिम तीन अवस्थाओं में योनिमार्ग से प्रसव को उचित न मानकर शल्यचिकित्सा (ऑपरेशन) ही विकल्प मानते हैं। स्फिगोदय में भी प्रसव के समय निम्नलिखित सम्भावित कठिनाईयाँ होती हैं-

- नाभिनाड़ी भ्रंश।
- कन्धे तथा बाहु का अवरोध।
- शिर अवरोध।

नवयुगीन चिकित्सा विज्ञान में प्रसव की प्रथम अवस्थाएँ निम्नोक्त बताई गई हैं-

- स्फिगोदय में सामान्य प्रसव संभव है। अतः बिना किसी हस्तक्षेप के प्रसव करवा देना चाहिए।
- गर्भवती स्त्री को बिस्तर पर ही रहने देना चाहिए। जब तक उल्वकला का विदार न हुआ हो, तब तक पूर्ण गर्भाशय ग्रीवा संकुचित न हो, तो इसे सही माना जाता है।
- यदि उल्वकला का विदार हो रहा है, तो नाभिनाड़ी भ्रंश को देखने के लिए योनि का परीक्षण करना चाहिए।
- गर्भ द्वारा मलत्याग करने की स्थिति चिन्ताजनक नहीं होती, यदि गर्भ की हृदयध्वनि सामान्य हो।

---

[709] *हा०सं०*, तृ०स्था० 52/17

5.8.17 प्रसव के समय गर्भिणी की अवस्था :- वर्तमानकालिक चिकित्सा विज्ञान में प्रसव के समय निम्नोक्त अवस्थाएँ बताई गई हैं-

- गर्भिणी को लिथोटोमी की अवस्था में मेज के बिल्कुल नीचले सिरे पर लिटा देना चाहिए। उस मेज में प्रसूता को पकड़ने के लिए दोनों ओर लोहे की छड़ सिरे पर लगी होनी चाहिए।
- उसका मूत्राशय एवं मलाशय रिक्त होना चाहिए।
- गर्भस्थ शिशु की हृदय ध्वनि बार-बार देखते रहना चाहिए।
- जब तक गर्भ का सिर बाहर न निकल आए, तब तक बिना किसी विशेष कारण के कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

5.8.18 मूढ़गर्भ की साध्यता-असाध्यता :- मूढ़गर्भ के सुश्रुतोक्त भेदों में अन्तिम दो भेद असाध्य माने गए हैं। शेष में यदि गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ हो गई हो एवं आक्षेप, योनिभ्रंश, योनि-संकोच, मक्कल, कास, श्वास के लक्षण वर्तमान हों, तब उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए अर्थात् उन्हें भी असाध्य माना गया है।[710]

सुश्रुत ने अन्यस्थान पर इसके असाध्य लक्षणों का वर्णन किया गया है, जो गर्भिणी में दिखाई देते हैं- **"प्रविध्यति शिरौ या ति शीताङ्गी निरपत्रपा। नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा।।"**[711] अर्थात् जो अपने सिर को बार-बार हिलाती हो, पटकती हो, जिसके हाथ-पाँव एवं अन्य अंग ठण्डे हो गए हो, जिसे बेहोशी आ रही हो, जो बेहोशी के कारण अपने अंगों को ढ़कने में असमर्थ हो, जिसकी शिराएँ एवं धमनियाँ नीले रंग की और उभरी हुई प्रतीत होती हो, उसके गर्भ की मृत्यु हो जाती है एवं उस गर्भवती की गर्भस्थ शिशु के कारण मर जाती है। वाग्भटद्वय भी उपरोक्त इन असाध्य लक्षणों को स्वीकार करते हैं।

काश्यपसंहिता[712] में गर्भिणी में मूढ़गर्भ के असाध्य लक्षणों को स्पष्टरूप से व्यक्त किया है- जिस गर्भवती स्त्री के मुँह से दुर्गन्ध आती हो, पेट में वेदना होती हो एवं जिसे नींद अधिक आती हो, उस मूढ़गर्भा स्त्री की मृत्यु हो जाती है। अथवा जिस मूढ़गर्भा स्त्री को अग्नि मोर की

---

[710] तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढ़गर्भौ, शेषानपि ------॥ *सु०सं०*, नि० 8/6 ; *सु०सं०*, सू० 33/13

[711] *सु०सं०*, नि० 8/11 ; *अ०हृ०*, शा० 2/38 ; *अ०सं०*, शा० 4/31

[712] पूतिगन्धिमुखं यस्याः शूलं चैवोषजाते। निद्रा वाऽभिद्रवत्येनां मूढ़गर्भा न जीवति॥
मयूरग्रीवसंकाशं या पश्यति हुताशनम्। शूनपादमुखी चैव मूढ़गर्भा न जीवति॥ *का०सं०*, खि० 10/168-169

गर्दन के समान दिखाई देती है एवं मुँह तथा पैरों में सूजन आ गई हो, वह मूढ़गर्भा स्त्री जीवित नहीं रहती है।

कभी-कभी मूढ़गर्भ व्याधि के कारण दोनों की मृत्यु हो सकती है, जिसके अनेक लक्षण शनैः शनैः दिखाई देने लगते हैं। कश्यप[713] ने इन लक्षणों को व्यक्त करते हुए कहा है कि- जो गर्भवती स्त्री लाल वस्त्रों को पहनती है, लाल मालाएँ धारण करती है, सोते हुए हँसती है अथवा शमशान की तरफ जाती है, वह मूढ़गर्भा स्त्री गर्भ से साथ मर जाती है। या जो गर्भवती स्वप्नों में गदहे, सूअर, भैंस, कुत्ते अथवा ऊँट की सवारी करती है, उसकी गर्भसहित मृत्यु हो जाती है। *हारीतसंहिता*[714] में मूढ़गर्भ के कारण गर्भिणी में अरिष्ट लक्षणों का इस प्रकार विवेचन किया गया है- गर्भकोश में विद्यमान यथोक्त उपद्रव योनिमुख को अवरुद्ध कर देते हैं अर्थात् गर्भाशय में शिशु मर जाता है, तो इस अवस्था में मूढ़गर्भ गर्भवती स्त्री को भी मार देता है।

5.8.19 शल्यकर्म योग्य मूढ़गर्भ :- यदि मूढ़गर्भ को हाथ से निकालने में सफलता न मिले, तब उस अवस्था में शल्य चिकित्सा अर्थात् ऑपरेशन द्वारा गर्भ निकालना चाहिए। सुश्रुत ने मूढ़गर्भ की चिकित्सा को परिलक्षित करते हुए कहा है कि-

"द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढ़गर्भौ। एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत्।"[715]

वाग्भट ने मूढ़गर्भ के उपचार के विषय में कहा है कि विषकम्भ नामक दोनों मूढ़गर्भ शस्त्र से छेदन योग्य होते हैं-

"विषकम्भौ नाम तौ मूढ़ौ शस्त्रदारणमर्हतः।"[716]

टीकाकार अरुणदत्त ने स्पष्टरूप से कहा है कि इन दोनों प्रकार के मूढ़गर्भों को हाथ से खींचकर निकालना सम्भव नहीं होता, इसलिए शस्त्र से छेदन करना चाहिए। वृद्ध वाग्भट भी दोनों अन्तिम गतियों का स्पष्ट करते हैं कि-

"यस्त्वाभुग्नमध्यः पाणिपादशिरोभियोनिं प्रतिपद्यते।
यश्चाभुग्न एवैकेन पादेन योनिं द्वितीयेन पायुम्।

---

[713] *का०सं०,* खि० 10/174-175

[714] गर्भकोशसमापन्नो मकुष्ठो योनिसंगतः। हन्ति स्त्रियं मूढ़गर्भे यथोक्ताप्युपद्रवाः॥ *हा०सं,* द्वि० 4/41

[715] *सु०सं०*, चि० 15/9

[716] *अ०हृ०*, शा० 2/30

तौ मूढौ हस्तेनाहर्तुमशक्यान्निति शस्त्रमवचारयेत्॥"[717]

अर्थात् जो मूढ़गर्भ अपने बीच के भाग को मोड़कर हाथ, पैर एवं सिर के द्वारा योनि में फँस जाता है अथवा जो मूढ़गर्भ बिना झुके अपने एक पाँव को माता की गुदा में एवं दूसरा पाँव योनि में फंसा देता है। इन दोनों मूढ़गर्भ में गर्भस्थ शिशु हाथ से बाहर नहीं निकाले जा सकते। इसलिए इसमें शल्य चिकित्सा करनी चाहिए।

परन्तु *भावप्रकाश*[718] एवं *योगरत्नाकर* में वर्णित है कि गर्भ के मर जाने पर गर्भवती स्त्री की योनि में शस्त्र का प्रवेश कराना चाहिए। कश्यप गर्भिणी के अरिष्ट लक्षणों सहित महिला की उन दैहिक स्थितियों का वर्णन करते हैं, जिनमें गर्भ के प्रसव के लिए शल्य कर्म करना आवश्यक हो जाता है-

"नासा तु काकवद्यस्याः स्रस्तनेत्रा च या भवेत्। तथा शकुन्तगन्धा च गर्भः शस्त्रेणमुच्यते॥

अजाश्वगंधा श्वेता या मायूरं मांसमिच्छति। गर्भस्तस्यापि शस्त्रेण नार्या निर्ह्रियते नृपः॥"[719]

अर्थात् जिस गर्भिणी की नाक कौए की तरह दिखाई देती हो, जिसकी आँखें काँपती हो अथवा जिसकी पलकें नीचे गिर जाती हैं, जिसमें शकुन्त पक्षी की गन्ध आ रही हो, उस स्त्री का गर्भ शस्त्रों के द्वारा उदरपाटन से बाहर निकाल लेना चाहिए अर्थात् उसके गर्भ को बाहर निकालने के लिए ऑपरेशन करना पड़ता है। अथवा जिस गर्भिणी के शरीर से बकरी या घोड़े की गन्ध आ रही हो, जिसका शरीर सफेद हो रहा हो, जिसे मोर का मांस खाने की इच्छा हो रही हो, उसका गर्भ शस्त्रों द्वारा बाहर निकलता है।

5.8.20 जीवित गर्भ के शल्यकर्म करने का परिणाम :- वैद्यों का मानना है कि जीवित गर्भ का कभी ऑपरेशन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऑपरेशन करने से गर्भ माता को मार देता है तथा गर्भ की भी मृत्यु हो जाती है। *सुश्रुतसंहिता* में मूढ़गर्भ की चिकित्सा को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि-

"सचेतनं च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत्॥"[720]

---

[717] *अ०सं०*, शा० 4/40

[718] मृते तु गर्भे गर्भिण्याः योनौ शस्त्रं प्रवेशयेत्। *भा०प्र०* 70/122, चि० ; *यो०र०,* स्त्रीरो० चि०

[719] *का०सं०*, खि० 10/172-173

[720] *सु०सं०*, चि० 15/10

टीकाकार डल्हण ने **'घातयति'** शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि हाथ द्वारा गर्भ निकालने में असमर्थ होने के कारण यह गर्भ, गर्भिणी एवं गर्भ दोनों के लिए विपत्तिकारक होता है। तदुपरान्त कहा गया है कि असह्य विकार या व्याधि होने पर गर्भ का पातन ही श्रेयस्कर होता है, अतः गर्भवती की स्थिति को अधिक गम्भीर नहीं करते हुए, उपचार के लिए उपलब्ध समय का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

वाग्भटद्वय[721] ने भी जीवित मूढ़गर्भ का ऑपरेशन नहीं करने के लिए कहा है, क्योंकि शल्यकर्म करने से माता की मृत्यु हो जाती है। *भावप्रकाश* एवं *योगरत्नाकर* भी सुश्रुत द्वारा कथित वक्तव्य को स्वीकार करते हैं।

5.8.21 मूढ़गर्भ का शल्यकर्म (ऑपरेशन) :- आयुर्वेदज्ञों ने मूढ़गर्भ के शल्य उपचार का वर्णन विस्तृतरूप से किया है- गर्भ का वह अंग जो अवरोध उत्पन्न कर रहा हो, उस अंग का छेदन करके अच्छी प्रकार से निकालना चाहिए एवं स्त्री के जीवन की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वायु के कोपयुक्त होने से गर्भ की विविध गतियाँ होती हैं। अतः कुशल वैद्य इसका विधिपूर्वक उपचार करे। प्रसव सम्बन्धी शरीररचना को जानने वाला कुशल शल्य उपचारक को मण्डलाग्र (Circular) से काटना चाहिए। तीक्ष्णाग्र होने के कारण वृद्धिपत्र (Scalpel) शस्त्र से नारी को बहुत हानि पहुँच सकती है अर्थात् स्त्री के आन्तरिक अंगों, यथा गर्भाशय या आन्त्र आदि में चोट होने से मृत्यु की सम्भावना अधिक होती है।[722] वाग्भटद्वय[723] भी स्त्री की रक्षा करते हुए गर्भ को खण्ड-खण्ड काटकर सावधानीपूर्वक बाहर निकालने के लिए कहते हैं।

5.8.22 मूढ़गर्भ की शस्त्र द्वारा छेदनविधि :- सर्वप्रथम गर्भिणी को भली प्रकार आश्वस्त करके पीठ के बल लिटाना चाहिए। तत्पश्चात् गर्भ के सिर को मण्डलाग्र शस्त्र या अंगुलीशस्त्र से छेदन करके कपालास्थियों को पकड़ कर बाहर निकाल लेना चाहिए। यदि किसी कारणवश सिर का छेदन हो सके, तब गर्भ के अक्षिकूट या गण्ड को शंकु द्वारा पकड़कर गर्भ को बाहर लाना चाहिए। यदि गर्भस्थ शिशु के कन्धे प्रसव के समय फँस गए हो, तब उसकी भुजाओं को काटकर कन्धों को शंकु से खींचकर गर्भ को बाहर निकाल लेना चाहिए। यदि

---

[721] सचेतनश्च गर्भः शस्त्रेण विदार्यमाणो विषममङ्गानि विक्षिपेत्। *अ०सं०*, शा० 4/33

छिन्द्याद्गर्भं न जीवन्तं मातरम् स हि मारयेत्। सहात्मना.....॥ *अ०हृ०*, शा० 2/37

[722] *सु०सं०*, चि० 15/13-14, 16

[723] यद्यदायुवाशादहं सज्जेदगर्भस्य खण्डशः। तत्तच्छित्वा हरेत्सम्यग्रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ *अ०सं०*, शा० 4/42 ;

अ०हृ०, शा० 2/30-35

किसी कारणवश गर्भ का पेट हवा के कारण या किसी अन्य कारण से मशक की तरह फूल गया हो, तब उदर को चीर कर आँतें निकाल लेनी चाहिए और शिथिल हो जाने पर शेष गर्भ को बाहर निकाल लेना चाहिए। यदि गर्भ का जघन भाग फँस गया हो, तब पहले जघन अस्थियों को निकाल लेना चाहिए।[724]

वाग्भटद्वय[725] ने भी मूढ़गर्भ को शस्त्रकर्म द्वारा छेदन करके गर्भ को बाहर निकालने के लिए कहा है। अतः जिस-जिस अंग से गर्भ अवरुद्ध हो रहा हो, उसे सावधानीपूर्वक काटकर प्रसव कराना चाहिए, जिससे स्त्री का जीवन बचाया जा सके।

5.8.23 मूढ़गर्भ में शल्यकर्म के पश्चात् कर्म :- जब मूढ़गर्भ को शल्यचिकित्सा द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तत्पश्चात् यदि अपरा बाहर नहीं आ रही हो, तो सर्वप्रथम उसे निकालने का प्रयास करना चाहिए। *सुश्रुतसंहिता*[726] में शल्यकर्म के पश्चात् अपरा-पतन कराने का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से बताया गया है- माता के पार्श्वों का पीड़न कर अपरा को निकाले या हाथ से पकड़कर बाहर ले आए या सद्यःप्रसूता को बार-बार झटके दे या उसके कंधों का पीड़न करे। इस प्रकार कुशल वैद्य द्वारा सद्यःप्रसूता की योनि में तैल लगाकर स्निग्ध करके अपरा को बाहर निकाल लेना चाहिए। तत्पश्चात् सद्यःप्रसूता को गुनगुने जल से सिंचन या साफ करना चाहिए एवं तैल से उसका अभ्यंग कराना चाहिए। उसकी योनि में पिचु (स्नेह) का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार करने पर योनिमुख कोमल हो जाती है और पीड़ा भी शनैः शनैः शान्त होती है।

वाग्भटद्वय ने भी अपरा-पातन को सुश्रुतोक्तानुसार ही करने के लिए कहा है।[727] तदुपरान्त सद्यःप्रसूता का औषधियों से उपचार करना चाहिए। सुश्रुत[728] शल्य चिकित्सा के उपरान्त प्रसूता को औषध सेवन करने के लिए कहते हैं-

- दोषों को निकालने एवं पीड़ा को शान्त करने के लिए पीपल, पीपलामूल, सोंठ, इलायची, हींग, अजमोद, भार्गी, अतीस, रास्ना एवं चव्य इनके सूक्ष्म चूर्ण को घी के

---

[724] *सु०सं०*, चि० 15/12

[725] *अ०सं०*, शा० 4/41 ; *अ०हृ०*, शा० 2/31-34

[726] *सु०सं०*, चि० 15/17-19

[727] *अ०सं०*, शा० 4/43-44 ; *अ०हृ०*, शा० 2/39-40

[728] *सु०सं०*, चि० 15/20-24

साथ प्रसूता को पान कराना चाहिए अथवा इनके काढ़े, चटनी (कल्क) या चूर्ण को स्नेह के बिना भी सेवन कराया जा सकता है।

- उसे सागवान वृक्ष की छाल, हींग, अतीस, पाठा, कुटकी एवं तेजबल को घी के साथ पान कराएँ तथा तीन, पाँच या सात दिनों के बाद स्नेह कराना चाहिए।
- रात्रि के समय अच्छी प्रकार से तैयार किया गया आसव या अरिष्ट का सेवन कराना चाहिए। उसे सिरस और ककुघ (अर्जुन वृक्ष) के काढ़े को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देना प्रसूता के लिए हितकर होता है।

वाग्भटद्वय ने शल्य चिकित्सा के उपरान्त प्रसूता को सुश्रुत द्वारा कही गई औषधियाँ देने के लिए कहा है।[729] टीकाकार डल्हण[730] का मत है कि उपरोक्त प्रबन्ध विधि, प्रसव काल में ही उत्पन्न मूढ़गर्भता में गर्भ एवं अपरा-पातन के पश्चात् ही करना चाहिए। अकालमूढ़गर्भा (चौथे पाँचवें मासादि में) स्त्री को शल्य-निर्हरण के बाद केवल लंघन (उपवास) करवाकर उद्दालकादि अन्नों की स्नेह एवं नमक से रहित यवागू दे, जितने महीने का गर्भ हो उतने ही मास तक यवागू पिलाना चाहिए ।

शाङ्र्गधर[731] ने मूढ़गर्भ निकल जाने के बाद स्वेदन कर्म को लाभप्रद बताया है। यह कर्म विशेषतया उपद्रवों से रहित प्रसूता को ही कराना चाहिए। काश्यप[732] ने कष्ट से युक्त प्रसव वाली स्त्री को शीतल जल पीने के लिए कहा है।

5.8.24 मूढ़गर्भ शल्योपचार के पश्चात् पथ्य आहार-विहार :- यदि सद्यःप्रसूता को कोई उपद्रव हो तो उनका समुचित रूप से उपचार करना चाहिए एवं प्रसूता की सम्यक् प्रकार से स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिए। उसे भोजन स्निग्ध, पथ्य अल्पमात्रा में देना चाहिए। उसे प्रतिदिन स्वेदन एवं अभ्यंग कराना चाहिए तथा उसको प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसको दस दिनों तक वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए। तत्पश्चात् शेष दस दिनों तक मांस रस का सेवन कराना चाहिए। जब प्रसूता उपद्रव रहित और शुद्ध हो जाए,

---

[729] *अ०सं०*, शा० 4/ 45-48 ; *अ०हृ०*, शा० 2/41-44

[730] *सु०सं०*, चि० 15/20-28 पर डल्हण की टीका

[731] पश्चात्स्वेद्या गते शल्ये मूढ़गर्भगदे तथा। काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी॥ *शा०सं०*, उ० 2/7

[732] क्लेशात् प्रसूते तृषिता च या स्त्री।------॥

------ तेषां जलं शीतमुशन्ति पथ्यम् ---------॥ *का०सं०*, क० 7/36,40

तब उसका बल एवं उत्तम वाणी हो जाने पर चार महीने के बाद निषेध (परहेज) करने की आवश्यकता नहीं होती।[733]

वाग्भटद्वय[734] ने भी शल्यकर्मोपचार करने के उपरान्त स्त्री को दस दिन तक दूध का सेवन एवं दस दिनों के बाद मांसरस का सेवन कराने के लिए कहा है । उसके बाद सुपाच्य, हितकारक एवं अल्प मात्रा में भोजन देने के लिए कहा है। अतः आयुर्वेद के दोनों आचार्यों ने सुश्रुत द्वारा उक्त पथ्याहार-विहार को स्वीकार करते हैं। *चरकसंहिता* और *काश्यपसंहिता* में पथ्य आहार-विहार का वर्णन नहीं मिलता है।

5.8.25 मूढ़गर्भ का शल्यकर्मोपरान्त बलादि तैल का प्रयोग :- आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मूढ़गर्भ का शल्योपचार करने के बाद प्रसूता के लिए योनि सन्तर्पण, अभ्यंग, पान, बस्ति एवं भोजन आदि में वातनाशक बलातैल के सेवन करने के लिए कहा गया है।

सुश्रुतसंहिता[735] में शल्य चिकित्सा के उपरान्त बलादि तैल का सेवन करने हेतु कहा गया है- बला का काढ़ा, दशमूल काढ़ा, जौ, बेर एवं कुलथी का काढ़ा एवं दूध प्रत्येक आठ-आठ भाग तथा तेल एक भाग लेकर, इन द्रव्यों में काकोल्यादि गण की औषधियाँ तथा नमक मिलाकर सभी को पका लेना चाहिए। इसमें अगर, राल, गन्धविरोजा, देवदारु, मंजीठ, चन्दन, कूठ, एला (इमली), कालानुसारिवा, जटामांसी, छैड़ छबीला, तेजपाल, तगर, सारिवा, वच, शतावरी, असगन्ध, सौंफ, पुनर्नवा इन पदार्थों का महीन चूर्ण पीसकर एवं चूर्ण का प्रक्षेप देकर तैल को अच्छी प्रकार से पका लेना चाहिए। इसे सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में भरकर सुरक्षित रख लेना चाहिए। यह सभी प्रकार के वातविकारों को शम करने के लिए प्रसिद्ध है।

इस बलातैल को प्रसूता की शक्ति एवं तैल की मात्रा का विचार करने के बाद देना हितकर है। गर्भ की इच्छा वाली स्त्री, क्षीणशुक्र पुरुष, वायु के क्षीण होने पर, मर्म में चोट लगने के उपरान्त, मथित, भग्न, परिश्रम से थकान होने पर इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

---

[733] *सु०सं०*, चि० 15/20-28

[734] *अ०सं०*, शा० 4/49-50 ; *अ०ह्रं०*, शा० 2/45-46

[735] *सु०सं०*, चि० 15/29-35

वाग्भटद्वय[736] ने भी शल्योपचार के उपरान्त बलातैल का प्रयोग प्रसूता को करने के लिए कहा है। ये सुश्रुतोक्त मत को स्वीकारते हैं, किन्तु ये बलामूल क्वाथ एवं दूध ६-६ भाग, जौ, कोल एवं कुलथी एवं दशमूल सभी का क्वाथ मिलाकर एक भाग तथा एक भाग स्नेह लेने का विधान बताते हैं। वृद्ध वाग्भट ने तैल को सुरक्षित छिपाकर एवं वाग्भट ने इस तैल को तैयार हो जाने पर एक रात शीतल होने के लिए कहा है, उसके बाद इसे छानकर सुरक्षित रखना चाहिए। ये दोनों आचार्य इस तैल को सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में रखने का वर्णन नहीं करते।

शार्ङ्गधर[737] ने बलातैल का सेवन सूतिका हेतु पथ्य माना है। चूँकि नाम एवं इसके घटक लगभग समान ही है। *काश्यपसंहिता* में धात्री उपचार में ही बलातैल का वर्णन बताया गया है, जो इस बलातैल से पूर्णतया भिन्न है।

5.8.26 शतपाक बलातैल :- सुश्रुत[738] बलातैल के साथ ही शतपाक बलातैल का सेवन प्रसूता को करने के लिए कहते हैं- बला काढ़े में अनेक बार भिगाकर सुखाए गए तिलों का तैल निकालकर, उसे बला काढ़े के साथ ही सौ बार पका लेना चाहिए। इस तैल को वायुरहित स्थान या घर में अपने बलानुसार सेवन करना चाहिए। यह तैल पुराने होने पर दूध के साथ साठी आदि अन्नों के ओदन में घी मिलाकर भोजन खिलाना चाहिए। इस तैल की एक द्रोण मात्रा का सेवन करने से एवं यथोक्त भोजन के समय सेवन करने से उसकी शक्ति, वर्ण से युक्त, सभी पापों से मुक्त होकर सौ वर्षों तक जीवित रह सकती है। एक-एक द्रोण सेवन करने से सौ वर्ष तक आयु बढ़ती है। टीकाकार डल्हण का मत है कि कुछ आचार्यों ने बला काढ़े के साथ-साथ बला-कल्क एवं अन्य वर्णित बलातैल में प्रयुक्त प्रक्षेप द्रव्यों के सेवन करने के लिए कहा है। आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में शतपाक बलातैल का वर्णन नहीं मिलता।

5.8.27 अतिबला, गुडूचि आदि से निर्मित तैल :- सुश्रुत ने प्रसूता के लिए अन्य तैलों का वर्णन करते हुए कहा है कि- कुशल चिकित्सक द्वारा बलातैल के समान अतिबला, गिलोय, सूर्यावर्त, सैरेयक, अर्जुन, शतावरी, त्रिकण्टक या गोखरू, मुलहठी एवं प्रसारणी इन औषधियों से भी तैल सिद्ध कर सकते हैं।

---

[736] *अ०सं०*, शा० 4/51 ; *अ०हृ०*, शा० 2/47-52

[737] *शा०सं०*, म० 9/113-118

[738] *सु०सं०*, चि० 15/40-43 ; तत्क्वाथं तत्कल्कमेव वेत्येके, पूर्वबलातैलसमुद्दिष्टैर्मधुरादि कल्कैरेवत्यन्ये॥ *सु०सं०*, चि० 15/40 पर डल्हण की टीका

अथवा नीलकमल एवं शतावरी को गाय के दूध में पका लें, इस सिद्ध दूध के साथ ही बलातैल में प्रयोग किए गए कल्क द्रव्यों को डालकर सौ बार तिल तैल का पाक करना चाहिए। अतः इसमें वे सभी गुण हैं, जो बलातैल में बताए गए हैं। टीकाकार डल्हण का मत है कि वीरतरु से स्वनाम प्रसिद्ध वीरतरु, अर्जुन अथवा कोकिलाक्ष ग्रहण करना एवं अतिबला आदि से तैलों को उन्हीं द्रव्यों के काढ़े एवं कल्क से पाचन करने का विधान है।[739] आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में अतिबला आदि तैलों का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है।

5.8.28 मूढ़गर्भ में उदर-विपाटन :- यदि प्रसव के समय गर्भिणी की दशा मरते हुए बकरे के समान हो एवं गर्भाशय में स्पन्दन हो रहा हो, तब उस अवस्था में कुशल वैद्य को प्रसूता के पेट का भेदन करके शिशु को निकाल लेना चाहिए। सुश्रुत ने कहा है कि-

"बस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि। तत्क्षणात् जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद्भिषक्॥"[740]

टीकाकार डल्हण ने स्पष्टरूप से कहा है कि यह वर्णन माँ की मृत्यु हो जाने के बाद जीवित गर्भ को बचाने के लिए है। जैसे गला दबाने से बकरा बिना कष्ट के मर जाता है वैसे ही मृत्यु हुई स्त्री के बाद, यह विधान बताया गया है। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार याज्ञिक साँसों को रोककर बकरे को मार देते हैं उसी प्रकार आकस्मिक रूप से मरी हुए स्त्री के लिए यह विधि बताई गई है उस स्त्री में उसी समय या दो घटी के मध्य में क्रिया करनी चाहिए, नहीं तो गर्भस्थ शिशु की भी मृत्यु हो जाएगी। अतः स्त्री के पेट का विदारण करके प्रसव कराना चाहिए।

वाग्भटद्वय[741] भी मूढ़गर्भ में उदर-पाटन का वर्णन करते हैं, जो सुश्रुत द्वारा कथित मतानुसार है। टीकाकार इन्दु ने बस्तिद्वार को विपाटन करके शिशु को निकालने का निर्देश दिया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि गर्भ के नौ मास पूरे होने पर यदि किसी आकस्मिक कारण से प्रसूता मर जाती है एवं उसके उदर में स्पन्दन होता हो तो उसी समय पेट का छेदन करके गर्भस्थ शिशु को निकाल लेना चाहिए। यदि उदर-विपाटन करने में विलम्ब हो तो गर्भस्थ शिशु की मृत्यु का भय रहता है।

---

[739] *सु०सं०*, चि० 15/44-47 ; *सु०सं०*, चि० 15/44-46 पर डल्हण की टीका ; *सु०स०*, नि० 8/14 पर डल्हण की टीका

[740] *सु०सं०*, नि० 8/14 ; *सु०सं०*, नि० 8/14 पर डल्हण की टीका

[741] बस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि। जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेच्छिशुम्॥ *अ०सं०*, शा०4/52 ; *अ०हृ०*,शा० 2/53 ; *अ०सं०*, शा०4/52 पर इन्दु की टीका ; *अ०हृ०*,शा० 2/53 पर अरुणदत्त की टीका

वर्तमान समय में भी गर्भिणी एवं गर्भ दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है। यदि गर्भावसाद, गर्भ-शिरश्रोणि असमानता, गर्भ संघ, गर्भाशय व्रण वस्तुविदार, सम्मुखी अपरा, प्रसव पूर्व रक्तस्राव, गर्भ की असामान्य स्थिति, नाभिनाड़ी भ्रंश, गर्भाक्षेपक एवं कुछ अन्य कारणों से प्रसूता का उदर विपाटन करना पड़ता है।

5.8.29 उदर-पाटन से पूर्वकर्म :- प्रसूता के उदर पाटन का निर्णय लेने पर जिस स्थान से विपाटन करना है, वहाँ की त्वचा पर अनावश्यक बालों को हटाकर, संक्रमण निरोधी (सेप्टिक लोशन) से उदर को साफ कर देना चाहिए एवं यह शल्यकर्म खाली पेट ही करना चाहिए। प्रसूता की आवश्यकतानुसार आमाशयिक अम्लता कम से कम करने के लिए उपयुक्त दवा प्रत्यम्ल देनी चाहिए। उसकी मूत्राशय में रबड़ का बना निसंक्रमित मूत्र-निर्हरण नलिका डाल देनी चाहिए, जिससे मूत्राशय रिक्त हो जाए।

5.8.30 उदर-पाटन में प्रधानकर्म :- प्रसूता को शल्यकर्म कक्ष में ले जाकर यदि संज्ञानाश मेरुदण्ड से कराना है तो सर्वप्रथम संज्ञानाश कराना चाहिए, अन्यथा सर्वप्रथम प्रसूता को सीधे लिटाकर पेट को संक्रमण निरोधी दवाओं से साफ करके वस्त्र से उदर तथा पूर्णतः प्रसूता को ढँक देना चाहिए।

उदरगुहा सामान्य विधि[742] से छेदन करते हुए गर्भाशय पर जहाँ ढ़ीली उदरधरा की परत दिखाई दे, उसे चिमटी से पकड़कर अनुप्रस्थ काटे एवं उदरधरा को निचले की ओर खिसका देना चाहिए। इसके कारण मूत्राशय नीचे खिसक जाता है। तदनन्तर गर्भाशय के नीचले खण्ड की मांसपेशी पर अर्द्ध चंद्राकार चीरा लगाना चाहिए। पहली बार चीरा कम दबाव डालकर लगाना चाहिए, जिससे पूरी परत न कटे। अब इस चीरे पर दो अंगुली डालकर तीनों परत भेद दें तथा दोनों हाथों से चीरे के स्थान पर सम्पूर्ण गर्भाशय खोल दे। अब यदि उल्वकला का विदार नहीं हुआ है तो उल्वकला का विदार करके एक हाथ गर्भाशय में डालकर चीरे वाले स्थान से गर्भस्थ शिशु को बाहर निकाल लें। शिशु की नाभिनाड़ी को काटकर अलग कर दें। तत्पश्चात् अपरा को भी इसी मार्ग से बाहर निकाल लेना चाहिए।

वैद्य अपरा तथा गर्भाशय का अच्छी प्रकार से परीक्षण करके देखे कि कहीं अपरा का कोई भाग गर्भाशय में तो नहीं रह गया है। इसी समय शिरावेध मार्ग द्वारा 5 यूनिट सिन्टोसिनान का सूचीवेध लगा देना चाहिए। जब यह विश्वास हो जाए तब गर्भाशय की

---

[742] प्र०त०, पृ० 297-298

प्रथम परत क्रमिक सीवन कर्म विधि द्वारा क्रोमिक केटगट नम्बर 1-0 द्वारा करें। वैद्य द्वारा यह प्रयास करना चाहिए कि पतनिका परत सीवन में न आए। गर्भाशय की दूसरी परत भी क्रमिक सीवन कर्म द्वारा क्रोमिक केटगट नम्बर 1 अथवा पाइक्रिल नम्बर 1 से लगाई जाती है। तीसरी व अन्तिम परत उदरधरा कला को भी सिल देना चाहिए एवं उदरगुहा से रक्त के थक्के को हटा देना चाहिए। तत्पश्चात् सामान्य विधि द्वारा परतों से उदरगुहा बन्द कर देनी चाहिए।

यदि प्रसूता के गर्भाशय से ऊपरी खण्ड द्वारा गर्भ निकालना हो तो गर्भाशय के ऊपरी खण्ड पर अनुदैर्घ्य चीरा लगाकर गर्भाशय में से गर्भ निकालकर परतानुसार गर्भाशय का सीवन अर्थात् टाँके लगा देना चाहिए।

5.8.31 उदर-पाटन के पश्चात् कर्म :- प्रसूता को पहले दिन सामान्य रक्तचाप, नाड़ी की गति एवं रक्तस्राव को देखना चाहिए। उसे 24 घण्टों में 2 से 2.5 लीटर द्रव निरन्तर अन्तःशिरा मार्ग द्वारा देते रहना चाहिए। उसे पीड़ानाशक औषधियाँ देनी चाहिए। यदि संक्रमण की संभावना दिखाई दे तो उचित औषध तत्क्षण देनी चाहिए। उसको हाथ-पाँव हिलाने तथा लम्बी श्वास लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए। उसको स्वयं मूत्रत्याग के लिए प्रेरित करना चाहिए।

सद्यःप्रसूता को दूसरे दिन केवल द्रव पदार्थ भोजन रूप में देना चाहिए। उसको नवजात शिशु को स्तनपान के लिए प्रेरित करना चाहिए। उसे उपरोक्त औषधियों का निरन्तर सेवन कराना चाहिए। उसे तीसरे दिन कुछ ठोस पदार्थ किन्तु सुपाच्य आहार देना चाहिए। उसके लक्षणों को देखते हुए एवं औषधी देते हुए छठे या सातवें दिन सीवन बंधन (टांका) काट देने चाहिए।

5.9.1 मक्कल रोग का शमन :- *अथर्ववेद* में इस व्याधि का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में इस आमय के रोगोपनयन का वर्णन नहीं मिलता, क्योंकि कुछ आचार्यों ने इसे मूढ़गर्भ के असाध्य लक्षणों में ही स्वीकार किया है अर्थात् मक्कल उत्पन्न होने पर वह मूढ़गर्भ स्त्री को मार देता है। अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान भी इस वक्तव्य को स्वीकार करते हैं कि यह स्थिति गर्भिणी के लिए घातक हो सकती है, क्योंकि इसमें गर्भाशय विदार की पूरी सम्भावना रहती है। अतः आधुनिक चिकित्सक इसकी निम्नोक्त व्यवस्था बताते हैं-

- यदि गर्भ जीवित है तो सबसे पहले गर्भवती स्त्रो को ऑक्सीजन देनी चाहिए। इससे कुछ गर्भावसाद कम होगा।

- यदि उसमे अम्लकीटोनमयता के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, तब उसकी अन्तःशिरा द्रव तथा प्रतिजीवी से उपचार करें।
- तीव्र उदरशूल होने पर संज्ञानात्मक दवाईयाँ देनी चाहिए।
- गर्भ प्रायः मर जाता है, ऐसी स्थिति में वेदना कम करने के उद्देश्य से मांसपेशी शिथिलक औषधी भी दे सकते हैं।

5.10.1 मृतगर्भ का शमन :- *अथर्ववेद* में मरे हुए शिशु का जन्म होना और जन्मोपरान्त शिशु मर जाने को मृतवत्सा रोग कहा गया है। *अथर्ववेद* में कथित है कि-

"यः कृणोति मृतवत्सावतोकामिमां स्त्रियम्। तदोषधे त्वं नाशयस्याः कमलञ्जिवम्॥"[743]

अर्थात् जो गर्भवती स्त्री को मृत गर्भ वाली करता है। हे ओषध ! ऐसे रोगों के बीज को नष्ट करो अर्थात् शमन करो। इस गर्भवती स्त्री का गर्भ रूपी द्वार रोगरहित हो अर्थात् गर्भ की सम्यक् रूप से वृद्धि हो। *अथर्ववेद* में मच्छरों, मक्खियों, मधुमक्खियों एवं तितलियों को भी रोगोत्पादक मानकर उसका शमन करने का वर्णन किया गया है-

"ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः। कुसूला ये च कुक्षिताः

ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः। तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् विनाशयः॥"[744]

अर्थात् जो गदहे के समान स्वर करने वाले, कुठिया आकृति से युक्त, सुई के अगले सिरे वाले कुसूल नामक बड़ी कुक्षिल रोग, भयानक आकृति से युक्त ककुभ (मच्छर), बुरी ध्वनि करने वाले 'करुम' आदि रोगाणु सायंकाल के समय चारों तरफ ध्वनि करते हुए घरों में घूमते हैं। अतः हे औषध ! आप अपनी गन्ध से उन फैले हुए हानिकारक जीवों का शमन करो। वस्तुतः सायंकाल घरों के आस-पास घूमने वाले, बुरी ध्वनि करने वाले कीट, मच्छर आदि कीट के सदृश प्रतीत होते हैं। मच्छर आदि को सरसों के तैल से, नीम के पत्तों का धुँए से भगा सकते हैं।

"ये पूर्वो वध्वो३ यन्ति हस्ते श्रृंगाणि बिभ्रतः।

आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥"[745]

---

[743] *अ०वे०* 8/6/9

[744] *अ०वे०* 8/6/10

[745] *अ०वे०* 8/6/14

अर्थात् जो पैशाचिक कृमि आगे-आगे डंकों को लेकर चलती है और जो भोजनालयों में रहते हुए **"भीं-भीं"** करती है। ऐसे सभी रोग कृमियों को गर्भिणी के आवास स्थल से दूर करते हैं अर्थात् इनका शमन करते हैं। इस रोगोपनयन में "हरिताल" औषधी का वर्णन भी मिलता है-

"यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मायति ते। पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥"[746]

अर्थात् हे गर्भवती स्त्री ! जो तुम्हारे गर्भ को खण्डित या जन्म लिए हुए शिशु को मारने की इच्छा रखते हैं, उन्हें हरिताल औषधी नष्ट कर दे। अतः हे श्वेत औषध ! आप प्रचण्ड गतिमान् होकर गर्भ को हानि पहुँचाने वाले रोगों का शमन करो। इस व्याधि के उपचार में "अभ्रक" नामक औषधी का वर्णन भी मिलता है-

"पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः॥"[747]

अर्थात् हे हरिताल ! तुम जन्म लेने वाले बालक की रक्षा करो। प्रसवोपरान्त पैदा हुए शिशु की रक्षा करो। गर्भबीज को खाने वाले कृमि, गर्भ को नष्ट नहीं कर सके। हे औषध ! आप इन कृमियों को गर्भिणी से दूर करो। इस प्रकार *अथर्ववेद* में मृतगर्भ व्याधि में हरिताल एवं अभ्रक औषधी का वर्णन मिलता है, यह आयुर्वेद से पूर्णरूप से भिन्न है। अतः स्पष्टतया यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों औषधियों के सेवन से गर्भिणी पूर्णरूप से स्वस्थ हो सकती है।

आयुर्वेद की संहिताओं में मृतगर्भ व्याधि के उपशमन के विषय में अनेक मत हैं। कुछ वैद्य जरायु को गिराने के पक्ष में हैं और इसका उपाय करने को ही चिकित्सा रूप में स्वीकारते हैं। कुछ आचार्यों का मानना है कि *अथर्ववेद* में कहे गए मन्त्रों से जल को अभिमन्त्रित करके, उसे पिलाकर गर्भशल्य को बाहर निकाल लेना चाहिए। अन्य आयुर्वेदज्ञों का अभिमत है कि जिसको मृत गर्भ के निकालने का अच्छा अभ्यास हो, जो इस शल्यकर्म को वैद्यों के साथ देखा-जाना हो, वह यंत्र शस्त्रों के प्रयोग से मृतगर्भ को बाहर निकाले । चरक ने मृतगर्भ की चिकित्सा करते हुए कहा है कि- **"तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके, मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितिमित्येके ; परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा**

---

[746] *अ०वे०* 8/6/18

[747] *अ०वे०* 8/6/25

हरणमित्येके।"[748] टीकाकार चक्रपाणि[749] चरकोक्त 'एके' शब्द को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्मों द्वारा मृत गर्भापहरण सम्यक् रूप से साधित होने में सन्देह है इसलिए मत-मतान्तर समुपलब्ध हैं। अन्यत्रस्थान पर चरक ने आहरण योग्य शल्यकर्मों में गर्भशल्य का ही उदाहरण दिया है।

वाग्भट[750] ने मृतगर्भ चिकित्सा के विषय में कहा है- गर्भस्थ शिशु के गर्भाशय में मर जाने पर गर्भवती स्त्री को गर्म पानी से स्नान कराना चाहिए एवं गर्म पानी में बैठाना चाहिए। उसकी योनि पर गुड़, सुराबीज एवं नमक पीसकर लेप लगाना चाहिए। इसी लेप को उसके योनि के अन्दर भी बारम्बार लेप लगाते रहना चाहिए। या सेमल के पुष्प एवं अलसी की पिच्छा को घी के साथ मिलाकर, इसे योनि के अन्दर भर कर रखना चाहिए। इन प्रयोगों से गर्भ फिसलकर बाहर निकल जाता है। यदि उपरोक्त प्रयोगों द्वारा मृत गर्भ नहीं निकलता, तब जरायु को गिराने वाले योगों का सेवन करना चाहिए एवं मन्त्रों को गर्भिणी के कानों में कहना चाहिए।

अतः मृतगर्भ रोग होने पर प्रसव कराना ही उचित है, क्योंकि यदि वैद्य द्वारा मृतगर्भ का ज्ञान होने पर भी शल्योपचार नहीं किया गया, तो प्रसूता की मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए चिकित्सक को इस अवस्था में जरायुपातनार्थ वर्णित कर्म, संशमन कर्म एवं शल्यकर्म द्वारा आहरण करना चाहिए।

5.10.2 गर्भवती स्त्री के सुरक्षात्मक उपाय :- मृतगर्भ की चिकित्सा के अन्तर्गत गर्भिणी के सुरक्षात्मक उपायों में निम्नोक्त उपाय बताए गए हैं-

- उचित आयु एवं सही समय पर गर्भधारण करना।
- माता द्वारा आहार-विहार में पूर्ण संयम तथा उचित विश्राम।
- गर्भावस्था में माता की उचित देखभाल, मानसिक प्रसन्नता एवं मनोरंजन के रचनात्मक साधन।
- प्रसवकाल की उचित तैयारी।

---

[748] *च०सं०*, शा० 8/31

[749] 'एके' इति वचनेन अप्रतिषेधेन च जरायुपातनकर्मादीनां त्रयाणामपि मृतगर्भापहरणं प्रति सम्यक् साधनता नास्तीति दर्शयति। च०सं०, शा० 8/31 पर चक्रपाणि की टीका ; गर्भशल्यमाहार्याणाम् --------॥ *च०सं०*,सू० 25/40

[750] *अ०हृ०*, शा० 2/24-26

- उपयुक्त स्थान पर कुशल चिकित्सकों द्वारा प्रसव करवाना।
- कुशल, कर्त्तव्यपरायण, अनुभवी एवं योग्य व्यक्तियों द्वारा माता एवं शिशु की सेवा करना।
- प्रतिरक्षात्मक उपाय।
- उचित चिकित्सात्मक उपाय एवं पोषण।

5.11.1 रक्तगुल्म रोग का चिकित्सोपयोगी समय :- *अथर्ववेद* में रक्तगुल्म की चिकित्सा का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता है। गर्भावस्था के दस महीने बीत जाने के बाद रक्तगुल्म से ग्रस्त रोगिणी के शरीर का सबसे पहले स्नेहन और स्वेदनकर्म के पश्चात् विरेचन कर्म कराना चाहिए। आयुर्वेद संहिताओं के आचार्य[751] गर्भावस्था के दस माह बीतने के उपरान्त रक्तगुल्म का उपचार करने के लिए कहते हैं। टीकाकार चक्रपाणि[752] ने दस मास के पश्चात् उपचार को सुखचिकित्सा अर्थात् सरलतापूर्वक की जाने वाली चिकित्सा बताया है। इसके पूर्व उपचार करने पर रक्त की अतिस्रुति एवं गर्भाशय को चोट आदि उपद्रव हो सकते हैं। अतः दस मास के बाद गर्भ के समान गुल्म का भी स्वयमेव पात हो जाता है, इसलिए उपचार नहीं करना चाहिए। कभी-कभी गर्भ वर्ष भर स्थिर रहता है एवं गुल्म का पात दस महीने से भी पहले हो जाता है। इसलिए दस मास के बाद चिकित्सा सुख-साध्यता की दृष्टया कही गई है।

टीकाकार डल्हण[753] ने प्रसवकाल के बाद उपचार करने का कारण पिण्डीभूत रक्तगुल्म की सुखसाध्यता को स्वीकारते हुए उदाहरण दिया है कि ज्वररोग में तुल्य दोषता, प्रमेह में तुल्य दूष्यता एवं रक्तगुल्म में पुराणता सुखसाध्य के लक्षण हैं। अतः 'दस मास के बाद उपचार' एवं 'प्रसवकाल के बाद उपचार' इसमें कोई मतभेद नहीं है। यदि रक्तगुल्म भलीभाँति एक स्थान पर इकट्ठा हो जाए, तब प्रसव-काल से पहले भी चिकित्सा कर सकते

---

[751] ------मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः। *च०सं०*, चि० 5/19 ; तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यमसृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः॥ *सु०सं०*, उ० 42/15 ; रक्ते गुल्मे पुनरतीतप्रसवकालायाः -----। *अ०सं०*, चि० 16/47 ; गत प्रसवकालायै नार्यै गुल्मेऽस्रसम्भवे ॥ *अ०हृ०*, चि० 14/119 ; केचिदिच्छन्ति गुल्मस्य मासादादशमात् परम्। *का०सं०*, खि० 9/53

[752] *च०सं०*, चि० 5/19 पर चक्रपाणि की टीका

[753] *सु०सं०*, उ० 42/15 पर डल्हण की टीका

हैं। भावमिश्र, माधव एवं योगरत्नाकार भी दसवें मास के बाद ही उपचार करने का विधान बताते हैं।[754]

कश्यप[755] ने रक्तगुल्म के सन्दर्भ में कहा है कि फल के समान ही अपने काल के परिणाम से दसवें महीनें के बाद गुल्म का भी परिपाक हो जाता है अर्थात् जैसे समय आने पर फल पक जाता है उसी प्रकार रक्तगुल्म भी दसवें महीने में पक जाता है। इस समय व्याधि का उपचार आसानी से किया जा सकता है, अतः कुशल चिकित्सक इस समय उपचार करने की इच्छा करते हैं। गर्भ के समान ही गुल्म भी अप्राप्त काल में याप्य होता है, पक जाने पर इसका सफलतापूर्वक प्रशमन किया जा सकता है।

5.11.2 प्रसवकाल से पूर्व रक्तस्राव होने पर शमन :- यदि किसी कारणवश प्रसवकाल से पहले गर्भवती स्त्री को रक्तस्राव होने लगे एवं गर्भ तथा रक्तगुल्म की स्थिति हो तो उस अवस्था में रक्तस्राव का शीघ्र ही शमन कर देना चाहिए। प्रसवकाल पूर्ण हो जाने पर रक्तस्राव का उपचार नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रसवोपरान्त अनुवासन बस्ति तथा स्निग्ध भोजन एवं द्रव देने चाहिए। अतः इस विधि में यदि गर्भ है तो वह सुखपूर्वक प्रसव हो जाएगा एवं यदि रक्तगुल्म है तब उसका भी पूर्णरूप से भेदन हो जाएगा। इसलिए प्रवृत्त रक्त को नहीं निकालना चाहिए।[756] अन्य संहिताओं में प्रसव से पूर्व रक्तगुल्म का वर्णन समुपलब्ध नहीं होता।

वस्तुतः गर्भिणी तथा रक्तगुल्म वाली स्त्री के सभी लक्षण समान होते हैं। इसलिए चरक ने उचित कहा है- **"मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः"** अर्थात् इस व्याधि की दस माह बीतने के उपरान्त उपचार करना चाहिए। वैसे बहुशः प्रसूता स्त्रियाँ गर्भ के फड़कने आदि अनेक लक्षणों से समझ जाती हैं कि यह गर्भ है या अंगहीन केवल मांसपिण्ड है।

5.11.3 रक्तगुल्म का विशिष्ट शमन :- *चरकसंहिता* में प्रसवोपरान्त रक्तगुल्म के रोगोपनयन के सन्दर्भ में कहा गया है कि-

---

[754] मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।----। *भा०प्र०*, चि० 32/18 ; *मा०नि०* 28/16 ; *यो०र०,* गु०

[755] *का०सं०*, खि० 9/53-55

[756] *का०सं०*, खि० 9/66-68

"पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः। गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत्॥"[757]

अर्थात् पलाशक्षार- जल २ आढक, तिल का तेल १ आढ़क एवं घी १ आढक मिलाकर अच्छी प्रकार से पकाना चाहिए। यदि पकाने के उपरान्त घी एवं तेल शेष रह जाए, तो उसे छानकर रख दे। इसे गुल्म को शिथिल बनाने वाली मात्रा के अनुसार सेवन हेतु रोगी को देना चाहिए। यदि पूर्वोक्त पलाक्षक्षारयमक के प्रयोग से भी रक्तगुल्म में गर्भिणी को आराम नहीं हो तो उसकी योनि में रखने के लिए औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वाग्भटद्वय[758] ने रक्तगुल्म को शिथिल करने के लिए उपरोक्त औषधसेवन को स्वीकार किया है।

चरकसंहिता[759] में अन्य स्थान पर रक्तगुल्म के उपचार में अनेक योगों का वर्णन किया गया है, जिससे रक्तगुल्म में रोगी को शान्ति मिलती है-

- यवक्षार मिलाया हुआ मांसखण्ड योनि में रखने के लिए दे।
- सेहुँड के दूध के साथ मांसखण्ड को गर्भिणी की योनि में रखना चाहिए।
- यवक्षार एवं सेहुँड के दूध, इन दोनों की भावना देकर सिधरी मछली को गर्भिणी की योनि में रखना चाहिए।
- सूअर और मछली के पित्त से भावित छोटे कपड़ों को अथवा रूई के फोहों को योनि में रखना चाहिए।
- विरेचनकारक तथा वमनकारक द्रव्यों के रस अथवा काढ़े में शहद मिलाकर, फिर उसमें कपड़े के टुकड़े भिगोकर योनिमुख में रखना चाहिए।
- गुड़ तथा यवक्षार मिलाकर किण्व के साथ बत्ती बनाकर योनि में रखने के लिए देनी चाहिए।
- दूध, यवाखार मिलाकर दशमूल काढ़े की उत्तरबस्ति देनी चाहिए।

सुश्रुत ने आर्तव के विकृत होने से उत्पन्न हुए गुल्म से ग्रस्त स्त्री का उपचार पित्तगुल्म रोग के समान चिकित्सा करने के लिए कहा है- इसमें पलाशक्षार जल से सिद्ध घी का प्रयोग करें एवं पिप्पल्यादि घी की उत्तरबस्ति देना हितकारक होता है। अथवा पिप्पल्यादि उष्ण

---

[757] *च०सं०*, चि० 5/172

[758] *अ०हृ०*, चि० 14/122, 123 ; *अ०सं०*, चि० 16/47

[759] *च०सं०*, चि० 5/174-176, 178

द्रव्यों से रक्तगुल्म का भेदन करके शेष उपचार रक्तपित की तरह करना चाहिए।[760] अतः पित्तगुल्म की चिकित्सानुसार रक्तगुल्म के उपचार का विवेचन किया गया है।

सुश्रुत[761] ने अन्य स्थान पर कहा है कि पित्तगुल्म से पीड़ित रोगी को काकोल्यादिगण की औषधियों से सिद्ध घी से स्नेहन कर आरवग्धादि गण की मधुरौषधियों से विरेचन देना चाहिए और निरूहण भी इन्हीं औषधियों द्वारा देनी चाहिए। अतः अब काकोल्यादिगण की औषधियों से सिद्ध द्रव्यों का वर्णन निम्नोक्त है- कुश, कास, शर, दर्भ, इक्षु तृण पञ्चमूल के कषाय में काकोल्यादि जीवनीय द्रव्यों से प्रक्षेप डालकर घी सिद्ध कर लेना चाहिए। या न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों के काढ़े में काकोल्यादिगण की औषधियों के कल्क से घी सिद्ध करें। या उत्पलादि गण की औषधियों के कषाय में जीवनीय गण की औषधियों के कल्क में घी को पकाना चाहिए। इन औषधसिद्ध घी का सेवन करने पर रक्तगुल्म में शान्ति मिलती है।

वाग्भट[762] रक्तगुल्म से पीड़िता को क्वाथ पिलाने के लिए कहते हैं- गुड़, घी, काली मिर्च, सोंठ, पीपल, भारंगी एवं तिल का काढ़ा बनाकर गर्भिणी को पिलाना चाहिए। इससे रक्तगुल्म शीघ्र शान्त होता है। कभी-कभी रक्तगुल्म से पीड़ित गर्भिणी को वेदना भी हो जाती है, उस समय भारंगी, पिप्पली, करंज की छाल, पिप्पलामूल एवं देवदारु इन सभी को समान भाग में चूर्ण बनाना चाहिए। इसे मात्रानुसार तिल के क्वाथ सहित पिलाना चाहिए, जिसके सेवन करने से पीड़िता को वेदना में आराम मिलता है। इसके अतिरिक्त वाग्भटद्वय[763] ने रक्तगुल्म आमय के उपचार चरक द्वारा कथित वक्तव्य बताए हैं।

कश्यप[764] ने भी रक्तगुल्म आमय से आक्रान्त पीड़िता को सर्वप्रथम युक्तिपूर्वक स्नेहन करवाने के लिए कहा है। तत्पश्चात् गुल्म के पाक को रोकने के लिए हाथ की सिरा का वेधन करना चाहिए एवं वैद्य द्वारा बचे हुए दोषों को निकालने हेतु संशमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। कुशल चिकित्सा द्वारा पीड़िता को कल्याणक, पञ्चगव्य, षट्पल एवं तिक्तक घी का पान कराना चाहिए। उस पीड़िता को तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा आस्थापन बस्ति दे एवं उसके

---

[760] *सु०सं०*, उ० 42/20-21

[761] पित्तगुल्मार्दितं स्निग्धं काकोल्यादिघृतेन तु। विरिक्तं मधुरैर्योगैर्निरूहैः समुपाचरेत्॥ *सु०सं०*, उ० 42/17, 36

[762] *अ०हृ०*, चि० 14/120-121

[763] *अ०हृ०*, चि० 14/124-125 ; *अ०सं०*, चि० 16/48

[764] *का०सं०*, खि० 9/69-71, 78-79

बाद अनुवासन कराना चाहिए। आस्थापन बस्ति के लिए निम्नोक्त योग का वर्णन मिलता है- शहद एवं तैल बराबर मात्रा मे लेकर एवं दोनों के समान गर्म जल ले लेना चाहिए। तत्पश्चात् दो कर्ष सौंफ एवं आधा कर्ष सेंधा नमक डालकर आस्थापन बस्ति दे अथवा दशमूल काढ़े के द्वारा आस्थापन बस्ति दे। तत्पश्चात् शोधन करवाने वाले एवं गुल्म को नीचे गिराने वाले चूर्ण के द्वारा उपचार करना चाहिए- हरड़, बच, हींग, सैंधा नमक, अम्लवेतस, अजवाइन एवं यवक्षार का चूर्ण पीड़िता को गर्म जल सहित देना चाहिए। रक्तगुल्म को भेदन करने के लिए हरड़, यवक्षार एवं सौवर्चल नमक तीनों को युक्तिपूर्वक घी के साथ रोगी को सेवन करना चाहिए।

अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार रक्तगुल्म व्याधि में गर्भाशय को रिक्त करना ही वैकल्पिक उपचार है। इसके लिए सर्वप्रथम पीड़िता की बाह्य परीक्षा करनी चाहिए। यदि पीड़िता में रक्त की कमी अधिक हो गई है तब कोई भी चिकित्सा करने से पूर्व उसको रक्ताधान (रक्त चढ़ाना) करना चाहिए। इसके उपरान्त रक्तगुल्म व्याधि में भेदन विधि का प्रयोग करना चाहिए।

क. रक्तगुल्म की भेदन विधि[765]-

- शल्यक्रिया (ऑपरेशन) के समय पीड़िता को स्थानिक संज्ञानाश (लोकल एनस्थीसिया) भी दे सकते हैं, परन्तु सार्वदैहिक एनस्थीलिया ही देना चाहिए।
- गर्भाशयग्रीवा को १०-१२ मि०मी० तक विस्फारित करते हैं।
- सक्शन केनुला को गर्भाशय गुहा में डालते हैं।
- जब सक्शन प्रक्रिया शुरू हो जाती है, तत्क्षण आक्सीटोसिन ड्रिप भी देनी चाहिए, ताकि गर्भाशय संकुचित होने लगे एवं रक्तस्राव भी कम हो जाए।
- जब पूरा विकृत हुआ भाग सक्शन द्वारा बाहर निकल जाए, तब सावधानीपूर्वक शार्प क्यूरेट से गर्भाशय लेखन करना चाहिए। इस विधि में बचा हुआ मोलर टिशू भी बाहर आ जाता है। चिकित्सिक को इस समय गर्भाशय आघात के प्रति सतर्क रहना चाहिए।
- वैद्य गर्भाशय के रिक्त करने के उपरान्त भी पीड़िता को अपने निरीक्षण में रखे।

---

[765] *प्र०त०*, पृ० 232

यदि गर्भाशय काफी बड़ा है तथा स्त्री को और अधिक बच्चों की इच्छा नहीं है तो गर्भाशय को निकलवा सकती है। इस क्रिया द्वारा दुर्दुमता की सम्भावना कम हो जाती है तथा कीमोथरेपी की कम आवश्यकता पड़ती है।

5.11.4 पीड़िता की चिकित्सा के पश्चात् देखभाल :-

- पीड़िता का गर्भाशय रिक्त करने के बाद भी चिकित्सक द्वारा सलाह के लिए उसे समय-समय पर बुलाना चाहिए।
- उसके सीरम (BHCG) की प्रत्येक सप्ताह जाँच अवश्य करनी चाहिए, जब तक रिपोर्ट निगेटिव न आ जाए। सीरम को सेंसिटिविटी लेवल के नीचे आने में लगभग ८-१२ सप्ताह लगते हैं।
- जब तक पीड़िता का सीरम सामान्यावस्था में न आ जाए तब तक प्रत्येक सप्ताह उसकी योनि का परीक्षण करते रहना चाहिए।
- उसके गर्भाशय का इन्वोल्यूशन देखते रहना चाहिए।
- पीड़िता को यदि पूर्व में थीका ल्यूटिन Cyst था तो उसके आकार का घटने का अनुभव उसे करना चाहिए।
- यदि परीक्षण के अन्तर्गत उसका सीरम बढ़ रहा है या गर्भाशय रिक्त करने के १२ सप्ताह में सामान्य नहीं हुआ है, तो उसकी कीमोथरेपी करनी चाहिए।[766]

जब स्त्री का सीरम सामान्यावस्था में आ जाए और ऑपरेशन किए हुए १ वर्ष हो जाए तब उसको गर्भधारण का विचार करना चाहिए।

5.11.5 रक्तगुल्म में पथ्य सद्वृत्त :- चरक[767] रक्तगुल्म का उपचार करते हुए रोगिणी को पथ्याहार और विहार का सेवन करने के लिए कहते हैं- उसे रक्तपित्त का शमन करने वाली क्षार शहद और घी सहित चाटना चाहिए। या उसे आहार के साथ-साथ लहसुन, तीक्ष्ण शराब एवं मछली खाने के लिए देना चाहिए।

---

[766] *प्र०त०*, पृ० 232

[767] रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा। लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत्॥ *च०सं०*, चि० 5/177

चरक[768] ने अन्यत्र स्थान पर रोगी को स्वास्थ्यवर्धक आहार एवं विहार का सेवन कराने के लिए कहा है- जब उपरोक्त क्रियाओं के प्रयोग करने से रक्त का स्राव होने लगे तब उसको भोजन में भात के साथ मांसरस सेवन के लिए देना चाहिए। गर्भिणी के शरीर पर घी और तैल की मालिश करें तथा पीने के लिए नई शराब देनी चाहिए। वाग्भटद्वय[769] ने रक्तगुल्म पीड़िता के पथ्य आहार, विहार में चरक द्वारा बताए गए पथ्य को ही स्वीकार किया है।

सुश्रुत ने रक्तगुल्म चिकित्सा का उपचार बताते हुए रोगी के पथ्य आहार और विहार का विवेचन सामान्य गुल्म के अन्तर्गत ही किया है- इस रोग से आक्रान्ता गर्भिणी को पीने हेतु स्नेह में भली प्रकार संस्कृत तथा उचित मात्रा में सैन्धव नमक से युक्त सोंठ, मरिच, पीपल मिलाकर एवं हल्का गर्म करके जंगल में विचरण करने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस भोजनरूप में कराना चाहिए।[770] लेकिन सुश्रुत ने पक्षी या पशु विशेष का नाम नहीं बताया है। अतः वैद्यानुसार एवं सुलभता से प्राप्त होने वाले जंगली पशु या पक्षियों के मांस का भोजन कराना चाहिए।

यदि पीड़िता की अपान वायु एवं मल अवरूद्ध हो जाए, तब उसे आर्द्रक (अदरक) के साथ दुग्ध पिलाना चाहिए एवं स्वेदाध्याय में वर्णित कुम्भिका, पिण्ड या इष्टका आदि से उसका स्वेदन कराना चाहिए।[771]

काश्यपसंहिता[772] में भी रक्तगुल्म के रोगी को पशु-पक्षियों को मांस को भोजनरूप में ग्रहण करने के लिए कहा गया है- इससे पीड़िता को गुल्म शिथिल करने के लिए जांगल मांसरसों द्वारा सिद्ध किए गए बिल्व एवं पाठा का क्वाथ पिलाना चाहिए या उसे छोटी इलायची, कलौंजी, चव्य, पिप्पली एवं चित्रक के कल्क को बल्वज के यूष अथवा चावलों के माण्ड के साथ खिलाना चाहिए।

---

[768] *च०सं०*, चि० 5/179-180

[769] *अ०हृ०*, चि० 14/126 ; *अ०सं०*, चि० 16/49

[770] *सु०सं०*, उ० 42/53

[771] *सु०सं०*, उ० 42/55

[772] *का०सं०*, खि० 9/75, 83 73

इसके अतिरिक्त रोगी वर्जित आहार-विहारों का परित्याग करे- उसे रूक्ष, विदाही एवं गुरु अन्न, व्यायाम, मैथुन एवं चिन्ता का परित्याग करना चाहिए।

हारीतसंहिता[773] में भी रक्तगुल्म का उपशमन करते हुए पथ्याहार-विहार एवं अपथ्य आहार-विहार को विवेचित किया गया है- उसको घी एवं काले नमक सहित दूध पिलाना चाहिए। इसके सेवन करने से रक्तगुल्म व्याधि में लाभ मिलता है। इससे पीड़ित रोगी को पाचन औषधियाँ, हिंगुपान, करिमर्दन, स्वेदन, मर्दन, चक्रमन एवं उछलना-कूदना नहीं चाहिए। उसे हिंगु से युक्त औषधी, गर्म तथा विदाही पदार्थों का सेवन न करे एवं जंगली जीवों का मांस सेवन भी हानिकारक होता है।

आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में जंगली पशुओं, पक्षियों का मांस रोगी के लिए हितकारी बताया है, लेकिन *हारीतसंहिता* में इसको वर्जित बताया गया है। अतः गर्भिणी को रक्तगुल्म होने पर दस मास बीत जाने के उपरान्त चिकित्सा करनी चाहिए एवं रोगिणी को पथ्याहार-विहार का सेवन अवश्य करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर गर्भिणी को गर्भावस्था के दौरान अनेक विशिष्ट व्याधियाँ हो जाती हैं, जिसके लक्षणों को ज्ञात करके वैद्य को शीघ्र उपचार प्रारम्भ कर देना चाहिए, अन्यथा ये व्याधियाँ असाध्य हो जाएगी, जिसके कारण गर्भिणी एवं गर्भस्थ शिशु को हानि होती है। इन विशिष्ट रोगों में से गर्भस्राव, गर्भपात, मूढ़गर्भ, मृतगर्भ आदि महत्त्वपूर्ण रोग हैं, जिनकी चिकित्सा वैद्य को तत्काल करनी चाहिए।

---

[773] *हा०सं०*, तृ० 26/73,71,74

उपसंहार

विश्व में भारत की संस्कृति अन्य संस्कृतियों में प्राचीन ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ एवं अद्वितीय भी है। इस संस्कृति तथा सभ्यता का मूलाधार वेद है। विद्वान् वेदों में *अथर्ववेद* का उपवेद आयुर्वेद को स्वीकार करते हैं। यह आयुर्वेद संसार का सर्वाधिक पुरातन रोगोपचार एवं स्वास्थ्य से सम्बन्धित शास्त्र है। ऋषि मुनियों ने इसे 'शाश्वत' स्वीकारा है और अपने पक्ष के समर्थन में तीन अकाट्य युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं-

"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्।

स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च॥"[774]

अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र अनादि होने, लक्षणों से स्वतः सिद्ध होने एवं स्वभाविक रूप के नित्य होने के कारण सनातन है, अनन्त और अनादि है। इस शाश्वत आयुर्वेद का ब्रह्मा से प्रजापति ने ज्ञानार्जन किया, प्रजापति द्वारा दोनों अश्विनीकुमारों ने, अश्विनीकुमार द्वारा इन्द्र ने एवं इन्द्र द्वारा भरद्वाज ऋषि ने शिक्षा ग्रहण की तथा धन्वन्तरि ने अध्ययन करके अन्य ऋषियों को आयुर्वेद का ज्ञान दिया, जिनमें आत्रेय-अग्निवेश-भेल-जतुकर्ण-पराशर-हारीत-क्षारपाणि-चरक-सुश्रुत-वाग्भट-काश्यप आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आयुर्वेदशास्त्र का महत्त्व तथा प्रांसगिकता के सन्दर्भ में प्रश्न किया जाता है कि- **"किमर्थमायुर्वेदः"** अर्थात् आयुर्वेद का ध्येय क्या है ? इसके उत्तर देते हुए कहा गया है कि **"इस शास्त्र का उद्देश्य स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और किसी रोग से पीड़ित हुए मनुष्य के रोग का शमन करना है।"**[775] सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि आयुर्वेद का ध्येय, धन का संग्रहण करना अथवा यश प्राप्त करना नहीं है, अपितु प्राणी मात्र के प्रति दया व करुणा की भावना रखकर आरोग्य प्रदान करना है।

---

[774] *च०सं०*, सू० 30/26

[775] प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। *च०सं०*, सू० 30/27

इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए आयुर्वेद के आठ भाग किए गए, इन भागों पर आयुर्वेदज्ञों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु ये तन्त्र समयान्तराल में नष्ट एवं विलुप्त होने लगे। इसलिए विद्वानों ने नष्ट होती हुई आयुर्वेदीय ज्ञान-परम्परा को संहिताओं के रूप संकलित किया, इन संहिताओं में सभी तन्त्रों का समावेश किया गया था। इन संहिताओं में *काश्यपसंहिता* के अन्तर्गत स्त्री, बालक, धात्री, गर्भिणी आदि से सम्बन्धित रोगों का वर्णन समुपलब्ध होता है, परन्तु दुर्भाग्य है कि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण प्राप्त नहीं होता। फिर भी अन्य संहिताओं की सहायता से *काश्यपसंहिता* में वर्णित विषयों को सरलतया समझा जा सकता है।

संस्कारों का भारतीय समाज एवं संस्कृति में सर्वाधिक महत्त्व है। मनुष्य को संस्कार सुसंस्कृत, अनुशासित एवं व्यवस्थित बनाते हैं। इनके द्वारा न केवल मानव का श्रेयस् होता है बल्कि सारे जगत् का भी कल्याण होता है। संस्कारवान् मनुष्य समाज एवं राष्ट्र को नई दिशा प्रदान करते हैं। समाज में संस्कार रहित मनुष्य को हेयदृष्टि से देखा जाता है एवं वह समाज के लिए भी अहितकर होता है।

संस्कृत साहित्य में संस्कारों की संख्या से सम्बन्धित मतभेद है। किन्तु अद्यतन सोलह संस्कार ही प्रमुख हैं। इनमें गर्भाधान संस्कार सर्वप्रथम है, जिसको गर्भसंस्कार की संज्ञा भी देते हैं। इस संस्कार में नव विवाहित पति-पत्नी द्वारा समाज में प्रचलित वंश परम्परा को संतानोत्पत्ति द्वारा बढ़ाते हैं। सर्वप्रथम इस संस्कार को करने से पहले स्त्री को ऋतुकाल में ब्रह्मचारिणी होकर नूतन वस्त्र, स्नान, उबटन, अंजन, तेल, नाखून कर्तन आदि शरीरिक शुद्धि नहीं करने का विधान है। तदुपरान्त उसे ऋतुकाल के उपरान्त चौथे दिन उबटन लगाकर, बालों सहित स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कराएँ। तदर्थ दम्पत्ति को यदि पुत्र की इच्छा हो तो सम दिनों में एवं यदि पुत्री की इच्छा हो तो विषम दिनों में सहवास करें। सहवास हेतु स्त्री एवं पुरुष दोनों की आयु सन्तानोत्पत्ति के योग्य होनी चाहिए अर्थात् दोनों की आयु बारह वर्ष से कम एवं सत्तर वर्ष से अधिक एवं किसी भयावह रोग से पीड़ित नहीं होने चाहिए। परन्तु वर्तमान समय में यह आयु गर्भाधान के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि नियमानुसार पुरुष की आयु २१ वर्ष एवं महिला की आयु १८ वर्ष कम से कम होनी चाहिए। अतः अद्यतन यही आयु उपयुक्त है।

तत्पश्चात् दम्पत्ति द्वारा रात्रि के समय एकान्त में मैथुनकर्म करना चाहिए। *अथर्ववेद* [776] में पत्नी को मैथुनकर्म करने के लिए प्रेरित करते हुए कहा गया है कि जैसे यह धरा महाभूतों को समाहित करती है वैसे ही हे पत्नि ! मैं तुम्हारे अन्दर गर्भ स्थापित करने हेतु आमन्त्रित करता हूँ। जैसे पर्वत से निकलती हुई नदी की जलधारा में पत्ता रखा जाता है, उसी प्रकार योनि में अंग-अंग से संगृहीत वीर्य को तुम्हारे गर्भाशय में आधान करता हूँ।

आयुर्वेद की संहिताओं में पति द्वारा पत्नी को मैथुनकर्म करने के लिए आवाहन किया गया है। गर्भाधान के पश्चात् गर्भ की पुष्टि द्वितीय मास में होती है, जिसमें अनेक लक्षण स्त्री में शनैः-शनैः देखे जा सकते हैं। इस मास में गर्भपुष्टि होने पर पुंसवन संस्कार होता है, जिसमें पुरोहित द्वारा यज्ञ करके औषधयुक्त दूध पति को दिया जाता था, जो वह अपनी पत्नी की नासिकारन्ध्रों में डालता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि वह दाहिने नासिकारन्ध्र में औषधसिद्ध दूध डालता था तो उसे पुत्रोत्पत्ति होती थी एवं यदि किसी दम्पत्ति को कन्या की इच्छा होती थी तो बाएँ नासिकारन्ध्र में औषधसिद्ध दूध डाला जाता था।

तत्पश्चात् तृतीय या चतुर्थ मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार होता था, जिसमें पति गर्भिणी के बालों को उठाकर तीन सूत्रीय धागे के साथ गूलर की शाखा गले में बाँधता था। पति इस अवसर पर मन्त्र बोलता था- **'अयमूर्ज्जिस्वितो वृक्ष ऊर्ज्जेव फलिनी भव'**[777] अर्थात् यह वृक्ष ऊर्जावान् है। अतः तुम भी इस वृक्ष के समान ऊर्जायुक्त एवं फलवती बन जाओ और हमारे वंश की वृद्धि करो।

जिस प्रकार एक बीज को पृथ्वी में दबाने पर वह नमी, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि मिलने पर पौधे के रूप में वृद्धि करता है वैसे ही गर्भाशय में संग्रहीत शुद्ध वीर्य एवं आर्तव के संयोग से धीरे-धीरे गर्भ में वृद्धि होने लगती है, जिसमें मासानुमासिक परिवर्तन होकर शिशु बन जाता है।

---

[776] यथेय पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥ *अ०वे०* 5/25/2,1

[777] *पा०गृ०सू०* 1/15/6

प्रथम मास में गर्भ कलल रूप में, द्वितीय मास में घनाकार, तृतीय में भ्रूण के अवयवों का प्रादूर्भाव, चतुर्थ मास में गर्भस्थ शिशु के अंग-प्रत्यंग का निर्माण एवं दर्शन, पञ्चम मास में मन का विकास, षष्टम मास में बल, वर्ण एवं ओजवृद्धि, सप्तम मास में सर्वांगीण वृद्धि, अष्टम मास में ओज अस्थिरता एवं अन्तिम मास में प्रसवोपरान्त शिशु की उत्पत्ति हो जाती है।

गर्भिणी को नौ मास में आहार-विहार का विशेषरूप से ध्यान रखना होता है। उसके आहार में प्रोभूजिन-वसा-कार्बोहाइड्रेड एवं विटामिन्स उचित मात्रा में हों। उसे अधिकाधिक हरी सब्जियाँ, फल, दूध का सेवन करना चाहिए। गर्भकाल में स्त्री के लिए गाय का दूध एवं दूध से निर्मित मक्खन, घी, छाछ आदि सर्वोत्तम आहार है। आयुर्वेद की संहिताओं[778] में प्रथम तीन महीनों में उसे अधिक तीक्ष्ण, अधिक ऊष्ण, अधिक कषाय, बासी, मैथुनकर्म, ऊकड़ू बैठना, उल्टा सोना, रात में जागना, क्रोध, शोक आदि का निषेध किया गया है, क्योंकि इन तीन महीनों में गर्भ द्रवरुप एवं अस्थिर अवस्था में होता है। इसी प्रकार अन्तिम दो महीनों में भी गर्भवती स्त्री की देखभाल करनी चाहिए।

गर्भिणी को गर्भावस्था के दौरान आहार-विहार से, ऋतुचर्या एवं दैवादि के कारण सामान्य एवं विशिष्ट व्याधियाँ हो जाती है। सामान्य व्याधियों में ज्वर, पाण्डु, कामला, छर्दि, अतिसार, कास आदि व्याधि सम्मिलित है। आयुर्वेदीय संहिताओं में ज्वर व्याधि की उत्पत्ति रुद्र के क्रोध से बताई गई है। यहाँ क्रोध से तात्पर्य पित्तदोष की वृद्धि से है। *अथर्ववेद*[779] में रुद्र को ज्वरशमन के लिए वज्र कहा गया है। इस व्याधि के कारणों में पित्तदोष में वृद्धि करने वाले आहार का सेवन एवं अधिक धूप में कार्य करना, अग्नि सेंकना आदि है। इसके उपचार में पित्तदोष को साम्य करने के लिए सर्वप्रथम लंघन करने हेतु कहा गया है। यदि गर्भिणी दुर्बल है तो उसे अल्पाहार देना उचित है। यदि वह उपवास से भी ठीक न हो तो औषद्धसिद्ध यवागू, क्वाथ आदि देना हितकारक है।

---

[778] *च०सं०*, सू० 25/40 ; *च०सं०*, शा० 8/22 ; *च०सं०*, शा० 4/18 ; *सु०सं०* 10/3 ; *अ०हृ०*, शा० 1/44-47 ; *अ०सं०*, शा० 2/60 ; *का०सं०* शा० जाति 15,17-18 ; *हा०सं०* 48/6-7

[779] नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषिमते। *अ०वे०* 6/20/2

पाण्डुव्याधि एवं कामला रोग भी पित्तदोष के प्रकोप होने से होता है। इस आमय में भी सबसे पहले पित्तदोष की वृद्धि वाले वर्जिताहार-विहार का परित्याग करना चाहिए एवं औषधयुक्त यवागू, चूर्ण, क्वाथ एवं कल्क का प्रयोग करना चाहिए।

छर्दि व्याधि में वातदोष प्रमुख कारण है। इसमें वात उदानवायु को अवरुद्ध कर देती है, जिसमें उदानवायु अपने स्थान को अवरुद्ध करके मुख के माध्यम से निसरित होती है। अतः इसमें वातदोष को साम्य करने के लिए औषध का प्रयोग करना चाहिए। इसके साथ-साथ पथ्य आहार-विहार रोगी के लिए हितकर है। अतिसार व्याधि पाचन संस्थान के विकृत होने से होती है। जब गर्भिणी विरुद्ध भोजन, अजीर्ण, भय, उद्वेग, सन्तर्पण, क्षय, दूषित जल आदि का प्रयोग करती है तब अतिसार रोगोत्पत्ति होती है। इस आमय में रोगी को शीतल द्रव्य, यवागू, क्वाथ एवं पथ्याहार-विहार का सेवन लाभप्रद है।

उदावर्त रोग में अपानवायु प्रकुपित होकर अधोमार्ग मल-मूत्र की प्रवृत्ति को अवरुद्ध कर देती है। इस व्याधि में रोगी को हृदय, कुक्षि, उदर एवं पार्श्वों में पीड़ा होती है। इस रोग के होने पर रोगी को अनुवासन एवं निरूहण बस्ति दें। रोगी को गुनगुने पानी से स्नान कराना आरामदायक होता है। पीड़िता के लिए पथ्य आहार-विहार हितकारक होता है। इसी प्रकार आनाह रोग के कारणों का वर्णन करते हुए उपचार को बताया है।

गर्भावस्था के दौरान गर्भिणी को कुछ विशिष्ट रोग भी होते हैं, जिनमें प्रथम गर्भस्राव एवं गर्भपात रोग है। गर्भवती स्त्री के प्रथम तीन मास में गर्भ द्रवरूप में अस्थिर होता है। यदि वह इन मासों में अधिक तीक्ष्ण, अधिक उष्ण, अधिक खट्टे पदार्थों एवं कोई व्याधि होने पर बिना वैद्य के औषध का सेवन कर लेती है तो कुक्षि में ताप की वृद्धि होने पर गर्भ का मुख खुलकर रक्तस्राव प्रारम्भ हो जाता है। यदि वह तीन महीनों के बाद अपथ्याहार-विहारों का को ग्रहण करती है तो रक्तस्राव होकर गर्भपात की सम्भावना बढ़ जाती है। जिसका तत्काल उपचार करना आवश्यक हो जाता है।

भारत में गर्भवती स्त्रियों को पहले तीन महीनों में होने वाले गर्भस्राव का **"गुटमाकर संस्थान"** (न्यूयार्क), **"अन्तर्राष्ट्रीय जनसंख्या विज्ञान संस्थान"** (मुम्बई) एवं **"जनसंख्या आयोग"**, नई दिल्ली के संयुक्त सहभागिता से दिसम्बर, 2015 ईस्वी में सर्वेक्षण किया गया,

जिसको 2017 ईस्वी में **"वैश्विक स्वास्थ्य पत्रिका"[780] में** प्रकाशित किया गया। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि यहाँ 15-49 आयु की 1000 गर्भिणियों में 47 गर्भवती स्त्रियों का गर्भस्राव हो जाता है। इसमें सबसे अधिक गर्भस्राव असम की गर्भवती महिलाओं में 66.2% होता है एवं सबसे कम तमिलनाडु की गर्भवती स्त्रियों में 32.8% होता है।

"टाइम्स ऑफ इण्डिया पत्रिका"[781] में कल्पना शर्मा ने 15 अक्तूबर 2019 को एक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें यह बताया गया है कि भारत में 15-25% गर्भवती महिलाओं का गर्भपात हो जाता है। इस रिपोर्ट में 20 वर्ष से 25 वर्ष तक की गर्भिणियों का 15-16%, 30 वर्ष से 35 वर्ष की स्त्रियों में 18-22%, 40 वर्ष की महिलाओं में 38% एवं 45 वर्ष से ऊपर की महिलाओं में 70 % तक गर्भपात हो जाता है।

उपविष्टक रोग में गर्भ की वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है और नागोदर में गर्भ शोष अर्थात् गर्भ सूखने लगता है। अतः यदि इनका उपचार नहीं किया गया तो गर्भ धीरे-धीरे क्षीण होकर नष्ट हो सकता है।

जब गर्भ की वृद्धि होने लगती है तब गर्भिणी के उदर, स्तन के पास एवं नाभि के चारों ओर काली रेखाएँ बनने लगती है एवं साथ में खुजली भी होती है, जिसे किक्किस रोग कहते हैं। अतः इसमें गर्भिणी को त्रिविध दोष एवं अपनी प्रकृति के अनुसार आहार लाभप्रद होता है।

जब गर्भवती स्त्री सम्पूर्ण आहार का सेवन नहीं कर पाती या उसे पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, तब धीरे-धीरे गर्भशोष हो जाता है एवं गर्भ की वृद्धि रूक जाती है। कभी-कभी पोषक आहार का अधिक सेवन कर लेती है, जिससे गर्भवृद्धि हो जाती है, जिसका परिणाम प्रसव के समय दिखता है। अतः उसे बुभुक्षानुसार भोजन करना चाहिए, लेकिन आहार में पोषक तत्त्वों की पर्याप्त मात्रा होनी आवश्यक है।

[780] Internet Sourse

[781] Internet Sourse

कभी-कभी स्त्री का आर्तव रुक जाता है और रुके हुए आर्तव से गर्भसदृश लक्षण दिखाई देने लगते हैं, जिसे अज्ञानतावश गर्भवती समझ लिया जाता है लेकिन स्त्री द्वारा अधिक परिश्रम, तीक्ष्ण पदार्थ, गर्म भोजन, सूर्य संताप के कारण रुका हुआ आर्तव निकलता है, जिसे देखकर कहा जाता है कि गर्भ का भूतों ने हरण कर लिया है।

गर्भिणी के विहार आदि के कारण गर्भस्थ शिशु के स्थान में परिवर्तन हो जाता है और प्रसव के समय गर्भिणी को कठिनाई होती है। जैसे- शिशु का एक पाँव गुदा एवं दूसरा पाँव योनिमुख में फँसना आदि। इसमें उपचारक की कुशलता से मूढ़गर्भ को सीधा करके सामान्य प्रसव द्वारा बाहर निकाला जा सकता है। यदि गर्भिणी को अधिक वेदना हो रही हो तो शल्यकर्म ही हितकर होता है।

जब गर्भिणी आहार-विहार वैषम्य, मानसिक सन्ताप, उपवास, तीक्ष्ण भोजन, उष्ण भोजन का अधिक सेवन, अपानवायु, मूत्र या मल वेगों का अधिक समय तक रोकना, विपरीत उठने-बैठने, क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि का सेवन करती है तब गर्भस्थ शिशु गर्भाशय में ही मर जाता है। अतः कुशल वैद्य द्वारा इस अवस्था में ही उपचार करना ही श्रेयस्कर है। गर्भावस्था के दौरान गर्भिणी को रक्तगुल्म व्याधि भी हो जाती है।

गर्भस्राव एवं गर्भपात रोग के उपचार में गर्भिणी की योनि के बाहर एवं अन्दर रूई या फोहा औषध से भरकर रखना चाहिए। उसे औषधसिद्ध दूध का सेवन एवं शीतल जल नाभि पर स्पञ्ज से डालना चाहिए या उसे जल से भरे हुए टब में बैठाना हितकर होता है। अतः यदि इन व्याधियों की तत्काल चिकित्सा प्रारम्भ कर दी जाए तो शीघ्र ही गर्भिणी स्वस्थ हो जाती है तथा गर्भ की पुष्टि एवं वृद्धि हो जाती है। उपविष्टक व्याधि में रोगी पोषक आहार का सेवन करें एवं उसे ताँगा, बैलगाड़ी, बस आदि से यात्रा नहीं करनी चाहिए।

किक्किस रोग में सर्वप्रथम जिस स्थान पर खुजली हो रही हो, उस स्थान पर खुजली नहीं करनी चाहिए, उसे औषधसिद्ध चूर्ण-दूध-क्वाथ आदि सेवन के लिए दें। मूढ़गर्भ में गर्भिणी के शरीर का मर्दन या अभ्यंग करके प्रसव करवाना चाहिए। यदि गर्भिणी शारीरिक रूप से दुर्बल हो तो उसे जंगल में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस भोजनरूप में देकर प्रसव कराना चाहिए। उसकी योनि को कोष्ण जल से सेंकना चाहिए[782] एवं योनिमुख पर औषध लेप

[782] *सु०सं०*, शा० 10/17

लगाकर धीरे-धीरे प्रसव कराना हितकारी है। इसमें यदि शिशु नहीं निकल रहा हो तो शल्यचिकित्सा द्वारा उदरछेदन करके शिशु को बाहर निकालें। तत्पश्चात् गर्भिणी को अतिबला, शतपाक बलातैल सेवन कराना लाभप्रद है। मृतगर्भ में मूढ़गर्भानुसार चिकित्सा की जा सकती है।

रक्तगुल्म व्याधि की दसवें महीने में चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि दसवें महीने तक रक्तगुल्म परिपाक हो जाता है। इसमें यवक्षार मिलाया हुआ मांसखण्ड योनि में रखना चाहिए अथवा दूध, यवाक्षार मिलाकर दशमूल काढ़े की उत्तरबस्ति देनी चाहिए। रोगी को आहार में लहसुन, तीक्ष्ण, शराब एवं मछली खाने के लिए दे और उसे अदरक सहित दूध पिलाएँ, जिससे रुका हुआ मल निकल जाए।[783] यदि इन औषधियों से भी रक्तगुल्म का निर्हरण नहीं हो पाए तो शल्यकर्म करना चाहिए। तदुपरान्त उसका सम्यक् रूप से देखभाल करनी चाहिए।

अतः गर्भिणी के लिए पोषणयुक्त आहार का विशेष महत्त्व है। यदि गर्भावस्था के दौरान दम्पत्ति पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार करते हैं तो गर्भस्थ शिशु बलवर्धक, दीर्घायु, यशस्वी होगा। उपरोक्त मासानुसार यदि भोजन दिया जाए तो उसे सभी पोषक तत्त्वों की मात्रा मिल सकेगी, जिससे गर्भस्थ शिशु का सर्वांगीण वृद्धि एवं विकास होगा। गर्भावस्था में गाय का दूध सर्वोत्तम औषध स्वीकृत है, क्योंकि अद्यतन चिकित्सा-विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि माता के दूध के बाद देशी गाय के दूध में सात्विक अंशों की मात्रा एवं विटामिन-सी को छोड़कर वसा आदि तत्त्व विद्यमान हैं।

नवयुगीन चिकित्सा-विज्ञान में **"स्त्रीचिकित्सा विज्ञान"** नामक प्रमुख शाखा है, जिसमें स्त्री रोग से सम्बन्धित उपचार किया जाता है। परन्तु फिर भी स्त्रीरोगों की संख्या एवं संतान इच्छुक दम्पत्तियों की संख्या बहुत अधिक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अद्यकालिक चिकित्सा-विज्ञान में मनुष्य की प्रकृति को समझकर उपचार नहीं किया जाता, अपितु व्याधि को ज्ञात करके उपचार होता है। किन्तु आयुर्वेद की संहिताओं में मानव की प्रकृति के अनुसार एवं बढ़े हुए दोष या क्षय दोषों को साम्य करने के लिए चिकित्सा की जाती है।

---

[783] *सु०सं०,* उ० 42/55

आयुर्वेद में पुरुष एवं स्त्री के शुक्र-आर्तव को शुद्ध करने के लिए भी औषधियों का वर्णन किया गया है, जिसकी उपयोगिता वर्तमान समय में अधिक है, क्योंकि पुरुष में शीघ्रपतन, नपुंसक एवं स्त्री में बांझ, अनार्तव आदि अनेक गुप्त रोग हो जाते हैं। इसका उपचार आयुर्वेदशास्त्र द्वारा सरलतया हो सकता है। अतः यदि आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में किया जाए तो आगामी वर्षों में इससे ऋतुचर्या, आहार-विहार द्वारा रोगी होने से पहले ही कारणों को समझकर शमन हो सकता है। आयुर्वेद की प्रयोगशाला, औषधालयों का निर्माण करना चाहिए एवं पंचकर्म थैरेपी या अन्य थैरेपी का प्रशिक्षण देना चाहिए।

इस शोधप्रबन्ध में सामान्य एवं विशिष्ट रोगों में कुछ रोग शेष रह गए हैं, जिन पर आगामी शोधार्थी शोधकार्य कर सकते हैं। शोधार्थिनी द्वारा कुछ विशेष सुझाव हैं, जो शोधार्थी कर सकते हैं-

- अस्पताल में जाकर वैद्य के साथ सामान्य या शल्य प्रसव की विधि को देखना एवं शल्ययन्त्रों का ज्ञान होना।
- अस्पताल की प्रयोगशाला एवं औषधालयों का निरीक्षण करना।
- एलोपैथिक दवाईयों का गर्भिणी पर दुष्प्रभाव ज्ञात करना।
- आयुर्वेदानुसार आहार-विहार, दिनचर्या का नियमित पालन/सेवन करने से सुखप्रसूति।

आयुर्वेदीय पारिभाषिक शब्दावली

अजीर्ण- भोजन का सम्यक् रूप से न पचना। (च०सू० 5/39)

अनुपान- अन्नादनु पश्चात् पीयत इत्यनुपानम् अर्थात् भोजन के पश्चात् पीया जाने वाला द्रव, जो मुख्य औषधी की क्रिया को बढ़ाने के लिए दिया जाता है। (च०सू० 46/419)

अनुवासन- 1. अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः। (ड०-सु०चि० 35/17), शरीर में रहने पर भी हानि न पहुँचाने वाली अथवा प्रतिदिन दी जा सकने वाली बस्ति, स्नेहबस्ति। 2. पारद का एक संस्कार जिससे पारद में अत्यधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, (रस रत्नाकर-पारद प्रकरण)।

अर्बुद- एक रोग (सु०नि० 11), अर्बुदं वर्तुलोन्नतम्। (चक्र०-च०शा० 4/10), गोलाकार उभरी हुई आकृति (गर्भावस्था के द्वितीय मास में गर्भ आकृति)।

अरुचि- अरुचिरत्र सत्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः अर्थात् भूख लगने पर भी भोजन करने की इच्छा न होना। (म०को०-मा०नि० 2/13)

अवलेह- क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेहः स्यात्तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता अर्थात् क्वाथ आदि को पुनः पकाकर उसको घन बनाकर जो कल्पना बनती है, वह रसक्रिया है, यही अवलेह होता है, इसकी मात्रा 'पल' है। (शा०सं०म०ख० 8/1)

अवपीडक- अवपीडको बहुमात्रः प्रयोगः, मात्राधिकत्वेन हि भेषजं दोषान् पीडयनीति कृत्वा अर्थात् अधिक मात्रा में औषधी का प्रयोग, बहुमात्रा में प्रयुक्त स्नेह औषध दोषों को पीड़ित करके दूर करती है। (चक्र०-च०सू० 7/7)

आढक- चतुःप्रस्थमाढकम्। (च०क० 12/94), मान का एक भेद, चार प्रस्थ के तुल्य।

आमगर्भ- आमगर्भः षण्मासं यावत्। (ड०-सु०उ० 42/13) अर्थात् अपरिपक्व गर्भ, प्रथम छः मास तक का गर्भ।

आर्तव- ऋतुकालजं शोणितम्। (ड०-सु०शा० 2/36), रजःस्राव।

ऋतुमती- गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धास्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितं गर्भाशयामृतुमतीमाचक्षते॥ (च०शा० 4/7), पुराने माह के संचित आर्तव के निकल जाने पर नूतन रज के गर्भाशय में स्थित होने पर स्त्री जब शुद्ध होकर स्नान कर लेती है, जिसकी योनि, शोणित एवं गर्भाशय विकार रहित हो, ऐसी स्त्री ऋतुमती कही जाती है।

कल्क- द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्। प्रक्षेपावापकल्कास्ते तन्मानं कर्षसंमितम् अर्थात् शुष्क द्रव्य में जल मिलाकर, उसको किसी शिला के ऊपर पीसकर निर्मित करना कल्क कहलाता है। (शा०सं०म० 5/1)

कलल- तथा प्रथमे मासि कललं जायते। (सु०शा० 3/18), कललं सिङ्घाण प्रख्यम्। (ड०-सु०शा० 3/18), प्रथमेमास्यव्यक्तलिङ्गः कललावस्थो गर्भो भवेत्। (अरु०-अ०हृ०शा० 1/49-1), प्रथम मास में गर्भ की संज्ञा, प्रथम मास में अव्यक्त लक्षणों वाला गर्भ।

किण्व- सुराबीजं च किण्वकम्। (शा०स०म० 10/6), सुरा निर्माण प्रक्रिया का वह मूलभाग, जो अधस्तल में स्थित होता है, इसको किण्व भी कहते हैं। किण्व का पर्याय सुराबीज है।

क्वाथ- पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णं द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम्। तज्जलं पाययेद् धीमान्कोष्णं साधितं श्रृतः क्वाथ कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते। अर्थात् एक पल द्रव्य में 16 गुणा पानी डालकर मंदाग्नि में पाक करें, आठवाँ भाग शेष रहने पर इसे उतार लें, तदुपरान्त इसे छानकर कुछ कोष्ण क्वाथ का सेवन करना चाहिए। इस परिपक्व जल का नाम श्रृत, क्वाथ, कषाय, निर्यूह है। (शा०सं०म० 2/12)

क्लेद- क्लिद् आर्द्रतायां शरीरस्थ द्रव, द्रव्यविशेषः, क्लेदः शैथिल्यमापादयति अर्थात् गीलापन, आर्द्रता। (वाच०-च०सू० 26/43-3, च०शा० 6/15)

कुक्षि- कुक्षीगते इति कुक्ष्येकदेशगतगर्भाशय गते अर्थात् गर्भाशय, उदर के निम्न भाग को कुक्षि कहते हैं। (चक्र०- च०शा० 4/5)

क्षीर- जीवनीयानाम्। (च०सू० 25/40), जीवनीय द्रव्यों में श्रेष्ठ, दुग्ध, वनस्पतियों से दुग्ध समान स्राव।

क्षीरपाक- द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात् तोयं चतुर्गुणम्, क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः। (चक्र०-ज्वरचि० 262), क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात्क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्, क्षीरावशेषं तत्पीतं शूलमामोद्भवं जयेत्। (शा०सं०म० 2/161), द्रव्य से आठ गुना अधिक दूध एवं दूध से चौगुना अधिक जल मिलाकर उसे पकाना चाहिए, पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रह जाए तो इसे क्षीरपाक कहते हैं।

गण्डूष- मुखे पूर्णे सति यः सञ्चारयितुमशक्यः स्यात् स गण्डूष उच्यते। (अरु०-अ०हृ०सू० 22/12), मुखरोगों में प्रयुक्त एक उपक्रम जिसमें द्रव, औषधद्रव, क्वाथादि को मुख में इतना भरा जाता है कि उसे चबाना सम्भव नहीं होता।

गर्भ- शुक्रशोणितजीवसंयोग तु खलु कुक्षिगते गर्भ संज्ञा भवति। (चक्र०-च०शा०4/5), शुक्र शोणित एवं जीव का संयोग जब कुक्षि में स्थापित होता है तो उसकी गर्भ संज्ञा होती है।

गर्भनिर्हरण- जीवति तु गर्भे सूतिका गर्भनिर्हरणे प्रयतेत्। (सु०चि० 15/5), गर्भ को बाहर निकालने का उपक्रम (मूढ़गर्भ के प्रसंग में)।

गर्भोदक- आविप्रादुर्भावादनन्तरं योनितोयद् उदकं वर्तते तत्। (अ०सं०शा० 3), गर्भाशय में गर्भ की रक्षा करने वाला द्रव।

जातहारिणी- सैषा वृद्धजीवक ! रेवती बहुरूपा जातहारिणी पिलिपिच्छकेति चोच्यते, रौद्रीति चौच्यते, वारुणीति चोच्यते। (का०सं०कल्प० 7), हे वृद्धजीवक ! इस प्रकार यह अनेक रूपों वाली तथा जातहारिणी (उत्पन्न हुए प्राणियों का हरण करने वाली) रेवती, पिलिपिच्छिका, रौद्री तथा वारुणी आदि नामों से कहलाती है, रेवती ग्रह का एक नाम।

तर्पण- तर्पयतीति तर्पणम् अर्थात् जो शरीर को तृप्त (प्रसन्न) करता है उसे तर्पण कहते हैं। (चक्र०-च०सू० 7/21)

त्रिफला- पथ्याविभीतकधात्रीनां फलैः स्यात्त्रिफला समः। फलत्रिकं च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता। (भा०प्र०पू०हरीतक्यादिवर्ग 42), हरीतकी, बिभीतक एवं आमलकी, इन तीनों को समभाग में लेने से त्रिफला कहा जाता है।

नस्य- औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। (सु०चि० 40/21), किसी औषध या औषधसिद्ध स्नेह को नासिकामार्ग से देने को नस्य कहते हैं।

निरूह- शरीरारोहणाद्दोषनिर्हरणादचिन्त्यप्रभावतया यस्मिन्नूहासम्भवान्निरूहः। (अ०सं०सू० 28/6), शरीर रोहण, दोषनिर्हरण, अचिन्त्यप्रभाव करने वाली बस्ति, निरूह बस्ति कहलाती है।

पथ्य- स्वस्थस्वास्थ्यरक्षणमातुरव्याधिपरिमोक्षश्चेति पन्थाः तस्मादनपेतं पथ्यम्। (चक्र०-च०सू० 25/45), स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर व्यक्ति को रोगों से मुक्त करना पथ है, इस पथ के लिए जो अनपेत् होता है वह पथ्य है।

पल- शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते। (शा०सं०प्र० 1/24), दो शुक्ति का एक पल होता है, मुष्टी, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी, बिल्व एवं पल, इसके पर्यावाची हैं।

पिण्ड- पिण्डो वर्तुलाकृतिः। (ड०-सु०शा० 3/18), गोलाकार, भ्रूण कालान्तर में पुरुष का लिङ्ग धारण करता है।

पेशी- पेशी दीर्घाकृतिः। (ड०-सु०शा०3/18), लम्बाकृति, भ्रूण अथवा गर्भावस्था के द्वितीय मास में पेशी के आकार का भ्रूण स्त्री का लिङ्ग धारण करता है।

प्रशम- प्रकर्षेण शमनम् अर्थात् सतत शान्ति। (च०सू० 17/114)

बस्ति- 1. बस्तिः मूत्राशयः। (चक्र०-च०शा० 7/10), पन्द्रह कोष्ठांगों में से एक, मूत्र का आधार, 2. प्राणायतन। (च०शा० 7/9), दश प्राणायतनों में से एक, 3. मूत्रवहानां स्रोतसां मूलम्। (च०वि० 5/8), मूत्रवह स्त्रोतस मूल, 4. एक मर्म। (सु०शा० 6/9-10), 5. एक प्रकार का यन्त्र जो गुद्द्वार से औषध देने हेतु प्रयुक्त होता है। 6. एक उपक्रम। पंचकर्मों में से एक, 7. व्रणों की चिकित्सा में प्रयुक्त एक उपक्रम।

बृंहण- धातुपुष्टिकरम्। (ड०-सु०सू० 45/112), धातुओं की पुष्टि करने वाला।

भक्ष्य- फलमांसवसाशाकपलक्षौद्रसंस्कृताः अर्थात् भोजन योग्य। (च०सू० 27/268)

मर्दन- उदितैरौषधैः सार्धं सर्वाम्लैः काञ्जिकैरपि। पेषणं मर्दनाख्यं स्याद्बहिर्मलविनाशनम्॥ (र०र०स० 8/63), मर्दनार्थ औषधियों, सर्वाम्ल पदार्थ अथवा कांजी के साथ पारद को घोटना मर्दन कहलाता है, इससे पारद का बाहरी मल नष्ट हो जाता है।

यवक्षार- पाक्यं क्षारो यवक्षारो यावशूको यवाग्रजः। (भा०प्र०पू० 1/255), जौ के पंचाग से प्राप्त होने वाला क्षार, इसके अन्य पर्याय हैं- पाक्य, क्षार, यावशूक एवं यवाग्रज।

यवागू- साधयेद् द्रवमिति यथा नातिसान्द्रा भवतीत्यर्थः। एषा यवागूः अर्थात् एक प्रकार का द्रव पदार्थ से निर्मित चावल युक्त भोज्य पदार्थ, जो अधिक गाढ़ा न हो। (ड-सु०उ० 40/92)

यूष- कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्षिकी, वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते अर्थात् एक पल कल्क द्रव्य, अर्ध कर्ष शुण्ठी, पिप्पली एवं एक प्रस्थ जल में बनाया गया द्रव, यूष कहलाता है। (शा०सं०म० 2/154)

रक्तमोक्षण- रक्तस्राव विधि। (च०सू० 7/15), शरीर से रक्त का निकलना।

लंघन- यत् किंचित् लाघवकरं देहे तत् लङ्घनं स्मृतम् अर्थात् जो शरीर में लघुता उत्पन्न करता है, उस उपक्रम को लङ्घन कहते हैं। (च०सू० 22/9)

लेह्य- कण्डूविद्रधि पालिशोष परिपोटोत्पातले ह्यार्बुदाः अर्थात् कर्णपाली रोग, परिलेही, कफ, रक्त के प्रकोप से कर्णपाली के मांस से चाटना और पाली का नष्ट हो जाना है। (र०र०स० 4/1)

लोमराजी- तथैव लोमराज्युभयतो मध्यभागता नातिघना प्रशस्यते। (का०सू० 28), जिस (योनि) के दोनों ओर बालों की पंक्तियाँ हों, मध्यम तथा जो अति घन न हो वह प्रशस्त मानी गई है।

वमन- यदूर्ध्व भागेन मुखेन दोषहरणं करोति अर्थात् चिकित्सा का वह प्रकार, जिसमें मुख से दोषों का हरण किया जाता है। (च०क० 1/4)

विदाही- द्रव्य स्वभावदथ गौरवाद् वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्, पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाही। (ड०-सु०सू० 45/158), जो द्रव्य स्वभाव से गौरव होने के कारण देर से पाक को प्राप्त होते हैं, वह पित्त का प्रकोप कर अन्न का विदाह उत्पन्न करते हैं, उन्हें विदाही कहते हैं।

विसूचिका- सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संनिष्ठते अनिलः। यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते। (मा०नि० 6/16), बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन् इति विसूचि निरुक्तिः। (विज०-मा०नि० 6/16), विविधैर्वेदना भेदैवायवादेर्भृशकोपनः। सूचीभिरिव गात्राणि भिन्नत्तीति विसूचिका॥ (विज०-मा०नि० 6/16), विसूचिका ऊर्ध्वमधश्चामान्नप्रवृत्तिः। (विज०-मा०नि० 4/7), (अजीर्ण के कारण), वायु के अधिक कोप के कारण शरीर में सूई चूभने जैसी विभिन्न प्रकार की वेदना युक्त रोग को विसूचिका कहते हैं, ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग से आम अन्न की प्रवृत्ति होना।

शीतवीर्य- शिशिरं पुनः ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः। (अ०हृ०सू० 9/19), जो आनन्दवर्धक, जीवनीय, स्तम्भन एवं रक्तपित्त का प्रसाद करता है, वह शीतवीर्य है।

शुक्र- सप्तधातुओं में से एक। (अ०हृ०सू० 1/3)

षष्टि- षष्टिकादयश्च ग्रैष्मिकाः। (चक्र०च०सू० 27/8), ग्रीष्म ऋतु में होने वाले धान्य।

सर्पि- स्नेहोत्तम, घी।

स्नेहन- स्नेहे शरीर स्नेहने कर्त्तव्ये। (च०सू० 13/17), जिस (कर्म) से शरीर में स्निग्धता उत्पन्न की जाए।

परिशिष्ट-सूची

परिशिष्ट-1	-	अष्टाङ्ग आयुर्वेद
परिशिष्ट-2	-	षोडश संस्कार
परिशिष्ट-3	-	प्राग्जन्म संस्कार
परिशिष्ट-4	-	गर्भ का मासानुमासिक विकास
परिशिष्ट-5	-	गर्भाशय की संरचना
परिशिष्ट-6	-	गर्भिणी का मासानुमासिक आहार
परिशिष्ट-7	-	मूढ़गर्भ (क)
परिशिष्ट-8	-	मूढ़गर्भ (ख)
परिशिष्ट-9	-	मूढ़गर्भ (ग)
परिशिष्ट-10	-	मूढ़गर्भ (घ)
परिशिष्ट-11	-	मूढ़गर्भ (ङ)
परिशिष्ट-12	-	मूढ़गर्भ (च)
परिशिष्ट-13	-	सुखप्रसूति
परिशिष्ट-14	-	शल्यचिकित्सा से प्रसव
परिशिष्ट-15	-	युग्म गर्भस्थ शिशु की अवस्था

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

प्राथमिक स्त्रोत (क) :-

अथर्ववेदसंहिता विधान, केशव देव शास्त्री एवं अजय कुमार मुद्गल, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1988

अथर्ववेद संहिता (भाग 1-2), पं० श्रीराम शर्मा, युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा, उत्तर प्रदेश, 2015

ऋग्वेद, जियालाल कम्बोज, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

ऋग्वेदभाष्य, हरिशरण सिद्धान्तालंकार, भगवती प्रकाशन, दिल्ली, 1997

यजुर्वेदभाष्य, हरिशरण सिद्धान्तालंकार, भगवती प्रकाशन, दिल्ली, 1998

यजुर्वेदसंहिता, सुरेन्द्र प्रताप (व्या०), नाग पब्लिकेशर्स, दिल्ली, 1990

सामवेदसंहिता, सत्यव्रत सामश्रमी (व्या०), मुंशीराम मनोहर लाल, दिल्ली, 1983

सामवेदभाष्यम्, हरिशरण सिद्धान्तालंकार, भगवती प्रकाशन, दिल्ली, 1999

प्राथमिक स्त्रोत (ख) :-

अष्टांगसंग्रहः, अत्रिदेव गुप्त (व्या०), कृष्ण अकादमी, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), वि०सं० 2050

अष्टांगसंग्रहम् (विद्योतनी टीका), अत्रिदेव गुप्त (व्या०), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), वि०सं० 2048

अष्टाङ्गहृदयम्, हरिशास्त्रिणा भिषगाचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), वि०सं० 2039

अष्टाङ्गहृदयम् (निर्मला हिन्दी व्याख्यासहित), ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015

अष्टांगहृदयसंहिता (शशिलेखा व्याख्या), इन्दु (व्या०), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), 2007

अष्टांगहृदयम् (सर्वांगसुन्दराख्यया व्याख्यया, आयुर्वेदरसायनाह्वया टीकया च), भिषगाचार्येण हरिशास्त्रिणा, निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये मुद्रापयित्वा, शक-1860

काश्यपसंहिता (विद्योतनी हिन्दी टीका सहित), सत्यपाल भिषगाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस (उत्तर प्रदेश), 1953

चरकसंहिता (आयुर्वेददीपिका), काशीनाथ शास्त्री (हि०व्या०), सं० गंगासहायपाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), वि०सं० 2027

चरकसंहिता (आयुर्वेददीपिका टीकाख्या), नरेन्द्रनाथ सेनगुप्तेन एवं बलाइचन्द्र सेनगुप्त, कलिकातानगर्य्यां, कलुटोलभ्यन्तरीणसप्ततिसंख्यकभवनस्थधन्वन्तरि, इलेक्ट्रिक-मेशिनयन्त्रे श्रीरंगलालमित्रेण मुद्रिता, शक- 1850

चक्रदत्तः, चक्रपाणि, कृष्णदास गंगाविष्णु, मालिक 'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' स्टीम-प्रेस, कल्याण बम्बई, सं० 1998

चरकसंहिता (दो भाग), विद्याधर शुक्ल एवं रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015

भावप्रकाशः (विद्योतनी टीका सहित), ब्रह्मशंकरमिश्र शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, वि०सं० 2073

बालतन्त्रम्, अभय कात्यायन (हि०टी०), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 2012

भैषज्यरत्नावली (विद्योतिनी टीका), गोविन्द दास, अम्बिकादत्तशास्त्री (व्या०), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1997

माधवनिदानम्, सुदर्शन शास्त्री (व्या०), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि०सं० 2041

माधवनिदानम्, अनन्तराम शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2007

माधवनिदानम् (रोगविनिश्चयापरनामकम्), सुषमा कुलश्रेष्ठ (व्या०), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2004

माधवनिदानम् (मधुकोश), विजय रक्षित (व्या०) एवं श्रीकान्तदत्त, नरेन्द्रनाथ शास्त्री (व्या०), मोतीलाल बनारसीदास, 1971

रसेन्द्रसारसंग्रहः (सत्यार्थप्रकाशिका टीका सहित), सत्यार्थ प्रकाश (व्या०), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1992

रसरत्नसमुच्चयः, अम्बिकादत्त शास्त्री (व्या०), चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1961

शाङ्गर्धरसंहिता (दीपिका तथा गूढार्थदीपिका टीका सम्मिलित), परशुराम शास्त्री विद्यासागर (सं०), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि०सं० 2042

शाङ्गर्धरसंहिता, ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (व्या०), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2015

सुश्रुतसंहिता, अत्रिदेव (अनु०), मोतीलाल बनारसी दास, 1975

सुश्रुतसंहिता (सुश्रुतविमर्शनी हिन्दीव्याख्या) (तीन भाग), अनन्तराम शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017

सुश्रुतसंहिता शारीर स्थान आयुर्वेदरहस्य दीपिकाख्या, गोविन्द घाणोकर (व्या०), मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1975

सुश्रुतसंहिता (निबन्धसंग्रहटीका), आचार्य जादव त्रिकुम, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915

हारीत संहिता, जयमीनी पाण्डेय, चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2016

द्वितीयक स्त्रोत (क) :-

आयुर्वेद मुक्तावली, अरावली प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, प्रा०लि० ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली, 2015

'अचल', अयोध्या प्रसाद, *अभिनव प्रसूति-विज्ञान,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

'अचल', अयोध्या प्रसाद, *अभिनव स्त्रीरोग-विज्ञान,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 2017

'अचल', अयोध्या प्रसाद, *कौमारभृत्य,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 2017

उपाध्याय, गोविन्द प्रसाद, *रोग-रोगी परीक्षा पद्धति*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2008

कस्तुरे, हरिदास श्रीधरे, *आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान*, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, नैनी, इलाहाबाद, 2014

कुलकर्णी, राजश्री एवं अभय कुलकर्णी, *आयुर्वेदीय गर्भ संस्कार*, डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2016

गौड, शिवकुमार, *अभिनवशरीर क्रिया विज्ञान*, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक।

गौड, बनवारी लाल, *आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान*, आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान, जयपुर, 1985

गौड, शिवकुमार, *स्वस्थवृत्तम्*, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक।

चौहान, जहानसिंह, *स्त्री-रोग-चिकित्सा* (आयुर्वेदीय चिकित्सा सहित), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017

तिवारी, प्रेमवती, *आयुर्वेदीय प्रसूतितन्त्र एवं स्त्रीरोग* (भाग 1-2), चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 2017

तिवारी, प्रेमवती, *प्रसूतितन्त्र*, चौखम्भा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2002

देव, अत्रि, *चरकसंहिता का अनुशीलन*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1955

द्विवेदी, मंजरी, *प्रसूतितन्त्र*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 2013

पाण्डेय, राजबली, *हिन्दू संस्कार,* चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, 2014

भारद्वाज, शीतांशु, *रोग और उपचार*, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

मिश्र, देवेन्द्रनाथ, *कौमारभृत्य*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016

जैन, पूर्णचन्द एवं प्रमोद मालवीय, *आयुर्वेदीय क्रियाशरीर*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016

मिश्र, सुरेश नाथ, *आयुर्वेद की पेटेन्ट औषधियाँ*, कृष्ण दास अकादमी, वाराणसी, 1999

मिश्र, तारा शंकर (व्या०), *स्वास्थ्यवृत्तसमुच्चय*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1985

राय, हेमन्त कुमार, *आयुर्वेद परिचय*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 2004

विश्वकर्मा, हीरालाल एवं उपेन्द्रनाथ द्विवेदी, विश्वनाथ द्विवेदी, *अथर्व-चिकित्सा-विज्ञान*, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, 1984

शर्मा, प्रियव्रत, *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास*, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2003

शर्मा, अजयकुमार, *कायचिकित्सा* (1-4), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 2011

शर्मा, सुशीला एवं वर्षा सिंह, *अभिनव स्त्री रोग विज्ञान*, आयुर्वेद संस्कृत हिन्दी पुस्तक भण्डार, जयपुर, 2016

शाह, नगीनदास छगनलाल, *भारत-भैषज्य-रत्नाकरः* (1-4 भाग), आयुर्वैदिक फार्मेसी, ऊंझा, 1934

शास्त्री, पं० रामगोपाल, *वेदों में आयुर्वेद*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2003

सिंह, रामहर्ष, *आयुर्वेदीयनिदान चिकित्सा के सिद्धान्त*, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1983

सिंह, रामहर्ष, *कायचिकित्सा*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009

सिंह, रामहर्ष, *स्वस्थवृत्त विज्ञान*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2015

सिंह, रामहर्ष, *योग एवं यौगिक चिकित्सा*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2014

राय, हेमन्त कुमार, *आयुर्वेद परिचय*, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2004

विद्यामार्तण्ड, ब्रह्ममुनि परिव्राजक, *अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र*, श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन शहर, राजस्थान, 2015

वैद्य, सी०वी०, *वैदिक वाङ्गमय का इतिहास*, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर, नई दिल्ली, 2004

व्यास, कनक प्रसाद, *आयुर्वेदीय स्त्री रोग वैकारिकी एवं व्यावहारिक चिकित्सा*, लक्ष्मी प्रकाशन, जयपुर, 1993

द्वितीयक स्त्रोत (ख) :-

मत्स्यपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2008

महाभारत, शास्त्री, रामनारायण दत्त, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 1980

मनुस्मृति, कुमार, सुरेन्द्र, साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2000

हरिवंशपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2006

ब्रह्मवैवर्तपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2012

वेदान्तसार, सदानन्द योगी, पं० रामस्वरूप, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालये मुद्रयित्वा, सं० 1957

शब्दकोश एवं विश्वकोश :-

अमरकोशः, सिंह, अमर, *निर्णयसागर* प्रेस, बम्बई, 1961

अंग्रेजी-हिन्दी कोश, बुल्के, कामिल, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली, 2004

आयुर्वेदीय महाकोशः, जोशी, वेणीमाधवशास्त्री एवं नारायण हरि जोशी, लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1968

आयुर्वेदीय-कोष, वैद्य, बाबू रामजीत सिंह एवं बाबू दलजीत सिंह वैद्य, हरिहर प्रेस, इटावा, उत्तरप्रदेश, 1934

आयुर्वेद परिभाषा कोश, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली, 2016

मेदिनीकोशः, मेदिनिकरनिर्मितः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, 1940

शब्दकल्पद्रुम (पाँच भाग), बाच्छादुरेण, राजा राधाकान्तदेव, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2004

संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002

पुस्तकालय :-

भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर पुस्तकालय, जनेवि०, नई दिल्ली।

केन्द्रीय पुस्तकालय, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जनेवि०, नई दिल्ली।

केन्द्रीय पुस्तकालय, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

केन्द्रीय पुस्तकालय, राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

सयाजी राव गायकवाड़ पुस्तकालय, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, बनारस, उत्तर प्रदेश।

केन्द्रीय पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस, उत्तर प्रदेश।

जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, हरियाणा।

विवेकानन्द पुस्तकालय, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा।

ए०सी०जोशी पुस्तकालय, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।